ईसाई दर्शन
योहन फाइस
राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर

ईसाई दर्शन : इतिहास और सिद्धांत

ईसाई दर्शन : इतिहास और सिद्धांत

लेखक
योहन फ़ाइस

राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी
जयपुर
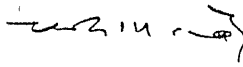
प्राक्कथन

विश्व विभिन्न भाषाओं तथा संस्कृतियों का रंगस्थल है। यह रंग-बिरंगे फूलों का उपवन है। विविधता ही इसका सौंदर्य है। भाषाएँ और संस्कृतियां प्रदेश विशेष के भूगोल तथा इतिहास की देन हैं। एक देश या प्रदेश की जलवायु से ही मनुष्य का शरीर और मानस बनता है, उसका रहन-सहन भाषा-बोली भी जलवायु से प्रभावित होती है। फिर अनेक वर्षों से एक विशिष्ट प्रकार की संस्कृति चलती है, अतः इतिहास का भी बड़ा महत्त्व है। दूसरी ओर मातृ-भाषा जीवन की एक स्वाभाविक प्रक्रिया है, जिसके माध्यम से संस्कृति और इतिहास की परम्परा प्रवाहमान होती है। इसके अतिरिक्त मातृ-भाषा में ही मनुष्य का व्यक्तिगत सर्वांग रूप से भिखरता है। अतः सर्वत्र यह स्वीकार किया गया है कि मनुष्य की सारी शिक्षा-दीक्षा, सर्वोच्च स्तर तक उसकी मातृ-भाषा के माध्यम से ही होनी चाहिए।

इसके अतिरिक्त विश्व का समस्त ज्ञान अनेक भाषाओं में संगृहीत है और सभी लोग समस्त ज्ञान की प्राप्ति के लिए अनेक भाषाओं का अध्ययन नहीं कर सकते हैं। ऐसा करने से वे केवल भाषा-विज्ञ ही रह जायेंगे, न कि विषय-विज्ञ। भाषा तो एक साधन मात्र है। अतः यह आवश्यक है कि सभी भाषाओं में लिपिबद्ध ज्ञान सबको शीघ्रता एवं सुलभता से अपनी भाषा में ही उपलब्ध हो अर्थात् ज्ञान के आदान-प्रदान का माध्यम मातृ-भाषा हो।

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात् जब इस दिशा में केन्द्र सरकार के शिक्षा-मंत्रालय ने कार्य करने का विचार किया तो यह तथ्य सामने आया कि माध्यम परिवर्तन के मार्ग में बहुत बड़ा अवरोध है—सम्बद्ध भाषाओं में विभिन्न विषयों के मानक ग्रन्थों का अभाव, जिसे यथाशीघ्र पूरा किया जाना चाहिए। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए भिन्न-भिन्न राज्यों में अकादमियों, बोर्डों की स्थापना की गयी। राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी इसी योजना के अन्तर्गत पिछले दस वर्ष से मानक ग्रन्थों के प्रकाशन का कार्य कर रही है और अब तक इसने विभिन्न विषयों (कला, वाणिज्य, विज्ञान, कृषि आदि) के लगभग 275 ग्रन्थ प्रकाशित किये हैं जो विश्वविद्यालय के वरिष्ठ अध्यापकों द्वारा लिखे गये हैं।

प्रस्तुत पुस्तक 'ईसाई दर्शन : इतिहास और सिद्धान्त' का प्रकाशन एक अभिनव प्रयोग है । पुस्तक दर्शनशास्त्र के स्नातकोत्तर छात्रों के लिए तो उपयोगी सिद्ध होगी ही, सम्भव है कि धर्मदर्शन में रुचि रखने वाले प्रत्येक हिन्दी भाषी पाठक को आकृष्ट करे । अधिकारी विद्वान् द्वारा ईसाई दर्शन के सब पक्षों का प्रामाणिक विवेचन यहाँ उपलब्ध है । ईसाई धर्म यहूदी धर्म से उत्पन्न तथा दार्शनिक दृष्टि से यूनानी दर्शन से पर्याप्त मात्रा में प्रभावित हुआ । इस पुस्तक में ईसाई धर्म के मूल तत्त्वों का वर्णन तो किया ही गया है किन्तु साथ ही इसके दार्शनिक पक्ष को अधिक महत्त्व दिया गया है । हमारा विश्वास है कि इसके अध्ययन से भारत के प्रमुख धर्मों की दार्शनिक धारणाओं को सहिष्णु व तुलनात्मक दृष्टि से देखने की प्रवृत्ति विकसित होगी, जो भावात्मक एकता हेतु वांछनीय है ।

(चन्दनमल बैद)
शिक्षा मन्त्री राजस्थान सरकार
एवं
अध्यक्ष, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी,
जयपुर

(डॉ० पुरुषोत्तम नागर)
निदेशक
राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी
जयपुर

प्रस्तावना

प्रस्तुत पुस्तक का विषय है "ईसाई दर्शन"। स्पष्ट रूप से निर्धारित होते हुए भी बात वास्तव में द्व्यर्थक और विरोधाभासी भी दिखाई पड़ती है। एक ओर दर्शन से तात्पर्य दर्शनशास्त्र, अर्थात् बौद्धिक विवेचन है। दूसरी ओर 'ईसाई' शब्द से संयोजित होने के कारण ऐसा लगता है कि प्रस्तुत संदर्भ में प्रयुक्त 'दर्शन' का प्रत्यय धर्म की ओर संकेत करता है। अब धर्मशास्त्र दर्शनशास्त्र के विरोधी प्रतीत होता है जबकि पूर्वोक्त धर्मग्रंथों का शब्द-प्रमाण स्वीकार करता है, उत्तरोक्त बुद्धि की प्रामाणिकता ही मानता है। वास्तव में 'ईसाई' शब्द को छोड़कर भी एकमात्र 'दर्शन' शब्द में ही उपर्युक्त द्व्यर्थकता निहित है। कम-से-कम परम्परागत अर्थ के अनुसार दर्शन बौद्धिक विवेचन मात्र तक सीमित नहीं है, वरन् उसका उद्देश्य मुक्ति की प्राप्ति ही है। अतः उस दृष्टि से दर्शन साधना और सिद्धि से भी सम्बन्ध रखता है। परम्परागत प्रयोग की उस द्व्यर्थकता से दूर रहने के लिए आधुनिक शब्दावली में बुद्धि और सिद्धि के अनुसार क्रमशः दर्शन और धर्म का प्रभेद किया जाता है।

फलतः जब मुझे 'ईसाई दर्शन' के विषय में पुस्तक लिखने का निमन्त्रण मिला, तो प्रश्न यह उठा कि शुद्ध दार्शनिक या धार्मिक, किस पहलू पर बल देना चाहिए। ईसाई विचारधारा में औरों से अधिक तीक्ष्ण कठिनाई इसलिए प्रतीत होती है, कि दर्शनशास्त्र धर्मशास्त्र से स्वतन्त्र होने पर भी उससे अविच्छेद्य सम्बन्ध रखता है। ईसाई दर्शन की यह विशेष स्थिति ऐतिहासिक विकास के फलस्वरूप उत्पन्न हुई है। युग की प्रारम्भिक शताब्दियों में धर्मशास्त्र का निर्माण करने के लिए पूर्वाचार्य यूनानी दर्शनशास्त्र को अपनाने लगे। गैर-ईसाई होने के अतिरिक्त, यूनानी दर्शन की विशेषता यह है कि उसका दृष्टिकोण और प्रणाली पूर्ण रूप से बौद्धिक ही हैं, धार्मिक नहीं। अब, ईसाई धर्मशास्त्र यदि यूनानी दर्शनशास्त्र को अंगीकार कर सका, तो वह स्वयं बुद्धि-विरोधी नहीं, बल्कि बुद्धि के अनुकूल प्रतीत होता है। बाद में, ईसाई विचारधारा के स्वाभाविक विकास के फलस्वरूप धर्मशास्त्र और दर्शनशास्त्र का प्रभेद क्रमशः बढ़ने लगा, जब तक कि 13वीं शताब्दी में उन दोनों का पृथक्करण न हुआ (देखें : अध्याय 3, प्रकरण 3)। इसके परिणामस्वरूप

एक ऐसे दर्शन की स्थापना हुई जो ईसाई और दार्शनिक दोनों ही है। अतः ईसाई धर्म और दर्शनशास्त्र एक दूसरे पर अपना प्रभाव डालने पर भी एक दूसरे से भिन्न और स्वतन्त्र भी हैं।

जिस ईसाई दर्शन का इस पुस्तक में प्रतिपादन किया गया है, वह सही अर्थों में दर्शन, अतः धर्मशास्त्र से पृथक् है। साथ ही उत्पत्ति और परवर्ती विकास की दृष्टि से वह ईसाई भी होगा, जैसे पहले भाग में प्रस्तुत ऐतिहासिक विवरण से स्पष्ट है। वास्तव में ईसाई दर्शन का प्रारम्भ ईसाई धर्म की स्थापना के पूर्व ही हुआ; कारण, ईसाई धर्म स्वयं ही यहूदी धर्म से उत्पन्न हुआ। तदनुसार पहले अध्याय में बाइबिल के पूर्वार्द्ध का उल्लेख किया गया है, जिसे यहूदी और ईसाई धर्म में भी प्रामाणिक माना जाता है। अध्याय के पहले प्रकरण में परमेश्वर, मानव और सृष्टि, इन मूलभूत प्रत्ययों का अर्थ बाइबिल-पूर्वार्द्ध की दृष्टि से निर्धारित किया गया है। लेकिन बाइबिल की अधिकांश रचनाएं दार्शनिक नहीं, ऐतिहासिक ही हैं; अर्थात् वे भिन्न-भिन्न ऐतिहासिक परिस्थितियों में यहूदी जाति का धार्मिक अनुभव वर्णित करती हैं। अतः दूसरे प्रकरण में हमें ईश-प्रजा का निर्वाचन, उसका परमेश्वर से सम्बन्ध और व्यवहार, इस प्रकार के तथ्यों का धार्मिक अभिप्राय स्पष्ट किया है। तीसरे प्रकरण में ईश-प्रजा के धार्मिक अनुभव में निहित मुक्ति की धारणा प्रतिपादित की गई है। अब जो दर्शन बाइबिल के पूर्वार्द्ध में प्रस्तुत किया गया था, बाद में उसका विकास ईसाइयों के अपने धर्मग्रंथ, अर्थात् बाइबिल के उत्तरार्द्ध, में किया गया। लेकिन पूर्वार्द्ध के सदृश उत्तरार्द्ध का दर्शन भी दार्शनिक चिंतन मात्र से नहीं, वरन् उस धार्मिक अनुभव से उत्पन्न हुआ जिसका मूलस्रोत आदि–चेलों का ईसा मसीह से साक्षात्कार था। चूंकि ईसा मसीह ने अपने को पुत्रेश्वर कहा था; अतः उस साक्ष्य के आधार पर उत्तरार्द्ध में पूर्वार्द्ध से प्राप्त एकमात्र परमेश्वर की धारणा का परिवर्तन हुआ, जिसका परिणाम ईसाई धर्म का विशेष 'त्रियेक परमेश्वर' का सिद्धांत है (अध्याय 2, प्रकरण 9)। फिर, ईसा मसीह के जीवन और मृत्यु पर गम्भीर चिंतन करने से उत्तरार्द्ध के लेखकों ने मुक्तिकार्य के प्रत्यय पर भी नया प्रकाश डाला (II, 2)। अंत में आदि–चेलो का यह दृढ़ विश्वास था कि ईसा मसीह ने ईसाई धर्म या 'कलीसिया' की स्थापना करने से ईश-राज्य को उद्घाटित किया (II, 3)।

ईसाई दर्शन यद्यपि बाइबिल-ग्रंथ पर आधारित है, लेकिन उसकी स्थापना परवर्ती युग में ही हुई। जैसा ऊपर कहा गया है, प्रारम्भिक ईसाई विचारकों ने अपने धर्म और यूनानी दर्शन का समन्वय करने का प्रयत्न किया (III, 9)। गैर-ईसाई दर्शनशास्त्र की सहायता से उन्होंने ईसाई धर्म के मूलभूत प्रत्ययों का बौद्धिक स्पष्टीकरण किया। उसी आधार पर त्रियेक परमेश्वर और ईश-मानव के मूल

धर्म सिद्धांतों का भी बौद्धिक प्रतिपादन किया गया (III, 2)। अब, उल्लेखनीय बात है कि उस धर्मशास्त्र के संदर्भ में से स्वयं दर्शनशास्त्र का भी पुनर्जन्म हुआ। 'पुनर्जन्म' इस अर्थ में कि परवर्ती ईसाई दर्शन यूनानी दर्शन का विकास मात्र नहीं, बल्कि ईसाई धर्म के आधार पर एक मौलिक दर्शन ही है। इसके अतिरिक्त ईसाई धर्म से प्रभावित होने पर भी ईसाई दर्शनशास्त्र बौद्धिक दृष्टिकोण को अपनाकर धर्मशास्त्र से पृथक् जान पड़ता है (III, 3)। ईसाई दर्शन के सभी मध्यकालीन प्रतिनिधि तथाकथित 'स्कोलावाद' में सम्मिलित किये जा सकते हैं। 'स्कोलावाद' की उत्पत्ति, स्वर्ण-युग और अवनति का उल्लेख क्रमशः चौथे अध्याय के तीन प्रकरणों में किया गया है। 19वीं और 20वीं शताब्दी में 'नव-थोमसवाद' के निर्माण से परम्परागत स्कोलावाद का नवीकरण हुआ। साथ ही, आधुनिक और समकालीन दर्शनों के प्रभाव से ईसाई दर्शन में नयी विचारधाराएं भी उत्पन्न हुईं (V, 2)। वास्तव में उन आधुनिक पाश्चात्य दार्शनिकों पर भी ईसाई दर्शन का बहुत प्रभाव पड़ा, जिन्हें विशेष रूप से 'ईसाई' नहीं कहा जाता है (V, 9)। अंत में (V, 3) यह प्रश्न उठता है कि 'ईसाई दर्शन' से तात्पर्य क्या है? उत्तर स्पष्ट ही है: प्रणाली की दृष्टि से बौद्धिक होकर वह दर्शन है; ईसाई धर्म के संदर्भ में से उत्पन्न होकर वह ईसाई भी है। अतः 'ईसाई दर्शन' कोई द्व्यर्थक प्रत्यय नहीं जान पडता है।

ऐतिहासिक विकास के विवरण के बाद पुस्तक के दूसरे भाग में ईसाई दर्शन का सैद्धांतिक प्रतिपादन दिया गया है। उसके चार अध्यायों में क्रमशः मानव-दर्शन (VI), ईश-दर्शन (VII), नीति-शास्त्र (VIII) और धर्म-दर्शन (IX) की रूपरेखा प्रस्तुत की गई है। उस भाग की रचना के सम्बन्ध में हमें निम्नलिखित दो मुख्य समस्याओं का सामना करना पड़ा। पहली यह कि ईसाई दर्शन की विविध शाखाओं में से किस दर्शन विशेष के अनुसार हम मूलभूत सिद्धांतों का निरूपण करें? कारण, दर्शन-इतिहास से यह दिखाई पड़ता है कि ईसाई परम्परा में एक से अधिक विचारधाराएं प्रचलित हैं। इस उद्देश्य से कि प्रस्तुत दर्शन परम्परागत और आधुनिक भी हो, हमने समकालीन नव-थोमसवाद के उन प्रतिनिधियों का अनुसरण किया है जो समीक्षात्मक प्रणाली अपनाते हैं (देखें अध्याय V, प्रकरण 2, घ)। दूसरी समस्या यह थी कि प्रस्तुत सिद्धांतों को दार्शनिक होने के अतिरिक्त ईसाई दर्शन के अनुरूप भी होना चाहिए। ईसाई दर्शन का विशेष दृष्टिकोण मुख्यतः इससे स्पष्ट होगा कि हमारे अन्वेषण में किन-किन विषयों पर अधिक बल दिया जाता है। फिर, प्रणाली बौद्धिक होने पर भी, ईसाई धर्म के प्रभाव के अभाव में समस्याओं का प्रस्तुत समाधान शायद प्राप्त नहीं किया जा सकता। तदनुसार मानव-दर्शन के संदर्भ में मानव के व्यक्तित्व पर

इसलिए अधिक ध्यान दिया गया है, कि ईसाई दर्शन के अनुसार मानव को परमेश्वर का प्रतिरूप सृष्ट किया गया है, जबकि परमेश्वर को स्वयं ही वैयक्तिक स्वभाव का माना जाता है। अमरता के संदर्भ में भी ईसाई धर्म से प्राप्त पुनरुत्थान और एकमात्र मृत्यु की धारणाओं का प्रभाव काफी स्पष्ट है। ईश-दर्शन में सृष्टिवाद का विस्तार से प्रतिपादन किया गया है। वैयक्तिक परमेश्वर की धारणा को समझाने के बाद दार्शनिक एकेश्वरवाद का त्रियेक का परमेश्वर के धर्मसिद्धांत से सामंजस्य स्थापित किया गया है। नीतिशास्त्र केवल उपर्युक्त मानव और ईश-दर्शन पर ही आधारित नहीं है; उसमें प्रस्तुत व्यावहारिक समस्याओं का समाधान स्पष्टतया ईसाई दृष्टि से प्रभावित है, विशेषकर इसलिए कि अन्य सद्गुणों की अपेक्षा प्रेम को ही प्रधानता दी गई है।

दर्शनशास्त्र की उपर्युक्त शाखाओं की तुलना में धर्म-दर्शन की समस्या और जटिल जान पड़ती है। धर्म से संबद्ध होते हुए भी धर्म-दर्शन को धर्मशास्त्र से भिन्न होना चाहिए; साथ ही, दार्शनिक होने पर भी ईसाई धर्मदर्शन का धर्म-विशेष से सम्बन्ध रखना अनिवार्य है। इसके अतिरिक्त विषय की व्यापकता के कारण हमें औरों को छोड़कर ईसाई धर्म के एक मुख्य पक्ष पर ही ध्यान देना पड़ा। हमने 'कलीसिया' अर्थात् ईसाई समुदाय का विषय इसलिए चुन लिया है, कि वह ईसाई धर्म का प्रत्यक्ष स्वरूप है और वह उसके भिन्न-भिन्न पहलुओं का सारांश भी प्रतीत होता है। अंतिम अध्याय के तीन प्रकरणों में क्रमशः 'कलीसिया' का स्वभाव, उसका अन्य धर्मों से सम्बन्ध और उसकी साधना एवं रहस्यवाद प्रस्तुत किया गया है। धर्म और दर्शन के उपर्युक्त उभयसंकट से हम किस प्रकार बच सकते हैं, उसे इस संदर्भ में प्रयुक्त 'प्रामाणिकता' शब्द का सही अर्थ स्पष्ट कर सकता है। ईसाई धर्मसिद्धांतों का प्रस्तुत विवरण इसलिए प्रामाणिक माना जा सकता है, क्योंकि ईसाई उन्हें बाइबिल शब्द-प्रमाण के बल पर स्वीकार करते हैं। शब्द-प्रमाण के अभाव में भी उक्त सिद्धांत दूसरों के लिए इस अर्थ में 'प्रामाणिक' होंगे कि उनमें ईसाई धर्म की सही अभिव्यक्ति उपलब्ध है, वे वास्तव में 'सत्य' हों या न हों। बाइबिल को शब्द-प्रमाण के रूप में न अपनाकर यहां प्रस्तुत धर्मदर्शन धर्मशास्त्र से भिन्न है; ईसाई दृष्टि से प्रामाणिक धर्म-सिद्धांतों को उनके सही अर्थ में प्रतिपादित करने से वह ईसाई भी है। इसके अतिरिक्त हमने प्रस्तुत सिद्धांतों की किसी 'निरपेक्ष' दृष्टि से आलोचना करने का प्रयत्न नहीं किया है। कारण, हेगल के विपरीत हमारी धारणा यह है कि दर्शन को धर्म की अपेक्षा प्रधानता प्राप्त नहीं है। धार्मिक सत्य का मानदंड बौद्धिक विवेचन मात्र नहीं है। बुद्धि के अतिरिक्त कुछ और है।

प्रश्न पूछा जा सकता है : क्या प्रस्तुत धर्मदर्शन कलीसिया मात्र तक सीमित

होने के कारण ईसाई धर्म का संतोषजनक प्रतिपादन करता है ? वास्तव में पुस्तक के भिन्न-भिन्न अध्यायों में ईसाई धर्मसिद्धांतों का संक्षिप्त लेकिन काफी कुछ विवरण दिया गया है । पहले और दूसरे अध्याय में बाइबिल में प्रयुक्त मुख्य धारणाओं की व्याख्या मिलती है । तीसरे अध्याय में त्र्येक परमेश्वर और ईश-मानव सम्बन्धी मूलभूत धर्म-सिद्धांतों का ऐतिहासिक और सैद्धांतिक विवेचन किया गया है। छठे, सातवें और आठवें अध्यायों में प्रस्तुत ईसाई दर्शन से यह दिखाई पड़ता है कि ईसाई धर्म शुद्ध बौद्धिक दृष्टि से असंगत नहीं है । अतः यह कहा जा सकता है कि सैद्धांतिक दृष्टि से ईसाई दर्शन का निरूपण बहुत कुछ पूर्ण है, किन्तु इसके विपरीत ऐतिहासिक दृष्टि से हमें यह स्वीकार करना है कि वह अपूर्ण है । 13वीं शताब्दी मे धर्म और दर्शनशास्त्र के पृथक्करण के फलस्वरूप चौथे और पांचवें अध्यायों में प्रस्तुत ऐतिहासिक विकास का वर्णन धर्मशास्त्र का कोई उल्लेख नहीं करता है । वास्तव में पूर्वाचार्यों के समान मध्यकालीन आचार्यों ने धर्मशास्त्र के प्रसंग में ही अपने दर्शन का निर्माण किया । समकालीन युग में भी ईसाई धर्मशास्त्र मे बहुत प्रगति हुई । धर्मशास्त्र-इतिहास के अभाव के अतिरिक्त ईसाई दर्शन का हमारा प्रतिपादन इसलिए भी अपूर्ण है, क्योंकि उसमें आध्यात्मिक और रहस्यात्मक लेखकों और रचनाओं का कोई उल्लेख नहीं किया गया है। फिर, भी अंतिम अध्याय के तीसरे प्रकरण में ईसाई रहस्यवाद का दार्शनिक दृष्टि से विश्लेषण किया गया है । रहस्यबाद तो किसी भी दर्शन का मर्म ही है ।

अतः प्रस्तुत लेख को समाप्त करते हुए मुझे ऐसा लगता है कि उपर्युक्त कमी पूरी करने के लिए मुझे बाद में एक और पुस्तक लिखनी चाहिए । फिलहाल, मैं प्रस्तुत पुस्तक की रचना करने के निमन्त्रण के लिए "राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी" का आभारी हूँ। साथ ही, डॉ० फ्रुक्स, एस० वी० डी०, निदेशक "इंस्टिट्यूट ऑफ इंडियन कल्चर" (अंधेरी–पूर्व, बंबई) और रेव० फा० एफ० फोंसेका, प्रिंसिपल "संत पायस कॉलेज" (गोरेगांव–पूर्व, बंबई का भी आभारी हूं, जिनके यहाँ मुझे पुस्तक लिखने की सुविधा मिली । संत अलबर्ट कॉलेज, रांची, के पदाधिकारियों के प्रति भी कृतज्ञ हूं, जिन्होंने मुझे काम पूरा करने का अनिवार्य अवकाश दिया । अंत में, मैं उन सभी को धन्यवाद देना चाहता हूं जिन्होंने भिन्न-भिन्न रूप में, और विशेषकर भाषा-सुधार के लिए, मेरी सहायता की है ।

—योहन फ़ाइस, एस० जे०

संत अलबर्ट कॉलेज,
रांची ।
जनवरी, 1982

विषय-सूची

अध्याय 1

बाइबिल पूर्वार्द्ध की मुख्य धारणाएं

भूमिका

बाइबिल पूर्वार्द्ध क्या है ?

ईसाइयों का धर्मग्रंथ बाइबिल [शाब्दिक अर्थ 'पुस्तक'] दो भागों में विभक्त है—पूर्वार्द्ध तथा उत्तरार्द्ध। अंग्रेजी में इन्हें 'ओल्डटेस्टामेन्ट' व 'न्यू टेस्टामेन्ट' कहते हैं।

उत्तरार्द्ध सम्पूर्ण बाइबिल का केवल एक चौथाई है। पूर्वार्द्ध में 56 तथा उत्तरार्द्ध में 27 ग्रंथ शामिल हैं। यहूदी केवल पूर्वार्द्ध को धर्मग्रंथ मानते हैं, किन्तु ईसाई पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध दोनों को ही स्वीकार करते हैं। ईसाइयों के दृष्टिकोण से पूर्वार्द्ध उत्तरार्द्ध के बिना अपूर्ण है या उत्तरार्द्ध पूर्वार्द्ध का सम्पूरक है। इसी दृष्टिकोण को हमने पूर्वार्द्ध के प्रस्तुत प्रतिपादन में अपनाया है। उत्तरार्द्ध के ग्रंथों की रचना पहली शताब्दी में हुई। पूर्वार्द्ध का सबसे पुराना ग्रंथ शायद आमोस नबी का है (8 वीं शताब्दी ई. पू.), सबसे अर्वाचीन प्रज्ञा ग्रंथ है जिसकी रचना 50 ई. पूर्व के आसपास हुई। बाइबिल में ग्रंथों का क्रम उनकी रचना के अनुसार नहीं है। साहित्यिक दृष्टि से पूर्वार्द्ध के ग्रंथ तीन वर्गों में विभाजित हैं—ऐतिहासिक "प्रज्ञा" के और नबियों के ग्रंथ। लेखकों में सबसे प्रसिद्ध मूसा नबी (13 वीं सदी ई. पू.) दाऊद राजा (1000 ई. पू. के आसपास), और इसायस (8 वीं सदी ई. पू.) हैं। इससे स्पष्ट है कि अनेक ग्रंथों के अंश पूर्वोक्त आमसोस के ग्रंथ में भी प्राचीन हैं। ज्ञात लेखकों के अलावा ग्रंथों की रचना पर भिन्न-भिन्न परम्पराओं का भी प्रभाव पड़ा। अधिकांश ग्रंथों की भाषा इब्रानी है; दो-तीन ग्रंथों के मूल पाठ यूनानी भाषा में मिलते हैं।

धर्म सम्बन्धी धारणाएं

इस अध्याय का अभिप्राय इब्रानी धर्म का निरूपण करना है। इस सन्दर्भ में इतिहास के महत्त्व के बावजूद हम इब्रानी धर्म के ऐतिहासिक विकास का वर्णन नहीं करेंगे, यद्यपि मुख्य घटनाओं का उल्लेख जरूर करेंगे। लेकिन हम इस प्रश्न

का समाधान करने का प्रयत्न करेंगे कि इब्रानी धर्म किस प्रकार का है। फिर, "धर्म" प्रत्यय संकुचित अर्थ में लिया जाएगा। जिस प्रणाली का हम प्रयोग करेंगे, उसके अनुसार धार्मिक धारणाओं का ही विश्लेषण किया जाएगा, क्रियाओं, तत्त्वों और व्यक्तियों का नहीं। हमारा तात्पर्य एक उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है। इब्रानी धर्म निस्सन्देह एक प्रकार से एकेश्वरवादी है, इसलिए उसकी एकमात्र परमेश्वर की धारणा निर्धारित करनी पड़ेगी; पर उस एकेश्वरवादी विश्वास का विकास वर्णित नहीं किया जाएगा। उपासना या विधि-विधान का वर्णन भी नहीं किया जाएगा (जैसे येरुसलेम राजधानी में मंदिर की स्थापना, या मूर्तियों का निषेध)। इन भौतिक तत्त्वों की चर्चा इनसे सम्बन्धित धार्मिक धारणाओं का निर्धारण करते समय की जाएगी। धार्मिक धारणाओं के उल्लेख के साथ ही इनके दार्शनिक निहितार्थों पर भी विचार किया जाएगा, क्योंकि एकेश्वरवाद धार्मिक सिद्धांत होने के अलावा दार्शनिक प्रत्यय से भी सम्बन्ध रखता है।

इस अध्याय की रूपरेखा

बाइबिल ग्रंथों की पूर्वोक्त शैली से स्पष्ट है कि वे दार्शनिक रचना नहीं हैं। इनमें जो धार्मिक धारणाएं या दार्शनिक निहितार्थ मिलते हैं, उनकी अभिव्यक्ति सुव्यवस्थित रूप से नहीं मिलती है। फिर भी बाइबिल पूर्वार्द्ध विषयक अध्याय में हम इन धारणाओं का क्रमबद्ध प्रतिपादन देने का प्रयत्न करेंगे : इसके मुख्य विषय निम्नलिखित हैं : (1) मूल तत्त्व, अर्थात् परमेश्वर, मानव और जगत्। इनका विभाजन दो वर्गों में किया जाता है : सृष्ट और असृष्ट या अपरम और परम। (2) परमेश्वर की ओर से प्रकटन, अर्थात् मानव जाति को अपने आप से संयुक्त करना। इस "अनुबन्ध" का ऐतिहासिक प्रारम्भ इब्रानी प्रजा का निर्वाचन था। (3) मुक्तिकार्य, अर्थात् मानव का दुःख और पाप से उद्धार करना। मुक्ति की सम्पूर्णता युगांत में प्राप्त होगी।

1. परम और अपरम तत्त्व

(क) परमेश्वर :

परम तत्त्व के बोधक दोनों नाम : बाइबिल में परम तत्त्व के बोधक नामों में ये दोनों विशेष रूप से प्रचलित हैं जो इब्रानी भाषा में "एलोहीम" और "यावे" कहे जाते हैं। "**एलोहीम**" शब्द वास्तव में नाम नहीं, संज्ञा है। शामी जातियां, जिन में से इब्रानी जाति एक थी, इस शब्द द्वारा परमेश्वर का बोध किया करती थीं। रूप के अनुसार शब्द बहुवचन है। इसका कारण यह है कि शामी दृष्टिकोण से देवता में अनेक शक्तियाँ शामिल हैं। बहुवचन संज्ञा का प्रयोग करते हुए भी, इब्रानी केवल एक ही परमेश्वर को मानते थे। उल्लेखनीय बात यह है कि इब्रानी अपने एकमात्र

परमेश्वर को अन्य जातियों के परमेश्वर से भिन्न नहीं समझते थे, जैसा कि "एलोहीम" शब्द के प्रयोग से प्रतीत होता है।[1] यह ईश्वर के लिए इब्रानी भाषा में एक सामान्य पर्याय है। इस मत के अनुसार मलकीसेदेक नामक गैर-इब्रानी जाति के राजा "सर्वोच्च ईश्वर" के याजक कहलाते हैं। ठीक इब्रानियों के कुलपति इब्राहिम के समान वे भी इसी "सर्वोच्च ईश्वर" की उपासना करते हैं।[2]

"एलोहीम" के विपरीत, "यावे" शब्द इब्रानियों में प्रचलित परमेश्वर का निजी नाम है। उसे "प्रभु" शब्द द्वारा अनुवादित किया जाता है, पर वास्तव में "प्रभु" "यावे" के बदले प्रयुक्त किसी दूसरे शब्द का अनुवाद है। कारण, बाद में यहूदी परमेश्वर के निजी नाम का उच्चारण करना अनुचित मानने लगे। उनकी मान्यता थी कि नाम तो सम्बन्धित तत्त्व की यथार्थता को ही अभिव्यक्त करता है, अतः परमेश्वर ने जब मूसा नबी को अपना "यावे" नाम बताया, तो उन पर अपने दिव्य सारतत्त्व का भी प्रकटन किया। इस नाम के शाब्दिक अर्थ की व्याख्या करने में विद्वानों में मतभेद है। एक अनुवादक के अनुसार परमेश्वर का कहना इस प्रकार है : "मेरा नाम "सत्" है।"[3] वस्तुतः परवर्ती विचारधारा ने इसी पाठ से 'सत्' की तत्त्वमीमांसा के लिए प्रेरणा प्राप्त की है। फिर भी, दूसरों के अनुसार इस कथन का तात्पर्य है 'परमेश्वर के रहस्यमय स्वभाव पर बल देना।' इस व्याख्या के अनुसार उक्त कथन का अनुवाद इस प्रकार है : "मैं वही हूँ जो हूँ।"[4] इब्रानियों और अन्य जातियों के परमेश्वर का पूर्वोक्त तादात्म्य इससे स्पष्ट है कि बाइबिल "यावे" के निजी नाम और "एलोहीम" की सामान्य संज्ञा, दोनों को जोड़ती है।[5]

एकमात्र परमेश्वर

एकेश्वरवाद इब्रानी धर्म का मूलभूत सिद्धान्त है। फिर भी, एकमात्र परमेश्वर की धारणा शुरू से ही पूर्ण रूप से उन्हें ज्ञात नहीं थी, बल्कि यह क्रमशः विकसित हुई। समकालीन अनेकेश्वरवादी वातावरण में इब्रानी लोग अन्य जातियों के देवताओं के अस्तित्व का निषेध न करते हुए भी, अपने "यावे" को दूसरों की अपेक्षा अनुपम और अतुल्य परमेश्वर मानते थे। सच पूछा जाये, तो दूसरे देव "ईश्वर" नाम तक के योग्य नहीं हैं। उनकी यह मान्यता किसी सैद्धान्तिक अनुमान का निष्कर्ष नहीं थी, पर उनके धार्मिक अनुभव के फलस्वरूप उत्पन्न हुई। इब्रानियों

---

1. देखें Leon-Dufour, Dictionary of Biblical Theology, London, 1973,; p. 206.
2. उत्पत्ति ग्रन्थ 14- 18-22
3. निर्गमन ग्रंथ 3. 14। C. Bulcke के अनुवाद के अनुसार .
4. S.N.—Wald के अनुवाद के अनुसार।
5. Leon Dufour, वही। उदाहरणार्थ : उत्पत्ति ग्रंथ 14.22. निर्गमन ग्रन्थ 3.15।

का दृढ़ विश्वास था कि उनकी जाति के संकटपूर्ण इतिहास में दूसरी जातियों—और उनके देवताओं—के विरुद्ध उन्हें यावे से ही संरक्षा मिली थी। इस अनुभव के फलस्वरूप इब्रानी मानने लगे कि उनके "यावे" के अतिरिक्त और कोई मुक्तिदाता नहीं है : "मैं, मैं ही प्रभु हूं। मेरे सिवाय कोई दूसरा उद्धारक नहीं है।"[6] इस एकमात्र ऋणकर्त्ता परमेश्वर पर अपना पूर्ण भरोसा रखने के साथ-साथ इब्रानी अन्य तथा कथित देवताओं के अस्तित्व तक का निषेध कहने लगे। वे उन्हें न केवल नगण्य, पर वास्तव में नहीं के बराबर मानने लगे।[7] इस तरह व्यावहारिक एकेश्वरवाद से क्रमशः सैद्धांतिक एकेश्वरवाद उत्पन्न हुआ।

पवित्रता

बाइबिल के धार्मिक विचार के अनुसार एकमात्र परमेश्वर की पवित्रता उसका स्वलक्षण मानी जाती है। पवित्रता परमेश्वर की दो सम्पूरक विशेषताओं का बोध कराती है, अर्थात् उसका ऐश्वर्य और सान्निध्य, या दार्शनिक शब्दावली में लोकातीतत्व और अंतर्यामिता। यहाँ हम इन दोनों पहलुओं पर कुछ विस्तार से चर्चा करेंगे।

पवित्रता में निहित पहला अर्थ है परमेश्वर की अगम्यता, उसकी सत्ता का गूढ़ रहस्य, और सांसारिक तत्वों से उसकी पृथकता। इस धारणा को बाइबिल से अमूर्त या पारिभाषिक प्रत्ययों द्वारा अभिव्यक्त नहीं किया गया है, वरन् इसायस नबी को मन्दिर में प्राप्त हुए परमेश्वर के दर्शन का उल्लेख[8] इस भावना का वर्णन करता है। इस सन्दर्भ में "सेराफीम", अर्थात् "अग्निमय" नामक स्वर्गदूत घोषित करते हैं कि "पवित्र, पवित्र,पवित्र है, विश्वमण्डल का प्रभु।"[9] एक अर्थपूर्ण मुद्रा द्वारा भी वे अपने कथन का स्पष्टीकरण करते है : अपने पंखों से (समकालीन निकटपूर्व मूर्तिकला उन्हें सपक्ष रूप में ही चित्रित किया करती थी) स्वर्गदूत अपना मुंह ढांक रहे हैं ताकि वे पवित्रतम परमेश्वर के साक्षात् दर्शन न करें। इसका निहितार्थ यह है कि उच्चतर श्रेणी की आत्माएं भी परमेश्वर को देखने योग्य नहीं हैं, पवित्रतम् उनसे भी अतीत होता है। इब्रानियों का मत था कि जिस आदमी ने परमेश्वर का साक्षात्कार किया है, उसकी मृत्यु अनिवार्य है। उल्लेखनीय है कि इसायस नबी यह कहकर अपनी अयोग्यता स्वीकार करते हैं कि 'मैं पापी मनुष्य मात्र हूं।' इससे प्रतीत होता है कि बाइबिल में परमेश्वर के लोकातीतत्व की धारणा नैतिक या धार्मिक स्वभाव की है : पापी मानव के विपरीत परमेश्वर पवित्र है।

6. इसायस 43.11
7. येरेमियस 5.7
8. इसायस 6.1.5
9. इसायस 6.3

पवित्रता का एक दूसरा पहलू भी है। परमेश्वर का यह स्वलक्षण उसके ऐश्वर्य मात्र का नहीं, बल्कि दयालुता का भी बोध कराता है। भयंकर होते हुए भी परमेश्वर पुण्य [शुभ] है। दिव्य सत्ता का यह विरोधाभास अन्य विश्वधर्मों में भी, प्रचलित है। इन दो सम्पूरक लक्षणों का उदाहरण हमें उस सन्दर्भ में मिलता है जहाँ यावे मूसा नबी से अपने नाम का प्रकटन करते हैं।[10] प्रतीकात्मक तत्त्वों द्वारा परमेश्वर की पवित्रता दिखाई जाती है : वह तो आग के रूप में अपनी उपस्थिति प्रकट करता है। फिर आग, जैसे "अग्निमय" स्वर्गदूतों के उदाहरण में, परमेश्वर की अगम्यता का प्रतीक है। आग का प्रतीक मूसा को दिया हुआ निकट आने का निषेध स्पष्ट करता है : "पैरों से जूते उतार दो, क्योंकि तुम जहां खड़े हो, वह पवित्र भूमि है।"[11] मानव को विकर्षित करने के साथ-साथ, परमेश्वर आकर्षित भी करता है। इसी अवसर पर यावे मूसा नबी को अपने नाम, अर्थात् अपने सारतत्व का प्रकटन करता है। इतना ही नहीं, वह इब्रानियों के नेता को मिस्त्र के गुलामों से अपनी प्रजा मुक्त कराने की प्रतिज्ञा करता है। इन दोनों के संयोग से, अर्थात् यावे नाम के प्रकटन और मुक्ति के वचन से, पूर्वोक्त रहस्यमय उक्ति "मैं वही हूं जो हूँ"[12] कुछ बोधगम्य हो जाती है : यावे वही है जो अपनी प्रजा के निकट है, उसकी रक्षा या मुक्ति करता है। इसलिए, मानव से परे होते हुए परमेश्वर उसके समीप भी रहता है। पवित्रता के स्वलक्षण में दोनों निहित हैं : ऐश्वर्य और सान्निध्य, अगम्यता और सामीप्य। इस द्वयर्थक धार्मिक धारणा में से परवर्ती दार्शनिक चिंतन ही लोकातीतत्व और अंतर्यामिता का निष्कर्ष निकालेगा।

परमेश्वर की आत्मा

ऐतिहासिक घटनाओं से सम्बन्ध के बावजूद उपर्युक्त परमेश्वर का सान्निध्य भौतिक नहीं, आध्यात्मिक स्वरूप का है। अपनी आत्मा द्वारा ही परमेश्वर संसार में क्रियाशील है। मुक्ति-कार्य और सृष्टिकार्य दोनों में वह प्रभावशील है बाइबिल विचार में दिव्य हस्तक्षेप के इन दो क्षेत्रों का संयोग बराबर मिलता है। पहले हम इस बात के एक-दो उदाहरण प्रस्तुत करेंगे कि ईश-आत्मा सृष्टि में किस प्रकार क्रियाशील है।

इस सन्दर्भ में बाइबिल विश्वोत्पत्ति के पूर्व की स्थिति का वर्णन करती है। उस समय चारों ओर अव्यवस्था ही दिखाई पड़ती थी। विश्व की धारणा यदि सुव्यवस्थित समष्टि की हो, तो पूर्ण रूप से व्यवस्था का अभाव "शून्य" का समानार्थ ही है। इसलिए आदि में कुछ भी नहीं था, सिर्फ परमेश्वर ही विद्यमान था, और

10- निर्गमन 3-1-15

11. निर्गमन 3-5

12. वही 3.14

वह आत्मा के रूप में। काव्यमय ढंग से उस आदि-स्थिति का वर्णन इस प्रकार किया गया है : "अथाह गर्त पर अन्धकार छाया हुआ था और ईश्वर की आत्मा सागर पर विचरती थी।"[13] उसी ईश-आत्मा के प्रभाव से विश्व की उत्पत्ति हुई। इससे हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि सृष्टिकर्त्ता की धारणा किसी भौतिक कारीगर की नहीं, बल्कि एक आध्यात्मिक शक्ति की ही है। सृष्टि-पाठ पढ़ते समय हमें इस बात को ध्यान में रखना पड़ेगा।

जो ईश-आत्मा आदि गर्त पर मण्डराती है, वह वायु के सदृश लगती है। इब्रानी भाषा में "आत्मा" प्रत्यय का सूचक "रुअह" शब्द तो भौतिक "वायु" का भी बोध कराता है। इसके अनुसार सृष्टिकर्त्ता की आत्मा तूफान के समान शक्तिमान मानी जाती है।[14] इब्रानी मूल शब्द का अर्थ "प्राण" भी है। प्राण रूपी आत्मा द्वारा सृष्टिकर्ता जीव-जन्तुओं को प्राण प्रदान करता है। प्राणियों में जीवन शक्ति तब तक बनी रहती है, जब तक उनमें ईश-आत्मा के प्रभाव से प्राण की स्थिति है। सृष्टि का वर्णन करने वाले एक स्त्रोत के शब्दों में ; "जब तू (अर्थात् परमेश्वर) उनका प्राण (मूल-पाठ में "रुअह" या आत्मा") खींच लेता है, तो वे मर जाते हैं। जब तू अपनी आत्मा फूंक देता है, तो वे उत्पन्न होते हैं।"[15] इसलिए "वायु" और "प्राण" के रूप में ईश-आत्मा सृष्टिकार्य पूरा करती है।

सृष्टिकर्ता की वही आध्यात्मिक धारणा मुक्तिकार्य के सन्दर्भ में भी मिलती है। इब्रानी जाति के नेता, जैसे कुलपति, नबी या राजा, मुक्तिकर्ता ईश्वर के प्रतिनिधि माने जाते हैं। उन महात्माओं की मध्यस्थता द्वारा ईश-आत्मा ही क्रियाशील हो रही है, ऐसा इब्रानियों का विश्वास था। बाद में हमें इस बात पर ध्यान देना पड़ेगा कि इतिहास का संचालन करने वाले परमेश्वर में सर्वव्यापिता और अन्तर्यामिता की धारणाएं निहित हैं। अब हम आत्मा रूपी परमेश्वर के लक्षणों का ही उल्लेख करेंगे। मसीह विषयक भविष्यवाणी के प्रसंग में इसायस नबी ईश-आत्मा की विशेषताएं बताते हैं : "प्रभु की आत्मा उस पर (मसीह पर) छाई रहेगी—प्रज्ञा तथा बुद्धि की आत्मा, सुमति तथा धैर्य की आत्मा, ज्ञान तथा ईश्वर-भक्ति की आत्मा।"[16] भाष्यकार यह स्पष्ट करते हैं कि उपर्युक्त दिव्य आत्मा के लक्षण पहले के लोक-नेताओं की विशेषताएं हैं, जैसे सुलेमान राजा की प्रज्ञा इत्यादि। अपने आप से प्रेरित इन मनुष्यों की मध्यस्थता द्वारा ईश-आत्मा इतिहास में क्रियाशील रहती

13. उत्पत्ति ग्रन्थ 1.2
14. देखें स्तोत्र ग्रन्थ 29.5.6
15. स्तोत्र ग्रन्थ 104.29.30
16. 11.2

है। सृष्टिकार्य और मुक्तिकार्य, दोनों को परमेश्वर आत्मा के रूप में ही पूरा करता है।

प्रज्ञा और शब्द

ऊपर के उद्धरण से प्रतीत होता है कि "प्रज्ञा" आत्मा के लक्षणों में एक है। "दिव्य" शब्द के साथ वह प्रज्ञा ईश-आत्मा के समान सृष्टि और मुक्तिकार्य में सक्रिय होती है। सूक्ति ग्रन्थ में यह प्रश्न उठाया जाता है कि सृष्टि-कार्य में ईश-प्रज्ञा का क्या भाग रहा।[17] प्रज्ञा स्वयं ही सर्जन का पहला परिणाम थी, सभी अन्य तत्त्वों से पहले, हाँ, अनन्त काल से ही उसकी सृष्टि मानी जाती है। इस-लिए वह सृष्टिकर्त्ता के सदृश 'नित्य' मानी जाती है। प्रज्ञा अपने आपको सृष्टिकार्य में परमेश्वर की सहयोगिनी कहती है : "जब उसने (परमेश्वर) पृथ्वी की नींव डाली, उस समय मैं कुशल शिल्पकार की भांति उसके साथ थी।"[18] इस पाठ से अनेक निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं। पहले, सृष्ट तत्त्व के रूप में प्रज्ञा परमेश्वर की मूल-भूत अभिव्यक्ति दिखाई पड़ती है। फिर, पूर्ण सृष्टि परमेश्वर की प्रज्ञा अभिव्यक्त करती है : वह तो ईश-प्रज्ञा द्वारा ही रचित हुई है। ध्यान देने योग्य बात है कि मूल पाठ में प्रयुक्त विशेषण के फलस्वरूप "प्रज्ञा" सृष्टिकर्ता की विशेषता मात्र नहीं, बल्कि उससे पृथक चैतन्य स्वरूप तत्त्व प्रतीत होती है, मानो एकमात्र परमेश्वर में अनेकता हो। इस बात का विस्तार बाइबिल के उत्तरार्द्ध में किया जाएगा।

प्रज्ञा-ग्रंथ मुक्ति-कार्य में भी ईश-प्रज्ञा प्रभावशील होने का कुछ विस्तार से उल्लेख करता है।[19] वही प्रज्ञा आदि मानव का पालन-पोषण करती है, कुल-पति नूह को जल प्रलय से बचाती है, इब्राहिम आदि पुरखों की भ्रमण के समय रक्षा करती है, मरुभूमि में प्रजा का पथ प्रदर्शन करती है। संक्षेपतः प्रज्ञा ही इब्रानी जातीय इतिहास की घटनाओं का संचालन करती है। दिव्य प्रज्ञा जिस प्रकार सृष्टिकर्ता की सहगामिनी थी, उसी प्रकार मुक्तिकर्ता परमेश्वर की भी स्थानापन्न जैसी दिखाई पड़ती है। ईश-प्रज्ञा यदि इतने महत्त्व की हो, तो स्पष्टतः वह परमेश्वर का मूलभूत विशिष्ट लक्षण है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि बाइबिल दृष्टिकोण से परमेश्वर न केवल आत्मा स्वरूप है, बल्कि वह प्रज्ञा, चैतन्य और संकल्प स्वरूप भी है।

चैतन्य स्वरूप ईश्वर अपने आपको "शब्द" द्वारा अभिव्यक्त करता है, जो स्वाभाविक ही है। जो ऋषि इस-ईश शब्द की घोषणा करते हैं, वे "नबी" कहलाते हैं। दिव्य आत्मा के प्रभाव से वे इतिहास की घटनाओं में मुक्तिकर्ता परमेश्वर का

---

17. 8.22-31

18 वही 8.29-30

19. अध्याय 10 से अध्याय 19 तक। विशेष रूप से देखें 10.11.4

हस्तक्षेप पहचानते हैं। नबी अतीत की घटनाओं की व्याख्या देने के अतिरिक्त भविष्यवाणी भी करते हैं। अनुभव से उन्हें मालूम है कि ईश-शब्द जो प्रतिज्ञा करता है, उसे पूरा भी कर सकता है। इस बात का प्रमाण पुराना इतिहास उन्हें प्रस्तुत करता है मुक्तिकार्य में परमेश्वर के प्रभाव से सृष्टिकार्य में भी उसके प्रभाव का अनुमान करना सहज ही था। अपने ऐतिहासिक अनुभव के आधार पर इब्रानी इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि परमेश्वर ने अपने शब्द मात्र द्वारा विश्वमण्डल की सृष्टि की है। ईश-शब्द केवल बोधक नहीं, कार्यकारी भी मालूम पड़ता है। इसलिए सृष्टि के पहले वर्णन में [20] सूर्य और चन्द्रमा, पेड़-पौधों और जीव-जन्तुओं की सृष्टि परमेश्वर के शब्द मात्र से की जाती है। उदाहरणार्थः "ईश्वर ने कहाः प्रकाश हो जाय, और प्रकाश हो गया"[21]। इससे फिर स्पष्ट होता है कि सृष्टिकार्य और इसके फलस्वरूप सर्वशक्तिमता की धारणा मानवीकरण से बिलकुल विपरीत शुद्ध आध्यात्मिक ही है।

(ख) मानव :

मानव का परमेश्वर से सादृश्य :

भूमिका के रूप में हम इस बात पर पाठक का ध्यान आकर्षित कर सकते हैं कि बाइबिल का विचार मानव की एकता पर बल देता है, उसके तत्त्व मीमांसात्मक या मनोवैज्ञानिक ढांचे का विश्लेषण नहीं करता है। बाद में जब हम "जीवात्मा" और "शरीर" के प्रभेद का प्रतिपादन करेंगे, हमें ध्यान में रखना पड़ेगा कि पृथक-पृथक अवयव नहीं, बल्कि भिन्न-भिन्न पहलू मात्र माने जाते हैं। पहले हम मानव की मूलभूत विशेषता से शुरू करें, अर्थात् : मानव परमेश्वर के सदृश बना हुआ है। जैसा कि लिखा है: "ईश्वर ने कहाः हम मनुष्य को अपने सदृश बनाए"[22]। आइए परवर्ती पदों के आधार पर हम इस उक्ति की व्याख्या करें।

मानव की परमेश्वर से अनुरूपता का पहला कारण यह है कि मानव को सृष्टिकर्ता की ओर से सब जीव-जन्तुओं पर अधिकार मिला है[23]। सादृश्य का दूसरा कारण मानव की प्रजनन क्षमता है, जो किसी हद तक परमेश्वर की सृष्टि-क्षमता के तुल्य है। ईशसादृश्य की यह व्याख्या इस वचन पर आधारित है कि "ईश्वर ने मनुष्य को अपने सदृश बनाया,....उसने नर और नारी के रूप में उनकी सृष्टि की"[24]। स्पष्टतः इसका निहितार्थ यह नहीं है कि सृष्टिकर्ता में भी नर-नारी

---

20. उत्पत्ति ग्रन्थ 1.2.4
21. उत्पत्ति 1.3
22. उत्पत्ति ग्रन्थ 1.26
23. वही, पद 26.28
24; वही, पद 27

का प्रभेद होता है। लिंग-प्रभेद सृष्टिकार्य का परिणाम मात्र है, उसका कारण नहीं। इस प्रसंग का अभिप्राय है नर-नारी की समानता पर बल देना। बाइबिल मानव-प्रजनन को पवित्र ही मानती है : इस क्षमता द्वारा ही मानव सृष्टिकर्ता के सदृश है।

मानव के ईश-सादृश्य का तीसरा कारण दूसरों से बढ़कर महत्त्व का है। उसका स्पष्टीकरण उत्पत्ति ग्रंथ में नहीं, प्रज्ञा-ग्रंथ में मिलता है। इसके अनुसार "ईश्वर ने मनुष्य को **अनश्वर** बनाया है, उसने उसको अपना प्रतिरूप ही बनाया है"[25] अनुसंगतः प्रस्तुत कथन पूर्वोक्त उद्धरण से कहीं अधिक स्पष्ट है: मानव को परमेश्वर के सदृश मात्र नहीं, उसका प्रतिरूप ही कहा जाता है। इस अनुरूपता के कारण मानव की अमरता मानी जाती है। उल्लेखनीय बात है कि यह ईश-सादृश्य की व्याख्या प्रज्ञा-ग्रंथ में ही मिलती है। भूमिका हमने कहा है कि प्रज्ञा-ग्रंथ बाइबिल पूर्वार्द्ध की सबसे अर्वाचीन रचना है। पूवार्द्ध के अधिकांश ग्रंथों में अमरता की धारणा का अभाव है, जैसा कि बाद में स्पष्ट किया जाएगा। ज्योंही अमरता पर विश्वास उत्पन्न हुआ, त्यों ही मानव को परमेश्वर के सदृश माना गया। फिर भी "सादृश्य" का अर्थ "तादात्म्य" नहीं हो सकता। अमर होते हुए भी मानव अपने आपको परमेश्वर नहीं मान सकता है। इब्रानी दृष्टिकोण से यह ईश-निन्दा ही होती। ईश-सादृश्य के बावजूद मानव का परमेश्वर से तादात्म्य कदापि नहीं होगा; कारण, मानव सृष्ट तत्त्व मात्र है जबकि परमेश्वर सृष्टिकर्ता है। इसके अतिरिक्त एक महत्त्व की बात और: मानव का ईश-सादृश्य बाइबिल शैली की एक विशेषता स्पष्ट करता है, अर्थात् उसका परमेश्वर का मानव ढंग से वर्णन करना। वह परमेश्वर में मानवतारोप का कोई प्रमाण नहीं है। इसके विपरीत, मानव में देवत्व आरोपित है। परमेश्वर इसलिए मानव के रूप में दिखाई पड़ता है, कि मानव परमेश्वर सदृश निर्मित है।

मानव के दोनों मौलिक पहलू, जीवात्मा और शरीर :

जिस "जीवात्मा" शब्द का प्रयोग इस सन्दर्भ में किया जाता है, वह इब्रानी "नेफेश" शब्द का अनुवाद है। वह "रुअह्", अर्थात् "आत्मा" से भी भिन्न है। जीवात्मा को भौतिक शरीर मात्र न मान कर उसे आत्मिक स्वरूप में स्वीकार करने का दृष्टिकोण बाइबिल-सम्मत नहीं है। वास्तव में जीवात्मा जिस शरीर को अनुप्राणित करती है, उससे **अवियोज्य** मानी जाती है। बाइबिल की मानव-धारणा तो एकात्मक ही है।

मानव-स्वभाव के विषय में सृष्टि का दूसरा वर्णन [26] कुछ और बता सकता है। वह पाठ तो मानव की सृष्टि पर विशेष बल देता है। फिर, बनावट के स्वभाव

---

25. 2·23
26. उत्पत्ति ग्रन्थ 2.4-25

भी स्पष्ट हो जाता है। जानवरों के विपरीत जिन्हें सृष्टिकर्ता सिर्फ मिट्टी से गढ़ता है, बाइबिल की कल्पनात्मक शैली के अनुसार मनुष्य इस प्रकार उत्पन्न हुआ: "प्रभु ने धरती की मिट्टी से मनुष्य को गढ़ा और उसके नथुनों में प्राणवायु फूंक दी"[27]। निस्सन्देह जानवर भी प्राण रहित नहीं हैं और बाइबिल मनुष्य के समान उन्हें "जीवात्मा"[28] कहती है। पूर्वोक्त पद इस बात पर बल देता है कि दूसरे प्राणियों की अपेक्षा मानव परमेश्वर से घनिष्ठ सम्बन्ध रखता है: उसका प्राण परमेश्वर का विशेष दान है। परमेश्वर से सम्बन्धित होते हुए भी मानव उसके अधीन है। जीवन का स्त्रोत स्वयं मानव नहीं, परमेश्वर ही है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि अपने स्वभाव के बल पर मनुष्य अमर नहीं है, उसे अपनी जीवात्मा पर भी अधिकार नहीं है।

ध्यान देने योग्य बात है कि बाइबिल का दृष्टिकोण यह नहीं है कि 'जीवात्मा अभौतिक होने के कारण अनश्वर भी होती है।' जीवात्मा न तो आत्मिक है, न शरीर से भिन्न अवयव है। मनुष्य अगर अमर है, तो अपनी सम्पूर्णता में ही। ऊपर प्रज्ञा-ग्रंथ से उद्धृत पद के अनुसार "ईश्वर ने मनुष्य को अनश्वर बनाया है", उसकी जीवात्मा मात्र को नहीं। वास्तव में अपने स्वभाव से मानव मरणशील ही है। मानव एकता के फलस्वरूप शरीर के साथ जीवात्मा का भी मर जाना अनिवार्य है। बाइबिल का पूर्वार्द्ध काफी हद तक लौकिक दृष्टिकोण अपनाता है फिर भी, उसके अर्वाचीन ग्रंथों में, और विशेष कर उत्तरार्द्ध में, इस दृष्टिकोण का उल्लेखनीय विकास मिलता है।

जीवात्मा के अतिरिक्त मनुष्य का दूसरा पहलू उसका "शरीर" भौतिक स्वरूप है। यह धारणा मानव का बोध उसकी सांसारिक दशा में, उसकी भौतिक प्रतीति के रूप में कराती है। "शरीर" में न केवल स्थूल पदार्थ, अपितु मनोवैज्ञानिक क्षमता और क्रियाएं भी शामिल हैं। अपने "शरीर" के फलस्वरूप हम दुःख-सुख द्वेष-राग इत्यादि का अनुभव करते हैं। उस दृष्टिकोण से मनुष्य, अपनी सम्पूर्णता में, अर्थात् "जीवात्मा" के रूप में भी, नश्वर है। फिर भी, शरीर को अशुभ नहीं माना जाता है। वह तो भौतिक जगत् का अंश है। भिन्न-भिन्न भौतिक तत्त्वों की सृष्टि के बाद हर वक्त कहा जाता है कि "यह ईश्वर को अच्छा लगा।" इससे बढ़-कर मानव सृष्टि के पश्चात् कहा गया। "यह उसको (परमेश्वर) बहुत अच्छा लगा"[29]। जीवात्मा और शरीर, इन दो पहलुओं से मानव का द्व्यर्थक स्वभाव स्पष्ट किया जाता है। शरीर के दृष्टिकोण से वह संसार से संबंध रखता है, इसलिए

27. उत्पत्ति 2.7
20, उदाहरणार्थ उत्पत्ति 1.20
29. उत्पत्ति 1.21 आदि और 1 31

पूर्वोक्त उद्धरण के अनुसार[30] मानव मिट्टी से रचित है। आदि मानव का नाम "आदम" रखा गया, क्योंकि वह इब्रानी में "धरती" शब्द से व्युत्पन्न नाम है। इसलिए "आदम का अर्थ है, जो मिट्टी से पैदा किया गया है"। जीवात्मा के दृष्टिकोण से मनुष्य परलोक से सम्बन्ध रखता है। परन्तु यह द्वयर्थकता द्वैतवाद से बिल्कुल भिन्न है। बाइबिल इस अर्थ में जीवात्मा और शरीर का उल्लेख नहीं करती है मानो वे भौतिक और आत्मिक परस्पर-विरोधी अवयव हों।

जगत् की सृष्टि :

जगत् की बाइबिल धारणा वैज्ञानिक नहीं, धार्मिक है। बाइबिल जगत् को परमेश्वर और मुक्ति-कार्य के संदर्भ में देखती है। विश्वोत्पत्ति के बाइबिल में दो वर्णन मिलते हैं। सब से पुराना वर्णन तो[31] जगत की रचना को मानव की उत्पत्ति के दृष्टिकोण से प्रतिपादित करता है: दुनिया, "अदन-वाटिका" नामक एक रमणीय बाग जैसी लगती है, जो मनुष्य की सुविधा के लिए बनी है। इससे अर्वाचीन दूसरे वर्णन में[32] विश्वमण्डल के सब प्रकार के तत्त्वों की सृष्टि मिलती है। सृष्टि-कार्य का तरीका आदि-दुर्व्यवस्था से जगत् की वर्तमान सुव्यवस्था का निर्माण करना है। इस प्रकार क्रमशः दिन का रात से और पृथ्वी का सागर से पृथक्करण हुआ, कालक्रम के द्योतक नक्षत्र का निर्धारण और उनके अपने-अपने निवासस्थान के अनुसार जीव-जन्तुओं का सर्जन। अंत में मानव उत्पन्न हुआ, मानो सम्पूर्ण सृष्टि के शिखर पर। पूर्वोक्त दोनों पाठों में जगत् सम्बन्धी दृष्टिकोण मानव केन्द्रित है। विश्व भर में मनुष्य ही सबसे महत्त्वपूर्ण प्राणी है। उसी की सुविधा के लिए सब कुछ बनाया गया है।

उपर्युक्त दो वर्णनों में सृष्टि-कार्य का तरीका भिन्न-भिन्न है। पूर्वोक्त प्रकरण कुम्हार-दृष्टांत का प्रयोग करता है जिसके अनुसार सृष्टिकर्ता मानव और जीव-जन्तुओं को मिट्टी से गढ़ता है[33] उत्तरोक्त प्रकरण में सृष्टिकार्य की धारणा इससे कहीं अधिक आध्यात्मिक है। परमेश्वर तो अपने शब्द की शक्ति मात्र द्वारा सब कुछ स्पष्ट करता है।[34] "शून्य से" सृष्टि की प्रसिद्ध धारणा उत्पत्ति-ग्रंथ में नहीं, मक्काबियों के दूसरे ग्रन्थ में अपने आदि रूप में मिलती है। वहां लिखा है : "आकाश, पृथ्वी और सब कुछ जो उन पर है, उनकी ओर देख और समझ ले कि

30. वही 2.7
31. उत्पत्ति 2.4-25
32. वही 1.1-4
33. वही 2.7, 19
34. उत्पत्ति. अध्याय 1। ऊपर देखो, "शब्द" के सन्दर्भ में।

ईश्वर ने उन्हें शून्य से गढ़ा है।"[35] इस ग्रंथ की रचना बहुत बाद में हुई, अर्थात् 100 ई० पूर्व लगभग। उस समय यूनानीवाद का प्रभाव यहूदी संस्कृति पर पड़ा था: ग्रंथ की मूल भाषा इब्रानी नहीं' यूनानी ही है। सम्भव है "शून्य" का गूढ़ प्रत्यय समकालीन यूनानी दर्शन से लिया गया हो। शून्य से सृष्टि की दार्शनिक व्याख्या प्रस्तुत पुस्तक के सैद्धांतिक भाग में मिलेगी। यहां इतना ही कहना उचित होगा कि सृष्टि यदि सब तत्त्वों के पूर्वाभाव से हुई, तो स्पष्टतः सृष्टिकर्ता के पूर्वाभाव से नहीं।

उत्पत्ति-ग्रंथ में दिए गए वर्णन से सम्बन्धित दो और बातें उल्लेखनीय हैं। समकालीन साहित्य के विपरीत बाइबिल विश्वोत्पत्ति का प्रतिपादन शुभ और अशुभ शक्तियों के संघर्ष के रूप में नहीं करती है। इसमें शुभाशुभ द्वैतवाद का अभाव है शिव सृष्टिकर्ता ही सम्पूर्ण विश्व का एक मात्र कारण है। फिर, जो कुछ परमेश्वर ने बताया था, वह उसको "अच्छा लगा।"[36] बाइबिल संप्रस्तुत अशुभ समस्या का समाधान "पाप" के प्रसंग में प्रस्तुत किया जाएगा। दूसरी बात बाइबिल की इस उक्ति से सम्बन्धित है जिसमें कहा गया है कि "आदि में ईश्वर ने स्वर्ग और पृथ्वी की सृष्टि की।" कथन का तात्पर्य यह है कि दैवी संघर्ष के अभाव में सृष्टि से पूर्व देव कालक्रम का भी अभाव था। इसलिए काल गणना सृष्टि से ही शुरू हुई। "आदि में इति" का दावा धार्मिक स्वरूप का है। विज्ञान की अनादि काल की धारणा और आदि काल में सृष्टि, इन दोनों का सामन्जस्य किया जा सकता है, यह प्रश्न भी दूसरे भाग में उठाया जाएगा।

पूर्वोक्त सृष्टि का प्रत्येक सैद्धांतिक चिंतन का परिणाम नहीं' धार्मिक अनुभव का प्रतिफल है। यावे भक्तों का यह विश्वास था कि परमेश्वर न तो केवल अपनी प्रजा, वरन् अन्य जातियों पर भी शासन करता है। उनकी दृष्टि से यह बात भूतपूर्व इतिहास की असंख्य घटनाओं द्वारा सिद्ध की गई थी। इसके फलस्वरूप उन्हें परमेश्वर का अधिकार सर्वव्यापी और सार्वभौम प्रतीत होने लगा। अन्त में इब्रानियों ने इससे यह अनुमान किया कि जो परमेश्वर विश्व भर पर शासन करता है, उसी ने विश्व का निर्माण भी किया होगा। इस तरह सृष्टिकार्य को परमेश्वर से किये गये "महान् कार्यों" में से सर्वप्रथम माना गया। इतिहास की अन्य घटनाओं को मुक्ति-कार्य कहा गया। इस परिप्रेक्ष्य में सृष्टि इस परवर्ती मुक्ति-कार्य का प्रारम्भ प्रतीत होने लगी फिर, यह भी अनिवार्य है कि सृष्टिकर्ता किसी एक जाति का नहीं, वरन् सम्पूर्ण मानव जाति का मुक्तिकर्ता माना जाता है। इस प्रकर सृष्टि से संबंध के फलस्वरूप सार्वभौम मुक्ति की धारणा भी विकसित हुई। एक बात और जैसे

35. 7.28

36. उत्पत्ति 1- 10, 12, 18 इत्यादि।

आदि सृष्टि से मुक्तिकार्य प्रारम्भ हुआ, वैसे ही नव सृष्टि से वह समाप्त हो जायेगा। इसायस नबी युगांत की इस प्रकार भविष्यवाणी करते हैं: "मैं (अर्थात् यावे, जिनका प्रवक्ता नबी है।) एक नये स्वर्ग और एक नयी पृथ्वी की सृष्टि करने वाला हूँ।"[37] नयी सृष्टि के पहले संसार का प्रलय होना आवश्यक है। ये बातें कुछ विस्तार से उत्तरार्द्ध के प्रसंग में प्रस्तुत की जाएंगी।

II परमेश्वर का मानव जाति से सम्बन्ध

(क) प्रकाशना का ऐतिहासिक स्वरूप।

प्रकाशना और ज्ञान

ईसाई शब्दावली में "प्रकाशना" शब्द का अर्थ है: परमेश्वर की ओर से मानव को रहस्य का प्रकटीकरण। बाइबिल दृष्टिकोण में परमेश्वर का प्रकटन सृष्टि में इतना स्पष्ट नहीं है जितना इतिहास की घटनाओं में। इन अर्थपूर्ण घटनाओं की व्याख्या करने वाले लेखक "नबी" कहलाते हैं। उन्हें परमेश्वर के साक्षात् दर्शन मिले; जैसे मूसा को सिनाई पर्वत पर[38]। इससे बढ़कर यह बात महत्त्व की है कि उन्हें परमेश्वर की वाणी, उसका "शब्द" सुनाई पड़ता है। परमेश्वर के सन्देश का तात्पर्य है 'पूर्व या भविष्य घटनाओं का अर्थ समझना।' इब्रानियों का धर्म मुख्यत: इस प्रकार के प्रत्यक्ष अनुभव पर आश्रित है। शाब्दिक अर्थ में इब्रानी नबी "ऋषि" कहला सकते हैं, जिन्हें ईश-दर्शन के संदर्भ में 'श्रुति' सुनाई पड़ी।

ईब्रानी जाति के इतिहास की विभिन्न घटनाएं बराबर दिव्य प्रकाशना का अवसर प्रस्तुत करती हैं। इनमें से प्रमुख हैं मिश्र की गुलामी से स्वतन्त्रता की प्राप्ति (1250 ई० पू०) और बाबुल में निर्वासन (6वीं श०ई०पू०)। इन घटनाओं पर नबियों की मध्यस्थता द्वारा धार्मिक व्याख्या का आरोपण किया जाता है। इसके अनुसार परमेश्वर इतिहास में हस्तक्षेप कर अपनी योजना पूरी करता है। ईश योजना का तात्पर्य है: 'मानवजाति की मुक्ति' या दूसरे शब्दों में 'मानव की परमेश्वर से एकता' स्थापित करना। भिन्न-भिन्न सांसारिक घटनाओं की व्याख्या उसी धार्मिक दृष्टिकोण से की जाती है। इस तरह "पुनीत इतिहास" ईश-प्रकाशना का माध्यम बन जाता है। अनुभव से इब्रानी जाति को मालूम है कि उनके प्रति परमेश्वर का कौन-सा व्यवहार होता है। फिर, व्यवहार द्वारा ही किसी व्यक्ति से हमारा परिचय पैदा होता है। इतना ही नहीं, मूसा से अपना "नाम" प्रकट करने में यावे ने अपना सारतत्त्व भी प्रकाशित किया। इससे स्पष्ट होगा कि इब्रानियों की प्रकाशना का

37. इसायस 65.17

38. निर्गमन ग्रन्थ 19.16-25

प्रत्यय कितना मौलिक है। यथार्थ परिस्थितियों के सन्दर्भ में उत्पन्न होकर प्रकाशना अनुभव पर ही निर्भर है। फिर, वह भावना मात्र का प्रतिफल नहीं है, क्योंकि नबियों का वचन अनुभव की व्याख्या प्रस्तुत करता है। इसलिए प्रकाशना व्यक्तिगत और सामाजिक, दोनों है। परमेश्वर की ओर से नबी को जो संदेश मिलता है, वह जनता के लिए भी है। एक शब्द में पूर्वोक्त प्रकाशना "ऐतिहासिक" कही जा सकती है, क्योंकि वह इब्रानी जाति के इतिहास के सिलसिले में विकसित है।

प्रकाशना के फलस्वरूप मानव में "ज्ञान" उत्पन्न होता है। इस ज्ञान का अभिप्राय है: घनिष्ठ सम्बन्ध से पैदा हुआ परमेश्वर से परिचय। यह ज्ञान सैद्धांतिक नहीं अनुभवात्मक है। यह ज्ञान अभ्यंतर मूलक है। इस आंतरिक ज्ञान का एक अच्छा उदाहरण येरेमियस के "नया व्यवस्थापन" सम्बन्धी प्रकरण में मिलता है। इस पाठ का उल्लेख बाद में किया जाएगा, यहां सिर्फ "ज्ञान" पर ध्यान दें। प्रसंग ईश्वर और उसकी प्रजा का पारस्परिक सम्बन्ध है : वही घनिष्ठ परिचय "ज्ञान" का स्वाभाविक आधार है। परमेश्वर का कहना है कि "मैं अपना नियम उसके अभ्यन्तर में रख दूंगा, मैं उसे उनके हृदय[39] पर अंकित करूंगा।" स्पष्टतः ईश्वर-सम्बन्धी यह ज्ञान आंतरिक ही है। यह ज्ञान शिक्षा के बिना भी उत्पन्न हो सकता है: इसकी जरूरत नहीं रहेगी कि वे एक दूसरे को शिक्षा दें और अपने भाइयों से कहें: प्रभु का ज्ञान प्राप्त कीजिए, क्योंकि छोटे और बड़े, सब के सब मुझे जानेंगे"[40]। इस ज्ञान का स्रोत अंतर्यामी परमेश्वर ही है।

काल का प्रत्यय—प्रकाशना ऐतिहासिक स्वरूप की है, इसलिए हमें इस संदर्भ में बाइबिल की काल-धारणा के विषय से कुछ कहना है। ऊपर हम देख चुके हैं कि बाइबिल के अनुसार जगत् की सृष्टि के साथ काल-क्रम का भी आरम्भ हुआ। इस से यह निष्कर्ष निकलता है कि काल सृष्ट-तत्त्वों का एक मूलभूत विशिष्ट लक्षण है। इसके विपरीत लोकातीत होने के फलस्वरूप सृष्टिकर्ता को कालातीत भी होना अनिवार्य है। हम यह भी देख चुके हैं कि बाइबिल उस समकालीन पौराणिक धारणा का निषेध करती है जिसके अनुसार सांसारिक कालक्रम के पहले देवताओं की उपस्थिति स्वीकार की गई है। सृष्टि के पहले काल की भी चर्चा नहीं हो सकती है: सृष्टिकर्ता परमेश्वर काल से कोई सम्बन्ध नहीं रखता है। यह काल रहित दशा "शाश्वतत्व कहलाती है। इसकी परिभाषा निषेधात्मक रूप से इस प्रकार की जा सकती है: "शाश्वतत्व काल का पूर्ण प्रतिरोध है, वह काल से सम्बन्धित परिवर्तनों से भी पूर्णतः मुक्त है।' काव्यात्मक ढंग से एक स्रोत[41] शाश्वत अस्तित्व का इस

---

39. इब्रानी मनोविज्ञान में "हृदय" चैतन्य का केन्द्र माना जाता है।
40. येरेमियस 31.33-34
41. 90.2

प्रकार वर्णन करता है। "जब पर्वत भी नहीं बने थे, तथा न पृथ्वी और विश्व ही थे, तब भी अनादि से अनन्त तक, हे ईश्वर, तू ही रहा है।" शाश्वतत्व असीम काल का समानार्थ हो, यह समस्या दूसरे दर्शनिक भाग में उठाई जाएगी। इसी स्त्रोत का एक दूसरा पद भगवद्गीता के एक प्रसिद्ध श्लोक की प्रतिध्वनि जैसा लगता है: "तुझे (परमेश्वर) हजार वर्ष भी बीते कल की ही तरह लगते हैं, अथवा वह जैसे रात का एक पहर हो।"[42]

कल दो प्रकार का हो सकता है : भौतिक जगत् का या सांसारिक और एतिहासिक काल। उल्लेखनीय बात है कि दोनों में सृष्टिकर्त्ता और मुक्तिकर्त्ता परमेश्वर हस्तक्षेप करता है। जिस प्रकार लोकातीतत्व अन्तर्यामिता का अपवर्जन नहीं करता है, उसी प्रकार शाश्वतत्व कालक्रम से भी असम्बद्ध नहीं है। यहां हम इस बात को केवल धार्मिक दृष्टिकोण से देखते है। सृष्टिकर्त्ता सांसारिक काल का अधिपति है, इस धारणा से इब्रानी सप्ताह की प्रथा सम्बन्ध रखती है। इसके अनुसार छ: दिन बाद में लगे हुए हैं, सातवें दिन परिश्रम से अवकाश होना है और परमेश्वर की उपासना करनी है। इस धार्मिक नियम का कारण इब्रानी धर्मशास्त्रियों ने इस तुलना द्वारा समझाया जैसे सृष्टिकर्त्ता ने छः दिनों में अपना सृष्टिकार्य समाप्त किया, फिर उन्होंने विश्राम किया, वैसे ही मानव भी करे।[43] यह कहने की जरूरत नहीं है कि बाइबिल क- लेखक सशारिक काल का शाश्वत "काल" पर प्रक्षेप करता है। वास्तव में उसका अभिप्राय सप्ताह की धार्मिक प्रथा को सृष्टिकर्त्ता के आदर्श द्वारा प्रमाणित करना है।

ऐतिहासिक काल सांसारिक काल से बिल्कुल भिन्न है। यह प्रकृति का कालचक्र मात्र है, जिसमें अनिवार्य रूप से घटनाओं का आवर्तन होता रहता है। सांसारिक काल में परमेश्वर के स्वतन्त्र निर्णय के फलस्वरूप अपूर्व घटनाओं द्वारा इतिहास में प्रगति हो सकती है। ऐतिहासिक काल में क्रियाशील होकर परमेश्वर अपना मुक्तिकार्य पूरा करता है। इस प्रकार इतिहास लौकिक घटनाओं का क्रम मात्र नहीं, बल्कि "पुनीत इतिहास" माना जाता है। ऐसे सार्थक काल को सम्पूर्णता प्राप्त होगी, यह स्वाभाविक है। जिस प्रकार सृष्टि से काल का प्रारम्भ हुआ, उसी प्रकार नव सृष्टि से उसकी समाप्ति भी होगी। कालक्रम की सम्पूर्णता मुक्तिकार्य की पूर्ति की द्योतक हैं।

(ख) व्यवस्थापन या विधान

"व्यवस्थापन" और "विधान" शब्द इब्रानी "बेरीथ" का अनुवाद करने

42. 90.4 की तुलना भगवद्गीता 8.17 से करें।
43. देखें - निर्गमन ग्रन्थ 20.8.10।

का प्रयत्न करते हैं।[44] शब्द का अभिप्राय है दो पक्षों का पारस्परिक अनुबन्ध या समझौता। इब्रानी परम्परा में परमेश्वर के मानव से सम्बन्ध को इस विधिपरक प्रत्यय के माध्यम द्वारा प्रतिपादित किया जाता है। यह इब्रानी धर्म की मूल धारणा है। निर्गमन ग्रंथ में "व्यवस्थापन" या "विधान" की स्थापना का वर्णन मिलता है।[45] अनुबन्ध के पक्ष निम्नलिखित हैं : एक ओर यावे नामक परमेश्वर जिसने इब्रानी प्रजा को मिस्र की गुलामी से मुक्त किया; दूसरी ओर इब्रानी प्रजा जो मूसा के नेतृत्व से अरबी मरुभूमि में भ्रमण कर रही थी। परम्परा के अनुसार सिनाई पर्वत पर यावे ने मूसा को दर्शन देकर "अपनी प्रजा" से अनुबन्ध स्थापित किया। इब्रानी जाति से यावे यह प्रतिज्ञा करते हैं कि वह उसे ही दूसरी जातियों की अपेक्षा अपनी निजी प्रजा मानकर उसकी रक्षा करेंगे और उसे "प्रतिज्ञात देश" अर्थात् फिलिस्तीन में बसाएंगे। प्रतिज्ञा की शर्त यह है कि इब्रानी दूसरे देवताओं को छोड़कर यावे को ही अपना एकमात्र परमेश्वर मानें और "दशशील" में निहित उनके नियम का पालन करें। जैसा हम ऊपर कह चुके हैं, प्रकाशना एक ऐतिहासिक तथ्य है, जिसे देश-काल की विशेष परिस्थितियों के संदर्भ में सूचित किया जाता है।

उपर्युक्त 'विधान' धारणा पर चिंतन करने से इसका एक पहलू स्पष्ट हो जाता है, अर्थात् विधान का ऐकेश्वरवाद से सम्बन्ध। एकमात्र परमेश्वर पर विश्वास विधान से उत्पन्न इब्रानी धर्म का आधार ही है। ऐकेश्वरवाद में अन्य देवताओं का अपवर्जन भी निहित है। विधान का प्रमाण-पत्र, अर्थात् दशशील का मूलभूत आदेश इस बात की स्पष्ट रूप से अभिव्यक्ति करता है : "मैं प्रभु तुम्हारा ईश्वर हूं ....मेरे सिवाय कोई अन्य तुम्हारा ईश्वर नहीं होगा।"[46] विधान का दूसरा पहलू अन्य जातियों की अपेक्षा इब्रानी प्रजा का ही निर्वाचन है। यावे का उनसे कहना है कि "तुम सब राष्ट्रों में से मेरी अपनी प्रजा बन जाओगे"।[47] एकमात्र परमेश्वर पर विश्वास के समान एक ही प्रजा का निर्वाचन भी एक अपवर्जक भावना लगती है, कम से कम विधान के प्रारम्भिक रूप में। परवर्ती विकास के फलस्वरूप क्रमशः विधान-धारणा का विस्तार हुआ, जिसे बाद में स्पष्ट किया जाएगा।

नबी इब्रानी जाति सम्बन्धी घटनाओं की व्याख्या विधान के संदर्भ में किया करते थे। जो कुछ घटित होता था वह या तो इब्रानियों की सत्यप्रतिज्ञता के लिए परमेश्वर की ओर से आशिष, या इसके विपरीत विश्वासघात का दण्ड माना गया।

---

44. अंग्रेजी में "covenant" या Testament" (Old New) शब्दों का प्रयोग होता है।
45. 19.20.21
46. निर्गमन-ग्रन्थ 20.2:3
47. वही 19.5

इसी परिदृश्य से इतिहासकार पूर्व घटनाओं का भी वर्णन करने लगे। कालान्तर में विधान के विस्तार के साथ इब्रानी जाति के अतिरिक्त सम्पूर्ण मानव जाति एक आदि-विधान का पात्र मानी जाने लगी। इस सार्वभौम विधान का सन्दर्भ जल प्रलय से है, जिसके द्वारा परमेश्वर ने पापी मनुष्यों का विनाश किया था। नूह नामक धर्मात्मा, जो परिवार के साथ जल प्रलय से बचाया गया था, नयी मानव जाति का पुरखा होकर उसका प्रतिनिधि माना जा सकता है। विधान के रूप मे परमेश्वर उसे यह प्रतिज्ञा करता है : "मैं तुम्हारे लिए यह विधान ठहराता हूं : कोई भी प्राणी जल प्रलय से फिर नष्ट नहीं होगा और फिर कभी कोई जल प्रलय पृथ्वी को उजाड़ नहीं बनाएगा"।[48] फिर, अपनी प्रतिज्ञा के प्रमाण के रूप में परमेश्वर ने इन्द्रधनुष को आकाश में रखा। इस कहानी से स्पष्ट है कि इब्रानियों का दृष्टिकोण अपनी जाति तक सीमित नहीं बना रहा, वरन् सार्वभौम होने लगा था। वस्तुतः उपर्युक्त विधान प्रकृति से ही सम्बन्ध रखता है, जैसे इन्द्रधनुष के प्रतीक से स्पष्ट है, और सिर्फ इसी दृष्टिकोण से वह सार्वभौम है। धार्मिक दृष्टि से भी बाइबिल का दृष्टिकोण सार्वभौम होने लगा था, यह बात परवर्ती प्रसंग में स्पष्ट की जायेगी।

विधान-धारणा के विकास में एक महत्त्वपूर्ण अवस्था नवविधान की प्रतिज्ञा में मिलती है। 587 ई० पू० में राजधानी येरुसालेम का विनाश हुआ था और इब्रानी जाति का बाबुल में निर्वासन। इस विपत्ति की व्याख्या येरेमियस नबी[49] इस प्रकार करते हैं : 'इब्रानी जाति ने विधान को भंग किया, इसलिए उन्हें दण्ड मिला। फिर परमेश्वर की ओर से विधान चिरस्थायी बना रहता है'। नबी के शब्दों में प्राकृतिक नियमों के समान परमेश्वर की सत्यप्रतिज्ञता सर्वदा बनी रहेगी। इसलिए पूर्वविधान के बदले परमेश्वर अपनी प्रजा से एक नवविधान स्थापित करेगा। वह सिनाई-विधान से बढ़कर आध्यात्मिक स्वरूप का है : इसमें 'प्रतिज्ञात देश' की प्राप्ति के विषय में कोई चर्चा नहीं है। जैसे हम ने "ज्ञान" के प्रसंग में देखा है, इस विधान का नियम भौतिक अक्षरों में नहीं "प्रजा के हृदय" पर ही अंकित होगा। इस आंतरिक ईश-ज्ञान के आधार पर इब्रानी प्रजा का परमेश्वर से घनिष्ठ सम्बन्ध निर्भर होगा : "मैं उनका ईश्वर होऊंगा और वे मेरी प्रजा होंगे"।[50] हम यह प्रश्न उठा सकते हैं कि इस नव-विधान की प्रतिज्ञा कब पूरी हुई? ईसाइयों का दृढ़ विश्वास है कि ईसा मसीह ने ही उसे स्थापित किया। इसी दृष्टिकोण से नव-विधान पूर्व-विधान का संपूरक है, और तदनुसार बाइबिल का पूर्वार्द्ध उत्तरार्द्ध के अभाव में अपूर्ण होता। अगले अध्याय में स्पष्ट किया गया है कि किस प्रकार पूर्वार्द्ध धारणाओं की सम्पूर्णता ही उत्तरार्द्ध में मिलती है।

---

48. उत्पत्ति-ग्रन्थ 9.11
49. देखो 31.31 36
50. वही 31.33

विश्वास और सत्यप्रतिज्ञता

प्रकाशना के परिणामस्वरूप मानव में "ज्ञान" उत्पन्न होता है। इस प्रकार विधानों के प्रति मानव की भावना का "विश्वास" ही है। इब्रानी शब्द प्रयोग में किसी गूढ़ रहस्य की बौद्धिक स्वीकृति से बढ़कर "विश्वास" ईशवचन के प्रति निश्चयात्मक भरोसा ही है इस शाब्दिक परिभाषा से अधिक उपादेय सम्भवतः उसका तात्पर्य एक उदाहरण द्वारा स्पष्ट करना होगा। परम्परा के अनुसार इब्रानी जाति के कुलपति इब्राहिम मेसोपोटेमिया (शब्दार्थ: दो आब) के निवासी थे, जिनका जीवनकाल 1850 ई० पू० लगभग रहा। उन्हें परमेश्वर की वाणी सुनाई पड़ी, जिसने उनसे महान् प्रजा का कुलपति बनाने और एक बढ़िया देश में बसाने की प्रतिज्ञा की।[51] इस प्रकार इब्रानी इतिहासकारों ने अपनी जाति की उत्पत्ति का वर्णन एक पूर्ववर्ती 'विधान' के रूप में किया। वे इस 'विधान' के प्रति इब्राहिम की प्रतिक्रिया को विशेष महत्त्व देते हैं, यद्यपि उन्हें यह ज्ञात नहीं था कि मैं कहां बसूंगा, फिर भी वह ईश-वचन के बल पर ही अपनी मातृभूमि को छोड़कर परदेश भ्रमण पर निकल पड़े। सन्तान की प्रतिज्ञा के बावजूद बुढ़ापे तक उन्हें कोई पुत्र प्राप्त नहीं हुआ। इन कठोर परिस्थितियों में भी उन्होंने अपना विश्वास नहीं छोड़ा। इसके विपरीत, बाइबिल के शब्दों में, "इब्राहिम ने ईश्वर पर **विश्वास** किया और इस कारण प्रभु ने उसे धार्मिक माना"।[52] विश्वास इस अर्थ में "अंधा" कहा जा सकता है कि बिना देखे ही ईश-वचन को स्वीकार किया जाता है। फिर भी, विश्वास निर्मूल नहीं है, वह "सत्यप्रतिज्ञता" के विश्लेषण से स्पष्ट हो जाएगा।

परमेश्वर को इस अर्थ में "सत्य" कहा जाता है कि उसकी प्रतिज्ञाएं सत्य प्रतीत होती हैं। एक शब्द में परमेश्वर **'सत्यप्रतिज्ञ'** कहलाता है। "याद रखो कि तुम्हारा प्रभु ईश्वर सच्चा और सत्यप्रतिज्ञ ईश्वर है"।[53] ईश-सत्यप्रतिज्ञता (इब्रानी में "एमेत") का अर्थ "शुभचिंता" ("हेसेद") के सम्बन्ध से और स्पष्ट हो जाता है। परमेश्वर की प्रतिज्ञाएं मानव के शुभ की ही चिंता करती हैं। सत्यप्रतिज्ञता का दार्शनिक निहितार्थ है—परमेश्वर का निर्विकार स्वभाव। नये विधान के सम्बन्ध में हमने यह देखा है कि प्रभु का वचन प्रकृति-नियमों के समान चिरस्थायी और अचल बना रहता है; इस वचन के वक्ता को भी अपरिवर्तनीय होना आवश्यक है। सत्यप्रतिज्ञता के सन्दर्भ में यह बात भी हमारी समझ में आ सकती है, अर्थात् बाइबिल विधान की तुलना पति-पत्नी के सम्बन्ध से करती है। जिस प्रकार विवाह का बंधन अविच्छेद्य होता है, ठीक उसी प्रकार परमेश्वर और उसकी प्रजा विधान के अनुबंध

---

51. देखें उत्पत्ति-ग्रन्थ 17.1-14
52. वही 15.6 (पद 5 को देखें)
53. विधि-विवरण ग्रन्थ 7.9

में संयुक्त बने रहते हैं । इस विवाह-तुलना का मुख्य प्रतिपादक होशेया नबी हैं ।[54] उसने अपनी पत्नी को, पर पुरुषगमन के बावजूद, स्वीकार किया था । इस निजी अनुभव के अनुसार नबी ने विश्वासघाती इब्रानी प्रजा की तुलना एक परगामिनी पत्नी से की, जिसे क्षमाशील परमेश्वर ने पुनः अपनाया था । इससे प्रतीत होता है कि बाइबिल परम्परा में मानव जीवन के मूल-भूत अनुभव धार्मिक तत्त्वों के उदाहरण हो सकते हैं, कारण धर्म जीवन से सम्बन्ध रखता है । "सर्वश्रेष्ठ गीत" नामक बाइबिल ग्रन्थ, जिसे सुलेमान राजा की रचना माना जाता है, पति-पत्नी प्रेम का विवरण करते हुए भी, प्रायः ईश-प्रेम के प्रतीक के अर्थ में स्वीकृत किया जाता है । वह प्रेम सब कष्टों पर विजयी होता है, क्योंकि "प्रेम मृत्यु जैसा शक्तिशाली है ।"[55]

(ग) ईश-प्रजा का चयन

बाइबिल परम्परा के अनुसार परमेश्वर ने एक जाति विशेष, अर्थात् इब्रानी जाति से अपना विधान स्थापित किया । इसलिए विधान का विषय अनिवार्य रूप से चयन का प्रश्न उठाता है । परमेश्वर ने उसी जाति को अन्य जातियों की अपेक्षा क्यों चुना ? इब्रानी प्रजा का चयन तो बिलकुल सांयोगिक लगता है । "विश्वास" के सम्बन्ध में इस जाति की उत्पत्ति की चर्चा हुई । इब्राहिम को आकाशवाणी सुनाई पड़ी, जिसमें उनके एक महान् प्रजा के कुलपति होने की भविष्यवाणी की गई थी । उनसे इसहाक, याकूब, यूसुफ नामक कुलपतियों का वंश उत्पन्न हुआ । यूसुफ के समय उसकी जाति मिस्र में बस गई । गुलामी में पड़ने के बाद इब्रानी जाति ने मूसा के नेतृत्व में स्वतन्त्रता प्राप्त की । फिर, अरबी मरुभूमि में भ्रमण के समय परमेश्वर ने उसी जाति से अपना विधान स्थापित किया । उसी प्रजा का, उसी देश में उसी काल का चयन क्यों ? अन्य जातियों की उपेक्षा क्यों ? परमेश्वर यदि सर्वव्यापी है, उसका अधिकार सार्वभौम है, तो पक्षपात क्यों करता है ? अवश्य ही इस प्रकार के प्रश्न अनिवार्य हैं । अब हम इस समस्या का समाधान क्रमशः प्रस्तुत करने का प्रयत्न करेंगे ।

प्रथमतः, हमें याद करना है कि बाइबिल दृष्टिकोण के अनुसार प्रकाशना और इससे सम्बन्धित मुक्ति कार्य भी एक ऐतिहासिक घटना है । इस दृष्टिकोण से परमेश्वर का इतिहास की घटनाओं में हस्तक्षेप होता है । इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि मुक्ति-कार्य अनिवार्य रूप से देश-काल विशेष से सम्बन्ध रखता है : ऐतिहासिक बातें भौतिक होने के फलस्वरूप सापेक्ष होती हैं इसलिए विशेष देशकाल में एक विशेष जाति से विधान का स्थापित किया जाना अनिवार्य था । अमूर्त अर्थ में

54. होशेया, अध्याय 1-31
55. सर्वश्रेष्ठ गीत 8.6

सामान्य मानवता के लिए प्रकाशना बाइबिल दृष्टिकोण के पूर्णतः प्रतिकूल धारणा है जो ऐतिहासिक प्रकाशना का सिद्धांत स्वीकार करता है, उसे जाति विशेष का चयन भी अंगीकार करना पड़ेगा :

इस पहली बात के अतिरिक्त एक दूसरी आपत्ति का भी सामना करना है। किसी एक जाति का चयन ठीक हो, लेकिन इसी जाति, अर्थात् इब्रानी जाति का क्यों ? बस प्रश्न को बाइबिल में ही उठाया गया है। विधि-विवरण नामक ग्रन्थ का लेखक यह स्वीकार करता है कि दूसरी जातियों की अपेक्षा इब्रानी प्रजा की कोई श्रेष्ठता नहीं है सांस्कृतिक दृष्टिकोण से वह दूसरों से प्रवर नहीं, अवर ही है। फिर, उसके चयन का आधार क्या था ? परमेश्वर के प्रेम के सिवाय इसकी कोई व्याख्या नहीं हो सकती। लेखक अपने सहधर्मियों से यह कहता है कि :—"हमारे प्रभु ईश्वर ने पृथ्वी भर के सब राष्ट्रों में से तुम्हें अपनी निजी प्रजा चुना है। प्रभु ने तुम्हें इसलिए नहीं अपनाया और चुना है कि तुम्हारी संख्या दूसरे राष्ट्रों से अधिक थी, तुम्हारी संख्या तो सब राष्ट्रों से कम थी, परन्तु उसने तुम्हें इसलिए अपनाया कि प्रभु तुम से प्रेम करता है।"[56] प्रेम की व्याख्या शायद ग्राह्य होगी यदि हम इस बात को ध्यान में रखें, अर्थात् चयन जाति विशेष से सम्बन्धित होते हुए भी दूसरी जातियों का अपने में समावेश करता है। इब्रानी जाति के कुलपति से तो कहा गया था कि "तुम्हारे द्वारा पृथ्वी भर के वंश आशीर्वाद प्राप्त करेंगे।"[57]

एक जाति का चयन विधान के सार्वभौम दृष्टिकोण से प्रतिरोधी नहीं है। चयन की विशिष्टता का अंतिम परिणाम ईसा मसीह का इब्रानी जाति में जन्म लेना रहा। मानव इतिहास में परमेश्वर की ओर से इस परम हस्तक्षेप को भी देश-काल और जाति विशेष से सम्बन्धित होना अनिवार्य है। साथ ही ईसा मसीह को केवल इब्रानी जाति का नहीं, बल्कि सम्पूर्ण मानव जाति का मुक्ति-दाता माना जाता है।

ईश-प्रजा

विधान द्वारा परमेश्वर अपनी प्रजा को अपने आप से संयुक्त करता है : इससे स्पष्ट है कि बाइबिल विचारधारा में मुक्तिकार्य को एक सामाजिक कार्य माना गया है, मात्र व्यक्तिगत नहीं। समाज की एकता इतनी घनिष्ठ है कि एक ही व्यक्ति उसका प्रतिनिधि हो सकता है, जैसे आदम मानव जाति का, और इब्राहिम कुलपति या दाऊद राजा इब्रानी जाति का। यह "सामूहिक व्यक्तित्व" की धारणा[58] बाद

---

56. विधि-विवरण 7.6–8
57. उत्पत्ति ग्रन्थ 12.3
58. Corporate personality.

में मुक्ति-कार्य की व्याख्या करने के लिए उपयोगी होगी। सामान्य रूप से हम यह कह सकते हैं कि इब्रानी धर्म का स्वभाव सामाजिक है; इसके अनुसार उसके सामाजिक मूल्य भी धार्मिक अभिप्राय से ओत-प्रोत होते हैं। उदाहरणार्थ, इब्रानी प्रजा का निर्माण परमेश्वर की ओर से चयन के फलस्वरूप हुआ था। फिलिस्तीन देश उन्हें ईश-प्रतिज्ञा की पूर्ति में प्राप्त हुआ था। इतिहास के सिलसिले में मुक्ति-कर्ता परमेश्वर उनका पक्ष लिया करता था। फिर, इब्रानियों के सामाजिक जीवन की मुख्य अभिव्यक्ति एकमात्र परमेश्वर की उपासना थी। उनकी संस्थाएं मूसा की संहिता में, जो उन्हें परमेश्वर से ही मिली थी, समाविष्ट थीं। हां, इब्रानी भाषा तब तक उनकी संस्कृति का वाहक होने से बढ़ कर ईश-वचन का ही माध्यम मानी जाती थी। इसलिए न तो केवल इब्रानी जाति, अपितु उसके सामाजिक तत्त्व भी सब के सब धार्मिक तात्पर्य से सम्बन्ध रखते हैं।

फिर भी, जिस प्रकार इब्रानियों की चयनित प्रजा पूर्वविधान के फलस्वरूप उत्पन्न हुई थी, उसी प्रकार नव-विधान से परमेश्वर की नवीन प्रजा भी उत्पन्न होगी। उल्लेखनीय बात है कि जिस नवीन प्रजा में दुनिया भर की जातियां शामिल होंगी, उसका वर्णन इब्रानी जाति विषयक शब्दावली में किया गया है। इस तरह एक विशेष जाति सार्वभौम ईश-प्रजा का प्रतीक और केन्द्र बन जाती है। बाइबिल का सन्देश है कि इब्रानी जाति के समान अन्य राष्ट्रों का भी चयन होगा। उसकी भविष्यवाणी के अनुसार वे येरुसालेम के मन्दिर में एकत्रित होकर एकमात्र परमेश्वर की उपासना करेंगे। इन सब जातियों की मुक्ति के लिए परमेश्वर पूर्व घटनाओं को दोहराएंगे, जैसे मिस्र से इब्रानियों की मुक्ति। नव-विधान का नियम सबों के हृदय पर अंकित किया जाएगा। इसायस नबी के अनुसार प्रभु का कहना है कि "मैं सभी भाषाओं के राष्ट्रों को एकत्र करूंगा,"[59] मात्र इब्रानी बोलने वालों को ही नहीं। इस प्रकार प्रारम्भिक धार्मिक राष्ट्रवाद से सार्वभौम धर्म का आदर्श उत्पन्न होने लगा। इब्रानियों की 'चयनित जाति' क्रमशः नवीन चयनित प्रजा का प्रतीक और माध्यम बन गई।

परमेश्वर का सान्निध्य

अनेक पूर्वोक्त बातों से यह स्पष्ट है कि परमेश्वर अपनी प्रजा से दूर नहीं, उनके बीच में ही रहता है। उसके इतिहास की प्रत्येक अवस्था में यावे इब्रानियों का पथप्रदर्शन करते हैं, नबियों के द्वारा उन्हें अपना वचन सुनाते हैं, एक शब्द में सदैव उनके समीप रहते हैं। "पवित्रता" लक्षण के सन्दर्भ में हमने देखा है कि 'यावे' नाम का अर्थ है। "मैं वही हूँ जो **आपके साथ** हूँ।" इस ईश-सामीप्य का द्योतक

---

59. इसायस 66.18

एक दूसरा नाम भी है, 'एम्मानुएल'। घोर संकट में इसायस नबी ने एक ऐसे राज-कुमार के जन्म की घोषणा की 'जो पुनः शांति स्थापित करेगा'। उसका प्रतीकात्मक नाम/एम्मानुएल' रखा गया, जिसका शाब्दिक अर्थ है "**हमारे साथ है**।"[60] इसलिए मानव शासक के माध्यम से परमेश्वर अपनी प्रजा की रक्षा करता है।

परमेश्वर सदा अपनी प्रजा के बीच में निवास करता है। अपने इस दृढ़ विश्वास की भौतिक अभिव्यक्ति करना इब्रानियों के लिए स्वाभाविक ही था। फिर भी, मूर्ति बनाने के निषेध के फलस्वरूप उन्हें ईश-सान्निध्य को अमूर्त रूप से ही दिखाना पड़ा। इसलिए वे "विधान की मंजूषा" को अदृश्य परमेश्वर का सिंहासन मानने लगे। वह चन्दन जैसी बहुमूल्य लकड़ी का एक सन्दूक थी, जिसमें 'दशशील' के दो पट्ट, अर्थात् विधान का घोषणा-पत्र, रखे थे। इसके ढक्कन पर "केरूब" नामक दो स्वर्गदूत खड़े थे; वहीं यावे-परमेश्वर को अदृश्य रूप से विराजमान माना गया। अरबी मरुभूमि भ्रमण के समय विधान की मंजूषा एक तम्बू में रखी हुयी थी। बाद में जब राजा सुलेमान ने 967 ई० पू० में येरुसालेम में मन्दिर बनवाया, मंजूषा मन्दिर के गर्भगृह में रखी गई। इस भौतिक वर्णन से बढ़कर महत्त्व की बात यह है कि वह वस्तु ईश-सान्निध्य का एक प्रतीक थी। मूसा मंजूषा-तम्बू के पावन वातावरण में परमेश्वर से आदेश सुनने, परामर्श लेने और प्रार्थना करने के लिए जाया करते थे। इस आत्मीय साक्षात्कार के विषय में उल्लेख मिलता है। "प्रभु मूसा से आमने-सामने होकर इस प्रकार बात करता था, जैसे कोई अपने मित्र से बातें करता हो"[61] सामान्य रूप से परमेश्वर हर भक्त का अन्तर्यामी है, क्योंकि स्तोत्र के अनुसार : "प्रभु उन सबके निकट है, जो सच्चे मन से उसे पुकारते हैं।[62] इसलिए बाइबिल में परमेश्वर का सान्निध्य सामाजिक अर्थ में भी और व्यक्तिगत अर्थ में भी स्वीकृत है।

मुक्ति सम्बन्धी धार्मिक धारणाएं

(क) पाप, अशुभ का मूल स्रोत

सामान्य रूप से यह कहा जा सकता है कि अशुभ से मुक्त होना ही मुक्ति है। बाइबिल के अनुसार अशुभ का मूलस्रोत पाप है। पाप से अशुभ कैसे उत्पन्न हुआ, पाप की दुष्टता क्या है; इन दो बातों को आदि-पाप का वर्णन[63] समझाता है। ध्यान में रखना चाहिए कि वह एक व्याख्यात्मक कहानी है; जबकि उसमें प्रति-पादित तथ्य कल्पित मात्र हैं। लेकिन कथा का तात्पर्य सत्य ही है। यह बात भी याद करें कि धर्म के सामाजिक स्वभाव के फलस्वरूप आदि-मानव सम्पूर्ण मानव

---

60. इसायस 7.14
61. निर्गमन ग्रन्थ 33.11
62. स्रोत 145.18
63. उत्पत्ति, ग्रन्थ अध्याय 3

जाति का प्रतिनिधि माना जा सकता है। फलतः आदि-पाप का प्रभाव सम्पूर्ण मानव जाति पर पड़ना अनिवार्य था। बाह्य दृष्टिकोण से आदम का पाप यह था कि उसने अदन-वाटिका में परमेश्वर के नियम को भंग कर वर्जित वृक्ष का फल तोड़कर खाया। वास्तव में दिव्य आदेश के इस उल्लंघन द्वारा मानव परमेश्वर के अधीन होने से इनकार करता है। फिर निषिद्ध फल खाने से मानव का उद्देश्य था, 'शुभाशुभ विषयक ज्ञान की प्राप्ति, जो परमेश्वर का विशेषाधिकार था।' बहकाने वाले सर्प के शब्दों में : "यदि तुम (मानव) उस वृक्ष का फल खाओगे, तो तुम्हारी आंखें खुल जाएंगी। तुम्हें भले-बुरे का ज्ञान हो जाएगा इस प्रकार तुम देव जैसे बन जाओगे।"[64] इन अन्तिम शब्दों से स्पष्ट हो जाता है कि पापी मानव परमेश्वर से अपना तादात्म्य सिद्ध करने की अभिलाषा करता है। वैसे, परमेश्वर ने अपने सदृश बनाया है, लेकिन जैसा पहले कहा गया है, सादृश्य का तात्पर्य भेद का अभाव नहीं है। परमेश्वर से अभिन्न हो जाने का अभिमान ही पाप की जड़ है।

इतने गुरुतर पाप का फल सार्वभौम घोर संकट होना अनिवार्य था। आदि-सृष्टि की सुव्यवस्था के बदले संसार में हर प्रकार का दुःख उत्पन्न हुआ। इसके फलस्वरूप पुरुष को जीविका कमाने के लिए परिश्रम का बोझ उठाना पड़ता है, नारी प्रजनन में दुःख-तकलीफ सहती है, फिर, मानव जाति में फूट होने लगी: आदि-पाप के तुरन्त बाद बाइबिल में पहली भ्रातृहत्या का वर्णन मिलता है।[65] पापी मनुष्य ने परमेश्वर से भी अपना सम्बन्ध भग किया। आदि ईश-सान्निध्य के बदले अब मानव का हृदय परमेश्वर के सामने भय से भर गया। अन्त में सांसारिक निचोड़ दुःख भी उत्पन्न हुए जिनकी परणति मृत्यु में है। पतित मानव से सृष्टिकर्त्ता का कहना है "तू उस मिट्टी में ही मिल जाएगा, जिससे तू बनाया गया है।"[66] इन उदाहरणों से बाइबिल में यह स्पष्ट किया गया है कि दुःखों का मूल-कारण मानव का पाप ही है। पाप मात्र एक भूल नहीं है, बल्कि उससे एक ऐसी दुःखमय स्थिति उत्पन्न होती है जो सार्वभौम है। इसका प्रमाण मानव की मरणशीलता ही है : सब मनुष्यों को इसलिए मरना पड़ता है कि वे सब के सब पाप के अधीन हैं।

अशुभ की समस्या

उपर्युक्त वर्णन में अशुभ समस्या का समाधान भी अव्यक्त रूप से निहित है। यद्यपि जो कुछ परमेश्वर ने बनाया है, वह सब भला ही बना हुआ है, लेकिन मानव-पाप के फलस्वरूप सुव्यवस्थित सृष्टि में अशुभ की विद्यमानता सृष्टिकर्त्ता के शिवत्व का विरोधी नहीं है। बाइबिल में सृष्टिकर्त्ता को अशुभ से निर्लिप्त सिद्ध करने की

64. वही 3.5
65. उत्पत्ति ग्रन्थ 4. 1. 8.
66. वही 3.19

आवश्यकता नहीं है। वास्तव में बाइबिल के दृष्टिकोण से अशुभ की समस्या उसकी उत्पत्ति का प्रश्न नहीं है, बल्कि उसकी न्यायसंगति का ही। अशुभ तो पाप का फल है, फिर धर्मी को दुःख क्यों ? बाइबिल इस मिथ्या समाधान से दूर रहती है जिसके अनुसार अशुभ आभास मात्र होता है। इसके विपरीत अशुभ को तत्त्वमीमांसात्मक दृष्टिकोण से एक **यथार्थ** तत्त्व माना जाता है। इतना ही नहीं, अशुभ एक **अनुचित** तत्त्व भी प्रतीत होता है, एक ऐसा तत्त्व जिसे नहीं होना चाहिए था। मानव जाति द्वारा अवांछित होने के कारण ही जिससे मानव को मोक्ष प्राप्त करने का प्रयत्न करना पड़ता है। बाइबिल का दृष्टिकोण निराशावादी भी नहीं है।

वास्तव में अशुभ समस्या समाज से नहीं, व्यक्ति से ही सम्बन्ध रखती है। कारण, इब्रानी जाति की विपत्तियां विधान के प्रति विश्वासघात के लिए सजा मानी जाती थीं। अधर्मी व्यक्ति के विषय में भी ऐसा मानने में कठिनाई नहीं उठ सकती। परन्तु धर्मी का दुःख पूर्ण रूप से अस्वीकृत प्रतीत होता है। बाइबिल का योब एक आदर्श धार्मिक व्यक्ति माना जाता है, जिसे धार्मिकता के बावजूद दुःख का भोग करना पड़ता है। 'योब' नामक ग्रन्थ बहुत विस्तार से इस समस्या को हल करने की कोशिश करता है। उसके रचनाकाल, अर्थात् 5 वीं शताब्दी ई०पू० में इब्रानियों को 'परलोक' से परिचय नहीं था। मात्र ऐहिक दृष्टिकोण से अशुभ का समाधान कर पाना सम्भव नहीं। इसलिए योब ग्रन्थ में प्रस्तुत किये हुए उत्तर अधूरे ही रहते हैं। उसके अनुसार अशुभ द्वारा परमेश्वर धर्मी की परीक्षा करता है: इसलिए मानव को यह मानकर कि ईश-प्रज्ञा मानव अविद्या से परे है, परमेश्वर पर अपना भरोसा रखना है। धर्म-प्राण व्यक्तियों की अकाल मृत्यु की व्याख्या भी उल्लेखनीय है। प्रज्ञा-ग्रन्थ के अनुसार परमेश्वर अल्पवयस्क धर्मात्मा को इसलिए संसार से निकाल लेता है कि उसे बुराई के प्रलोभन से बचाया जा सके "वह इसीलिए उठा लिया गया कि कहीं उसकी बुद्धि विकृत न हो जाये, और उसकी आत्मा कुमार्ग पर न भटक जाये।"[67]

सब से बुरा अशुभ भौतिक क्षेत्र का नहीं, नैतिक ही है। पाप तो अशुभ का स्रोत ही है। इसलिए जो अशुभ से मुक्ति प्राप्त करना चाहता है, उसे पाप को छोड़ना चाहिए। पाप से विमुख होकर परमेश्वर की ओर मुड़ना, इस भाव को **'मानस परिवर्तन'** कहते है। फिर उससे उत्पन्न स्थायी मनोभाव "पछतावा" कहा जाता है। बाबुल-निवार्सन के समय येरेमियस और एज़ेकिएल नबियों ने भ्रष्टाचारी इब्रानी प्रजा को मानस परिवर्तन का बहुत उपदेश दिया। वे उनसे दुर्व्यवहार छोड़कर सदाचरण अपनाने का आग्रह करते थे। विशेष रूप से वे इस बात पर बल देते थे कि मानस परिवर्तन आंतरिक होना चाहिए; भीतरी मनोभाव के बिना शुद्धि या

67. प्रज्ञा ग्रन्थ 4.11

प्रायश्चित की धर्मविधि व्यर्थ ही होगी। इस आध्यात्मिक मानस परिवर्तन की सर्वश्रेष्ठ अभिव्यक्ति लैटिन भाषा में "मिसेरेटे" अर्थात् 'दया करो' नामक स्तोत में मिलती है। इसमें पश्चातापी भक्त की प्रार्थना इस प्रकार है: "मेरा हृदय फिर शुद्ध कर, और मेरी आत्मा सुदृढ़ बना। अपने सान्निध्य से मुझे दूर न कर, और अपनी पवित्र आत्मा को मुझसे न हटा।"[68]

(ख) मुक्ति

मानव अपने आप ही अशुभ से मुक्ति नहीं प्राप्त कर सकता है। कारण, मूलभूत अशुभ अर्थात् पाप के फलस्वरूप मानव परमेश्वर से अपना सम्बन्ध तोड़ लेता है। परमेश्वर को छोड़कर दूसरा कोई उसे फिर शुभत्व में स्थापित नहीं कर सकता है। इब्रानी प्रथा के अनुसार यावे को अपनी प्रजा का "गोएल" या नाथ माना जाता है। "गोएल" को अपने निस्सहाय रिश्तेदारों की रक्षा करनी थी, जैसे अपने भाई की विधवा की, उसके अनाथ बच्चों की, इत्यादि। इस प्रकार परमेश्वर भी अपनी निर्वाचित प्रजा को संकट से बचाता है, विशेष रूप से वह दीन-हीनों की रक्षा करता है।

अन्य धार्मिक आस्थाओं के समान, मुक्तिकर्त्ता परमेश्वर पर विश्वास भी सामाजिक अनुभव से उत्पन्न हुआ था। इब्रानियों के लिए ईश्वर से प्राप्त मुक्ति का आदर्श मिस्र की गुलामी से छुटकारा था। उनका दृढ़ विश्वास था कि उन्होने परमेश्वर की सहायता से ही 'लाल समुद्र' को पार किया था, जब कि उनके शत्रु उसमें डूब गए थे।[69] बाद में बाबुल-निर्वासन के समय मुक्ति की प्रतीक्षा नबी फिर इस प्रकार प्रस्तुत करेंगे मानो प्रतिगमन एक नया निर्गमन होगा।[70] इस ऐतिहासिक संदर्भ में आध्यात्मिक मुक्ति की आशा भी उत्पन्न होने लगी। यह विकास 'मसीह' के आगमन की प्रतीक्षा से सम्बन्ध रखता है।

"मसीह" नामक मुक्तिकर्त्ता की प्रतीक्षा

"मसीह" का नाम एक इब्रानी शब्द की अनुरूपता में रचित है। इसका शाब्दिक अर्थ है: "अभिषिक्त" इस नाम के यूनानी अनुवाद, अर्थात् 'ख्रिस्तोस' के अनुसार "मसीह" को हिन्दी में "ख़ीस्त" भी कहा जाता है, अंग्रेजी में "ख़ाइस्ट" इब्रानी प्रथा के अनुसार राजा को तेल के अभिषेक द्वारा यावे का प्रतिनिधि नियुक्त किया जाता था। बाबुल निर्वासन के पश्चात् महायाजक का भी अभिषेक होने लगा। विशेष अर्थ में "मसीह" प्रत्यय की निम्नलिखित परिभाषा दी जा सकती

---

68. स्तोत्र 51.12-13
69. निर्गमन ग्रन्थ, अध्याय 14.15
70. इब्रानियों का मिश्र से निकलना 'निर्गमन' कहलाता है। बाबुल-निर्वासन से मुक्ति 'प्रतिगमन' कहा जाता है।

है : 'मसीह दाऊदवंश का वह राजा है जो इब्रानियों में प्रचलित प्रतीक्षा के अनुसार यावे-राज्य की स्थापना करेगा' । ध्यान देने योग्य है कि मसीह को देव जैसा नहीं, बल्कि मानव ही माना जाता था। बाइबिल-विचारधारा के अनुसार केवल एक परमेश्वर है। दिव्य अभिषेक का पात्र होते हुए भी आदर्श राजा मानव मात्र बना रहता है। वास्तव में, मसीह सम्बन्धी बाइबिल का दृष्टिकोण लौकिक और राजनीतिक ही था। फिर, पूर्वोक्त पारिभाषिक अर्थ में बाइबिल के उत्तरार्द्ध में "मसीह" शब्द का प्रयोग नहीं मिलता है। वह तो केवल दीर्घ विकास के परिणामस्वरूप ही उत्पन्न हुआ, जिसका वर्णन अभी किया जाएगा। "मसीह" प्रत्यय तो धार्मिक धारणा से बढ़कर एक ऐतिहासिक तत्त्व ही है।

मसीह-प्रतीक्षा का इतिहास तीन मुख्य अवस्थाओं में विभाजित किया जा सकता है। उसकी उत्पत्ति दाऊद राजा के शासनकाल में हुई, अर्थात् लगभग 1000 ई०पू०। उस समय परमेश्वर की ओर से दाऊद को यह प्रतिज्ञा दी गई थी कि उसका राजवंश अनन्त काल तक येरुसालेम राजधानी में शासन करता रहेगा। ईश-वचन के साक्षी नाथान नबी के शब्दों में "तुम्हारा (दाऊद का) वंश और तुम्हारा राज्य मेरे सामने बने रहेंगे और उसका सिंहासन अनन्त काल तक सुदृढ़ रहेगा।"[71] निस्संदेह, यहां जिस राज्य की चर्चा है, वह लौकिक स्वभाव का है। फिर भी वह एक आदर्श राज्य है जिसमें पद-दलितों को न्याय मिलता है। एक राज-स्तोत्र के शब्दों में "वह (दाऊद वंश का राजा) विनम्र लोगों की रक्षा करेगा, वह निर्धनों की सन्तानों का उद्धार करेगा।"[72] तिस पर भी इस पहली अवस्था में जिस आगामी राज्य की प्रतीक्षा की जाती है, वह दाऊद के ऐतिहासिक राज्य से सम्बन्ध रखता है। इसलिए आरम्भ में मसीह-प्रतीक्षा का परिदृश्य ऐहिक ही लगता है। परन्तु दूसरी अवस्था में कुछ परिवर्तन दिखाई देता है। 8 वीं शताब्दी ई० पू० में दाऊद वंश की अवनति होने लगी थी, क्योंकि परवर्ती राजा मूर्तिपूजक बनकर विधान का उल्लंघन किया करते थे। इसलिए राज-वंश बने रहने की अपेक्षा इब्रानी प्रजा उसकी पुनः स्थापना की आशा करने लगी। अब आने वाले राजा का आदर्श इतना सांसारिक नहीं, जितना आध्यात्मिक था। इतना ही नहीं : इसायस नबी उसके विषय में एक अनसुनी भविष्यवाणी करते हैं यह कह कर कि : 'राज्याधिकार उसके कन्धों पर रखा गया है और उसका नाम होगा : अपूर्व परामर्श-दाता, शक्तिशाली ईश्वर, शाश्वत पिता, शान्ति प्रदान करने वाला राजा।"[73] स्पष्ट रूप से यह किसी वास्तविक राजा का वर्णन नहीं हो सकता है, बल्कि एक आदर्श राजा का। कालान्तर में दाऊद के योग्य उत्तराधिकारी के अभाव में, इब्रानी भविष्य में एक सर्वश्रेष्ठ राजा

71. समूएल का दूसरा ग्रन्थ 7.16
72. स्तोत्र 72.4
73. इसायस 9.5

की आशा करने लगे। मसीह प्रतीक्षा की तीसरी अवस्था निर्वासन-अवधि के पश्चात् अर्थात् 538 ई. पू. से शुरू हुई। उस समय दाऊद-वंश का सर्वनाश हुआ था। किसी मानव उत्तराधिकारी की अनुपस्थिति में इसकी आशा नहीं थी कि दाऊद राजा को की हुई प्रतिज्ञा कभी पूरी हो जाएगी। इसके फलस्वरूप इब्रानी प्रजा उस दिन की प्रतीक्षा करने लगी जब 'यावे स्वयं ही अपनी प्रजा पर शासन करने आवेंगे।' इसायस नामक ग्रन्थ के अनुसार येरुसालेम राजधानी को एक अग्रदूत यह शुभ संदेश घोषित करता है कि "तेरा ईश्वर राज्य करता है।"[74] इस सम्पूर्ण विकास का परिणाम है कि मसीह-प्रतीक्षा अधिक आध्यात्मिक बन जाने के साथ-साथ अनिश्चित भविष्य के लिए भी स्थगित कर दी गई। ईसा जन्मकाल में मसीह-प्रतीक्षा इस रूप में प्रचलित थी।

"यावे का दास"

"मसीह" प्रत्यय के अतिरिक्त आगामी मुक्तिकर्त्ता की प्रतीक्षा "यावे-दास" के सन्दर्भ में भी मिलती है। "प्रभु का दास" आदरसूचक उपाधि के रूप में मूसा नबी या दाऊद राजा के विषय में प्रयुक्त किया जाता था। दाऊद का आदर्श उत्तराधिकारी भी अर्थात् 'मसीह', 'प्रभु का दास' कहलाता था।[75] जबकि 'मसीह' प्रतापी राजा के रूप में चित्रित किया जाता है, "प्रभु का दास" एक दुःखभोक्ता के रूप में प्रस्तुत किया जाता है। इस रहस्यमय व्यक्ति का वर्णन इसायस ग्रन्थ की "यावे-दास" नामक चार कविताओं में मिलता है।[76] चौथी कविता के विश्लेषण से "यावे-दास" के निम्नलिखित विशिष्ट लक्षण मिलते हैं। 1 : वह दुःख सहनेवाला व्यक्ति है, 2 : फिर भी, जो दुःख वह सहता है, उसे दूसरों के बदले ही सहता है तथा 3 : इसके फलस्वरूप दूसरों को मुक्ति प्राप्त होती है। आइए, हम इन तीनों बातों पर उद्धरण-सहित विस्तृत रूप में विचार करें।

यावे-दास का दुःख इतना भयंकर हुआ कि उसमें सौंदर्य का कोई आकर्षण नहीं रहा। "उसकी आकृति इतनी विद्रूप हो गई थी कि वह मनुष्य नहीं जान पड़ता था।"[77] इब्रानियों के अनुसार दुःख पाप का फल है, इसलिए दूसरे लोग 'दुःखी दास' का तिरस्कार करते हैं। फिर भी, नबी का कहना है कि वास्तव में दास अपना कर्म-फल नहीं भोगता है, बल्कि दूसरों का : दूसरों के कुकर्मों का दण्ड उसी पर पड़ता है। कवि के शब्दों में "वह (दास) हमारे ही रोगों को अपने ऊपर लेता था और हमारे

---

74. इसायस 52.7। इसायस ग्रन्थ का दूसरा भाग (अध्याय 40 से 55 तक) निर्वासन-अवधि के अन्त मे रचा हुआ है।
75. एजेकिएल 34.23.24
76- 42.1.7 ; 49.1-6 ; 50.4.9 : 52.13-53.12
77. इसायस 52.14

ही दुःखों से लदा हुआ था। "उसी पर प्रभु ने हम सबों के पापों का भार डाल दिया।"[78] हां, यावे-दास मृत्यु तक को दूसरों के बदले सहन करता है : "उसने प्रायश्चित के रूप में अपना जीवन अर्पित किया।"[79] लेकिन यह दुःख-भोग व्यर्थ नहीं हुआ : इसके परिणामस्वरूप दास सबों के लिए मुक्ति प्राप्त करता है : उसने दुःख सहकर जिन बहुतों का अधर्म अपने ऊपर ले लिया था, वह उन्हें उनके पापों से मुक्त करेगा।"[80]

इस वर्णनात्मक प्रतिपादन से निम्नलिखित बातें निकाली जा सकती हैं : पहली, दुःख-भोग के फलस्वरूप मुक्ति की प्राप्ति हो सकती है। इब्रानी विचारधारा में यह बात बोधगम्य ही है। यदि पाप से दुःख उत्पन्न हुआ, तो दुःख-भोग द्वारा पाप-बन्धन से मुक्ति भी हो सकती है। दूसरी, एक व्यक्ति दूसरों के लिए प्रायश्चित कर सकता है। कारण, धर्म की सामाजिक धारणा के परिप्रेक्ष्य में एक व्यक्ति को समाज का प्रतिनिधि होना असम्भव नहीं है। तीसरी, "यावे-दास" प्रत्यय "मसीह" प्रत्यय का सम्पूरक है—एक अधिक लौकिक, दूसरा अधिक आध्यात्मिक दृष्टिकोण का बोध कराता है।

(ग) पुनरुत्थान स्वरूप अमरता

पूर्वार्द्ध विचारधारा की अंतिम अवस्था में अमरता पर विश्वास उत्पन्न हुआ। इससे अशुभ-समस्या का पूर्वोक्त अधूरा समाधान पूरा हो गया। फलतः पर-लोक पर विश्वास मुक्ति से भी सम्बन्ध रखता है। मुक्ति तो अशुभ से मुक्त होना ही है। पूर्वार्द्ध में अधिकांशतः ऐहिक दृष्टिकोण को अपनाया गया है। इसके अलावा उसमें प्रचलित मानव-धारणा एकात्मक है : आत्मा और शरीर मानव-ढांचे के भिन्न-भिन्न अवयव नहीं, बल्कि समष्टि के पहलू मात्र हैं। इसलिए यह मान्यता अनिवार्य थी कि अमरता की प्रतीक्षा के अभाव में मृत्यु के फलस्वरूप सम्पूर्ण मानव नष्ट हो जाता है। आत्मा का शरीर से सम्बन्ध इतना घनिष्ठ था, कि शरीर के साथ आत्मा को भी नष्ट होना पड़ता था। इसके विपरीत अमरता की धारणा के उदय के साथ-साथ सम्पूर्ण मानव का मृत्यु से बचना एक स्वाभाविक निष्कर्ष था। मानव की एकता के दृष्टिकोण से शरीर की अपेक्षा केवल आत्मा की अमरता अस्वीकार्य थी। संपूर्ण मानव का मृत्यु के बाद फिर जी उठना ईसाई शब्दावली में "पुनरुत्थान" कहा जाता है। इन तीन कारणों से "पुनरुत्थान" "पुनर्जन्म" से भिन्न है। पहला, पुनर्जन्म के अनुसार शरीर के मरणशील होते हुए भी, आत्मा अमर बनी रहती है; दूसरा, आत्मा संसार में ही फिर नया शरीर धारण करती है; तीसरी, पुनर्जन्म की बारंबार आवृत्ति होती है।। इसके विपरीत, बाइबिल के अनुसार, सम्पूर्ण मानव को शरीर

78 वही, 53.4,6
79. वही 53.10
80. वही 53,11

और आत्मा के साथ मृत्यु से फिर जिलाया जाता है, पुनरुत्थान इहलोक में नहीं परलोक में होता है ; फलतः वह एक बार ही हो सकता है।

ध्यान देने योग्य बात है कि अमरता पर विश्वास उस काल में उत्पन्न हुआ जब अशुभ समस्या बहुत तीव्र हो गई थी ; इसलिए उसका सन्तोषजनक समाधान पाना बहुत आवश्यक था। ईसवी पूर्व दूसरी शताब्दी में तानाशाह अंतियोखुस के शासनकाल में इब्रानियों को घोर उत्पीड़न सहना पड़ा। इन परिस्थितियों में दानिएल नबी ने यह लिखा कि: "जो लोग पृथ्वी की मिट्टी में सोए हुए हैं, वे बड़ी संख्या में जाग जाएंगे, कुछ अनन्त जीवन के लिए और कुछ अनन्त काल तक तिरस्कृत और कलंकित होने के लिए"।[81] मृतकों के पुनरुत्थान के सिवा। उपर्युक्त उद्धरण की निम्नलिखित बातें उल्लेखनीय हैं। "मिट्टी" के उल्लेख से स्पष्ट है कि शरीर को भी जिलाया जाता है। वह तो मिट्टी से ही गढ़ा हुआ है और फलतः मृत्यु के पश्चात् इसी में विलीन हो जाता है। फिर, धर्मियों को और अधर्मियों को भिन्न-भिन्न पारलौकिक भाग्य मिलता है। पुनरुत्थान की आवृत्ति नहीं हो सकती है: मानव तो अनंत काल तक नव-जीवन प्राप्त करता है। उसी काल का एक दूसरा उद्धरण अमरता-विश्वास का प्रमाण देता है। "सात शहीद-भाइयों" में से एक का कहना इस प्रकार है :—"संसार का राजा (अर्थात् परमेश्वर), जिसके नियमों के लिए हम मर रहे हैं, हमें पुनर्जीवित कर अनन्त जीवन प्रदान करेगा।"[82] इससे यह स्पष्ट है कि पुनरुत्थान मानव की शक्ति से नहीं, परमेश्वर की सर्वशक्तिमत्ता से ही सम्भव है। उसी ने तो सृष्टि की थी, इसलिए वही पुनःसृष्टि भी कर सकता है। शारीरिक पुनरुत्थान का स्पष्ट उल्लेख कुछ आगे मिलता है, जहां एक-दूसरे शहीद का कहना है कि: "ईश्वर की ओर से मुझे ये अंग मिले (अर्थात्, शारीरिक अंग)....; मेरा विश्वास है कि ईश्वर इन्हें मुझ को लौटा देगा।"[83] फिर भी इस कथन को इस अर्थ में न समझा जाए, कि अमर आत्मा को नवीन शरीर मिलेगा। पुनरुत्थान सम्पूर्ण मानव को अमरता की देन है, उसके शरीर को भी, आत्मा को भी।

उपसंहार

उपसंहार के रूप में हम इब्रानी धर्म की एक विशेषता पर कुछ चिंतन करना चाहेंगे, अर्थात् उसका ऐतिहासिक स्वभाव। परमतत्त्व की प्रकाशना प्रत्यक्ष घटनाओं के माध्यम द्वारा अभिव्यक्त की जाती है। मुक्ति कार्य भी लौकिक संकट से होता है, जैसे मिस्र की गुलामी से या बाबुल-निर्वासन से। विधान इब्रानी राष्ट्र की उत्पत्ति से सम्बन्ध रखता है। स्पष्टतः ऐतिहासिक स्वभाव इब्रानी धर्म का विशेष लक्षण है। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं कि इब्रानी धर्म का तात्पर्य सांसारिक घटनाओं तक

81. दानिएल का ग्रन्थ 12 2
82. मक्काबियों का दूसरा ग्रन्थ 7.9
83. वही; 7.11

सीमित है, नहीं तो वह देश-काल विशेष तक सीमित धार्मिक राष्ट्रवाद मात्र होता। वास्तव में 'ऐतिहासिक स्वभाव' से तात्पर्य इतना ही है कि लौकिक घटनाओं में ईश-हस्तक्षेप के फलस्वरूप इतिहास पारलौकिक महत्त्व को प्राप्त कर "पुनीत इतिहास" बन जाता है। परमेश्वर लोकातीत होते हुए भी संसार में क्रियाशील है, यह इब्रानियों की अन्तर्यामिता की मौलिक धारणा है। दूसरे शब्दों मे इब्रानी दृष्टिकोण से धर्म मात्र आध्यात्मिक तत्त्व नहीं, इहलोक से भी सम्बन्ध रखता है।

इब्रानी धर्म का **सामाजिक** पहलू ऐतिहासिक स्वभाव से सम्बन्ध रखता है। इतिहास तो निजी बात नहीं आम ही है। फलतः ऐतिहासिक स्वरूप का धर्म मात्र व्यक्तिगत नहीं हो सकता है, उसे सार्वजनीन भी होना अनिवार्य है। अवश्य ही, व्यक्ति का भी अपना स्थान है। वह तो ईश-प्रकाशना का मध्यस्थ हो सकता है, जैसे नबी के उदाहरण में। व्यक्ति पूर्ण समाज का प्रतिनिधि भी हो सकता है, जैसे मसीह। वास्तव में व्यक्तिगत दृष्टिकोण का विस्तार क्रमशः हुआ, विशेषकर नैतिक उत्तरदायित्व के विषय में या अमरता के प्रसंग में। इब्रानी धर्म में सामाजिक पहलू इतना विस्तृत है कि राष्ट्रीयता के बावजूद उससे एक सार्वभौम परिप्रेक्ष्य भी उत्पन्न हो सका।

फिर, ऐतिहासिक स्वरूप से **अनुभवात्मक** स्वभाव का निष्कर्ष भी निकाला जा सकता है। इब्रानी धर्म में धर्म-सिद्धांतों का अभाव नहीं है, जैसे परमेश्वर की एकता, उसका लोकातीतत्व, इत्यादि। फिर भी, इन सबों का मूल स्रोत है "पुनीत इतिहास" पर आश्रित अनुभव। घटनाओं की जिस व्याख्या को नबी प्रस्तुत करते हैं, वह भी उन्हें सिर्फ धार्मिक अनुभव के परिणामस्वरूप मिली थी। अन्त में, इब्रानी धर्म दर्शन मात्र नहीं हो सकता है। कारण, वह तथ्यों पर निर्भर है, चिंतन मात्र से उत्पन्न नहीं हुआ है। जो चिंतन मिलता है, उसका विषय घटनाओं का पारलौकिक तात्पर्य है। इस ऐतिहासिक या तथ्यात्मक संदर्भ के कारण धार्मिक चिंतन अनुमान मात्र तक सीमित नहीं रह सकता। इसमें तथ्याश्रित अनुभव की प्रधानता अनिवार्य है। अवश्य ही, इब्रानी धर्म में से अनेक दार्शनिक निहितार्थ भी निकाले जा सकते हैं। फिर भी, अपने ऐतिहासिक स्वभाव के कारण इब्रानी धर्म पूर्ण रूप से दर्शन का विषय नहीं हो सकता है। यहां धर्म और दर्शन के उस प्रभेद की जड़ मिलती है, जिसका विस्तार ईसाई विचारधारा में किया जायगा।

अध्याय 2

बाइबिल उत्तरार्द्ध की मुख्य धारणाएं

भूमिका

(क) बाइबिल उत्तरार्द्ध क्या है ?

जैसा पहले कहा जा चुका है बाइबिल ग्रन्थ दो खण्डों में उपलब्ध है—पूर्वार्द्ध तथा उत्तरार्द्ध । बाइबिल उत्तरार्द्ध में उन लेखों का संग्रह है जिन्हें ईसाई प्रामाणिक मानते हैं । इस उत्तरार्द्ध को ही 'न्यू टेस्टामेण्ट' कहा जाता है । इसके विपरीत यहूदी पूर्वार्द्ध को ही धर्म-ग्रन्थ के रूप में स्वीकार करते हैं । इसके अतिरिक्त पूर्वार्द्ध के सभी ग्रन्थ ईसवी पूर्व में रचित हैं, जबकि उत्तरार्द्ध का रचना-काल ईसा-मसीह की मृत्यु से लेकर[1] पहली शताब्दी के अन्त तक का है । उत्तरार्द्ध के संग्रह में निम्नलिखित ग्रन्थ शामिल हैं । पहला, "सुसमाचार" अर्थात् "शुभ संदेश" नामक ईसा-मसीह के चार जीवन-चरित । इनमें से पहले तीन बहुत हद तक मिलते-जुलते हैं, इसलिए ये "सहदर्शी सुसमाचार" कहलाते हैं ।[2] परम्परा के अनुसार सुसमाचार के लेखक हैं : संत मत्ती, संत मारकुस, संत लूकस और संत योहन । संत लूकस "प्रेरितचरित" नामक एक दूसरी रचना के भी लेखक हैं, जिसमें उन्होंने आदि-चेलों के धर्म-प्रचार का वर्णन किया है । उसके मौलिक "सुसमाचार" के अलावा, संत योहन के और तीन "पत्र" उपलब्ध हैं । फिर, उन्होंने अपने "प्रकाशना" ग्रन्थ में प्रतीकात्मक दर्शनों का विस्तारपूर्वक उल्लेख किया है । दूसरे, आदि-चेलों के भी अनेक "पत्र" मिलते हैं जिनमें सबसे प्रसिद्ध हैं संत पौलुस के पत्र । इन पत्रों में भिन्न-भिन्न आदि "कलीसियाओं," अर्थात् धर्म-मंडलियों के नाम दिए उपदेश के रूप में धर्म-सिद्धान्तों का प्रतिपादन मिलता है । उत्तरार्द्ध सम्पूर्ण बाइबिल का चौथाई है । वर्तमान रूप में उसके सम्पूर्ण ग्रन्थों की मूल भाषा यूनानी ही है ।

(ख) पूर्वार्द्ध से सम्बन्ध

ईसाई दृष्टिकोण से पूर्वार्द्ध उत्तरार्द्ध की भूमिका जैसा है, तथा उत्तरार्द्ध

---

1. ईसा मसीह की मृत्यु 7 अप्रैल 30 ई० हुई ।
2. यूनानी शब्द से व्युत्पन्न "Synoptic gospels" का अनुवाद ।

पूर्वार्द्ध का संपूरक है। यह बात एक-दो उदाहरणों द्वारा स्पष्ट की जा सकती है। निर्वासन-काल से लेकर उस पूर्वविधान के बदले, जिसे इब्रानियों ने भंग किया, एक नव-विधान की प्रतीक्षा की जाने लगी थी। बाइबिल का उत्तरार्द्ध इस प्रतिज्ञा की पूर्ति घोषित करता है, फलत: "नव-विधान" भी कहलाता है। फिर, ईसा को "मसीह" कहने से उत्तरार्द्ध का तात्पर्य है कि उन्हीं में पूर्वार्द्ध में की गई मसीह की प्रतिज्ञा पूरी हुई। पूर्वार्द्ध के तत्त्वों की परिपूर्णता के साथ-साथ उत्तरार्द्ध में उसकी धारणाओं का भी विकास मिलता है। एकमात्र परमेश्वर से "त्र्येक परमेश्वर" का सिद्धान्त उत्पन्न हुआ। पुनरुत्थान पर विश्वास ईसा के जी उठने से सिद्ध किया गया। इससे नीति-शास्त्र में भी विकास हुआ। समदेशियों के अतिरिक्त शत्रु भी भ्रातृप्रेम का पात्र माना जाने लगा। इस संपूरक स्वरूप सम्बन्ध के कारण इब्रानी और ईसाई धर्म मानो पृथक्-पृथक् विचारधाराएं नहीं, बल्कि एक ही विचारधारा की दो अवस्थाएं हैं। उत्तरार्द्ध की अनुपस्थिति में पूर्वार्द्ध अधूरा ही बना रहता; पूर्वार्द्ध के अभाव में उत्तरार्द्ध उत्पन्न तक नहीं हो सकता। उपर्युक्त बाइबिल खंडों का पारस्परिक सम्बन्ध यहां ईसाई दृष्टिकोण के अनुसार ही प्रस्तुत किया गया है। आज तक ईसाई परम्परा के साथ-साथ यहूदी परम्परा भी चली आती है, जो पूर्वार्द्ध पर ही निर्भर होकर उत्तरार्द्ध को पूर्ण रूप से अस्वीकार करती है।

(ग) प्रस्तुत अध्याय का विभाजन

पहले परिच्छेद में "त्रियेक परमेश्वर" की धारणा अपने मूल-भूत रूप में वर्णित की जाएगी। उत्तरार्द्ध में मानव और सृष्टि की धारणाएं वैसी ही बनी रहती हैं, जैसी वे पूर्वार्द्ध में मिलती हैं, इसलिए उनका उल्लेख फिर नहीं किया जाएगा। दूसरे परिच्छेद का विषय है "मुक्तिकार्य"। पूर्वार्द्ध में इसका प्रसंग था चयनित प्रजा का पुनीत इतिहास, उत्तरार्द्ध में वह ईसा की मृत्यु और पुनरुत्थान से सम्बन्ध रखता है। तीसरे परिच्छेद में ईसाई धर्म के मुख्य पहलू प्रस्तुत किये जाएंगे, जैसे "कलीसिया" और पारलौकिक परिप्रेक्ष्य।

(1) त्रियेक परमेश्वर

(क) ईसा मसीह का ईश्वरत्व

ईश-स्वरूप मसीह

यहूदियों में मसीह की प्रतीक्षा की धारणा प्रचलित थी, अर्थात् इस मुक्तिकर्त्ता की प्रत्याशा थी जो दाऊद राजा के वंश से उत्पन्न होने वाला था। ईसा के चमत्कारों को देखकर, उनकी अधिकारपूर्ण शिक्षा सुनने से बहुत से यहूदी विश्वास

करने लगे कि वही प्रतिज्ञात मसीह है ।[3] इतना ही नहीं, आदि-चेलों से पूछ-ताछ के उत्तर में ईसा को पेत्रुस नामक उनके प्रधान ने स्पष्ट रूप से यह साक्ष्य दिया कि "आप मसीह हैं ।"[4] फिर भी "मसीह" का आदर्श एक ऐसे सांसारिक राजा का था, जो यहूदी प्रजा को रोमन साम्राज्य से स्वतन्त्र कर उसकी राजनीतिक शक्ति पुनः स्थापित करेगा । इसके विपरीत ईसा से प्रस्तुत मसीह सम्बन्धी विचार आध्यात्मिक ही था, इसलिए "मसीह" कहलाना अस्वीकार न करते हुए भी "ईसा ने अपने शिष्यों को कड़ी चेतावनी दी कि तुम लोग किसी को भी यह नहीं बताओगे कि मैं मसीह हूं"[5] लौकिक रूप में मसीह-प्रतिज्ञा को सुधारने के लिए ईसा इसे उस "यावे-दास" से सम्बन्धित करते हैं, जिसका वर्णन पूर्वार्द्ध में दुःखभोक्ता के रूप में किया गया है । पूर्वोक्त पेत्रुस की स्वीकारोक्ति के प्रसंग में "ईसा अपने शिष्यों को यह समझाने लगे कि मुझे येरुसालेम जाना होगा, नेताओं, महायाजकों और शास्त्रियों की ओर से बहुत दुख उठाना, मार डाला जाना और तीसरे दिन जी उठना होगा ।"[6] उपर्युक्त बातों से स्पष्ट है कि ईसा "मसीह" की उपाधि स्वीकार करके अपने आपको इस पूर्वार्द्ध की प्रतिज्ञा का उत्तराधिकारी मानते हैं । इसलिए दाऊद राजा से लेकर ईसा तक मसीह-प्रतीक्षा की परम्परा अविच्छिन्न रूप से चली आती है । फिर भी धारणा में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन भी हुआ । यहूदियों में प्रचलित एक प्रतापी शासक की प्रतीक्षा के विपरीत ईसा अपने आपको दुःखभोक्ता मसीह के रूप में प्रस्तुत करते हैं ।

इससे बढ़कर मसीह-आदर्श का एक दूसरा परिवर्तन और अधिक महत्त्व का है । ऊपर हमने पाठकों का ध्यान इस बात की ओर आकर्षित किया है कि जिस 'मसीह' की प्रतीक्षा इब्रानी करते थे, उसे ईश्वर नहीं, मानव माना जाता था । लोकातीतत्व के परिप्रेक्ष्य में यह बात बिलकुल बोधगम्य है । दाऊद वंश में उत्पन्न कोई भी राजा, चाहे वह कितना ही महिमान्वित क्यों न हो, परमेश्वर के समान नहीं माना जा सकता था । फिर भी, आश्चर्य की बात है कि ईसा के चेले और भक्त यहूदी होते हुए भी, इन्हें परमेश्वर ही मानते थे । इस प्रसंग में यह बात ध्यान में रखनी पड़ती है कि पूर्वोक्त विश्वास ईसा की मृत्यु से जी उठने के पश्चात् ही चेलों के मन में स्पष्ट रूप से उत्पन्न हुआ । ईश-स्वरूप मसीह जैसी अनसुनी बात केवल पुनरुत्थान जैसी अनोखी बात द्वारा ही सिद्ध की जा सकती थी । ध्यान रखने की बात है कि हमारे कथन का तात्पर्य यह नहीं कि ईसा वस्तुतः परमेश्वर थे । हमारा तात्पर्य इतना ही है कि आदि चेले ईसा को न केवल मसीह, बल्कि परमेश्वर भी मानते थे ।

---

3. रोटियों को बढ़ाने के अवसर पर यहूदियों की प्रतिक्रिया देखें : योहन 6.1-15
4. मत्ती 16.16
5. वही, पद 20
6. वही, पद 21.

इस ऐतिहासिक तथ्य का एक प्रमाण यह है कि उत्तरार्द्ध ईसा मसीह के विषय में "प्रभु" शब्द का प्रयोग करता है। "प्रभु", अर्थात् यूनानी मूल-भाषा में "कुरियोस", "यावे" का समानार्थ माना जाता था। वास्तव में "कुरियोस" इब्रानी शब्द "अदोनाई" का अनुवाद था, जो परवर्ती इब्रानी परंपरा में "यावे" शब्द के बदले प्रचलित था। फिर ईसा के पुनरुत्थान के बाद संत पेत्रुस अपने पहले आम प्रवचन में यह घोषित करते हैं कि "जिन्हें आप लोगों ने क्रूस पर चढ़ाया, ईश्वर ने उन्हीं ईसा को प्रभु भी बना दिया है और मसीह भी"[7] इस प्रकार साहित्यिक और ऐतिहासिक प्रमाण के आधार पर आधुनिक बाइबिल विद्वान् यह सिद्ध करते हैं कि आदि-चेले ईसा को मानव स्वरूप मसीह पात्र नहीं, परमेश्वर भी मानते थे। वास्तव में ईसा परमेश्वर हैं, इस प्रश्न को छोड़कर, यह ऐतिहासिक तथ्य महत्त्व का है कि उनके चेलों का ऐसा दृढ़ विश्वास था। इब्रानी धर्म की अपेक्षा ईसाई धर्म की नवीनता इसमें है कि ईसा जैसा मनुष्य परमेश्वर ही माना जा सकता है। अन्य धार्मिक परम्पराओं के संदर्भ में "ईश-मानव" की धारणा सामान्य ही हो, इब्रानी-ईसाई दृष्टिकोण से ईसा, मानव होते हुए भी, परमेश्वर भी हैं, यह पूर्ण रूप से रहस्यमय बात है। फिर भी, ईसाई धर्म-सिद्धान्त की व्याख्या इब्रानी-ईसाई दृष्टिकोण से ही करनी पड़ती है, किसी अन्य सांस्कृतिक संदर्भ में नहीं।

मानव का पुत्र :

ईसा यद्यपि यह स्वीकार करते थे कि मैं मसीह हूं, लेकिन इस उपाधि के स्वगुणार्थ के कारण अपने आपके विषय में इसका प्रयोग करने से इन्कार करते थे। इसके विपरीत वे अपने आपको प्राय: "मानव का पुत्र" कहते हैं। इस कथन का तात्पर्य क्या है ? वह इब्रानी भाषा में प्रचलित मुहावरा है जिसका अर्थ है "मानव जाति का कोई।" इसका निहितार्थ यह है कि परमेश्वर की अमरता के विपरीत मानव मरणशील है। अपने आपके विषय में इस मुहावरे का प्रयोग करने से ईसा का अभिप्राय यह था कि मैं मानव की दुर्बल दशा का सहभागी भी हूं। फिर, "मानव पुत्र" का साहित्यिक प्रयोग के फलस्वरूप दूसरा अर्थ भी है। दानिएल नबी के ग्रंथ में यह काफी रहस्यमय उक्ति मिलती है, "आकाश के बादलों में कोई मानव पुत्र सा चला आ रहा है उसका शासन चिरकालीन है, जिसका कभी अन्त नहीं होगा।"[8] स्पष्टतया पूर्वोक्त कथन उस मानव-पुत्र की दुर्बलता पर नहीं, उसकी श्रेष्ठता पर ही बल देता है। इस संदर्भ में "मानव-पुत्र" "पुरुषोत्तम" जैसा सुनाई पड़ता है। इसलिए सामान्य और साहित्यिक प्रयोग के फलस्वरूप "मानव-पुत्र" द्वयर्थक ही

---

7. प्रेरित-चरित 2.36
8. दानिएल 7.13.14

लगता है। ईसा द्वारा प्रयुक्त किये जाने से इसके अर्थ का और विस्तार हुआ। यहाँ इसके एक दो उदाहरण प्रस्तुत किये जाएंगे।

एक दिन ईसा के पास एक अर्द्धांग रोगी को ले जाया गया, ताकि वह उसे चंगा कर दें। इसके बदले ईसा ने उससे कहा कि "बेटा, ढाढ़स रखो! तुम्हारे पाप क्षमा हो गये हैं।"[9] इब्रानी विचार के अनुसार तो दुःख का स्रोत पाप ही है। फिर भी उपस्थित शास्त्री मन-ही-मन सोचने लगे कि ईसा ईशनिन्दा करते हैं। कारण परमेश्वर को ही पाप क्षमा करने का अधिकार है। इस बात के प्रमाण में कि मुझे भी ईशाधिकार मिला है, ईसा ने अर्द्धांगिरोगी को चंगा करने की चुनौती देकर उनसे कहा: "इसलिए कि तुम लोग यह जान लो कि मानव पुत्र को पृथ्वी पर पाप क्षमा करने का अधिकार है।"[10] परमेश्वर के विशेषाधिकार के संदर्भ से "मानव-पुत्र" का अर्थ स्पष्ट हो जाता है: ईसा परमेश्वर के बराबर होने का दावा करते हैं। एक दूसरा उदाहरण यहूदी महासभा में ईसा के मुकदमे से लिया हुआ है। जब प्रधान याजक ने उनसे यह पूछा था कि क्या आप अपने आपको मसीह मानते हैं, तो ईसा ने इसे स्वीकार करके यह भी कहा कि "भविष्य में आप मानव पुत्र को सर्वशक्तिमान ईश्वर के दाहिने बैठा हुआ और आकाश के बादलों पर आता हुआ देखेंगे।"[11] पूर्वोक्त दानिएल नबी के उद्धरण के सिवाय इस उक्ति का पहला भाग मसीह सम्बन्धी स्रोत से लिया हुआ है।[12] प्रधान याजक की प्रतिक्रिया से स्पष्ट है कि ईसा का अभिप्राय उसकी समझ में बिलकुल आया था। यह बात सुनकर उसने ईसा को ईश-निंदा का दोषी ठहराया और तदनुसार उन्हें प्राणदण्ड भी दिया। वस्तुत: इस विशेष संदर्भ में "मानव-पुत्र" से तात्पर्य ईसा और परमेश्वर की बराबरी थी।

ईसा वास्तव में परमेश्वर हैं, यह दूसरी बात है, परन्तु इसमें कोई संदेह नहीं कि वह अपने आपको परमेश्वर से अभिन्न समझते थे। वह सत्यवादी भी थे। आश्चर्य की बात है कि इस विश्वास की अभिव्यक्ति के लिए ईसा "मानव पुत्र" मुहावरा का प्रयोग करते थे। सामान्य भाषा में तो इसका मतलब था: 'मानव की दुर्बल दशा'। परवर्ती धर्म-शास्त्र के परिप्रेक्ष्य में हम यह कह सकते हैं कि "मानव-पुत्र" की उक्ति दोनों को अभिव्यक्त करने के लिए उपयुक्त थी: मरणशील मानव की स्थिति भी और परमेश्वर का ऐश्वर्य भी। ईसा मसीह दोनों माने जाते हैं: मानव और ईश्वर, एक शब्द में "ईश-मानव"।

---

9. मत्ती 9.2
10. वही, 9.6
11. मत्ती 26.64
12. स्तोत्र 110.1

ईश-शब्द

पूर्ववर्ती दो परिच्छेदों में हम देख चुके हैं कि ईसा मसीह परमेश्वर के बराबर होने का दावा किया करते थे। ईसा के पुनरुत्थान के पश्चात् उनके चेलों के मन में यह दृढ़ विश्वास उत्पन्न हुआ कि उनका कथन सत्य ही था। फिर यदि ऐसा हो, तो यह प्रश्न उठने लगा कि शारीरिक जन्म से पहले ईश्वर-स्वरूप ईसा की अवस्था कौन-सी थी ? दूसरे शब्दों में ईसा के प्राग्भाव की समस्या उत्पन्न हुई। यहूदी होकर ईसा के आदि-चेले इस बात का समाधान बाइबिल-पूर्वार्द्ध पर चिन्तन करके ढूंढ़ने लगे। फिर, प्रज्ञा-ग्रन्थ के अनुसार ईश-प्रज्ञा सृष्टि कार्य के पूर्व ही परमेश्वर के पास विद्यमान थी।[13] उत्पत्ति-ग्रन्थ के अनुसार परमेश्वर ने अपने शब्द द्वारा ही सृष्टि की रचना पूरी की।[14] सृष्टिकार्य से इन दोनों के सम्बन्ध के फलस्वरूप दिव्य प्रज्ञा और ईश-शब्द का तादात्म्य स्पष्ट ही था। ईसा के प्राग्भाव की समस्या पूर्वार्द्ध की इन धारणाओं की सहायता से हल की जा सकती थी। संसार में जन्म लेने के पूर्व ईश्वर-स्वरूप मसीह सृष्टिकर्त्ता-परमेश्वर के पास उसकी "प्रज्ञा" या "शब्द" के रूप में अस्तित्व रखते थे। इसलिए संत योहन अपने सुसमाचार के प्रारम्भ में ईसा के विषय में इस प्रकार लिखते हैं: "आदि में शब्द था, शब्द ईश्वर के साथ था, और शब्द ईश्वर था।"[15] ईसा मसीह न केवल ईश-शब्द के रूप में आदि-काल से ही विद्यमान थे, वरन् ईश-प्रज्ञा के रूप में वे सृष्टिकार्य में भी क्रियाशील थे : "उसके (अर्थात् शब्द-स्वरूप ईसा) द्वारा सब कुछ उत्पन्न हुआ।"[16] इस तरह ईश-शब्द की धारणा का आरोप ईसा मसीह पर किया जाता है। साथ ही पूर्वार्द्ध की परिपूर्णता भी मिलती है। ईश-प्रज्ञा, जब कि प्रज्ञा-ग्रन्थ में परमेश्वर का लक्षण मात्र मानी जाती है, उत्तरार्द्ध में दिव्य तत्त्व ही प्रतीत होती है। इस विकास के फलस्वरूप बाद में "त्रियेक परमेश्वर" का सिद्धान्त उत्पन्न हुआ।

ईश-शब्द के रूप में ईसा के प्राग्भाव के वर्णन के बाद संत योहन यह भी समझाते हैं कि ईसा ने ईश्वर होते हुए भी संसार में क्यों जन्म लिया। इब्रानी शब्दावली का प्रयोग कर वे इस प्रकार लिखते है: "शब्द ने शरीर धारण कर हमारे बीच निवास किया।"[17] "शरीर" का तात्पर्य है सांसारिक दृष्टिकोण से मानव स्वभाव। इसमें "जीवात्मा" भी शामिल है, जिससे उपर्युक्त कथन का अर्थ होता है: ईश-स्वरूप शब्द ने ईसा के रूप में मानव स्वरूप को धारण किया। इसी रूप में उन्होंने "हमारे बीच में निवास किया।" पूर्वार्द्ध के समय परमेश्वर अदृश्य रूप से अपनी प्रजा के

---

13. 8.29-30
14. देखें उत्पत्ति-ग्रंथ 1.3 इति।
15. योजन 1.1
16. वही 1.3
17. वही 1.14

निकट रहा करता था; उत्तरार्द्ध में वह ईश-मानव के रूप में मनुष्यों के बीच में रहने आया। इस तरह पहले की अपेक्षा ईश-सामीप्य कहीं अधिक निकट बना।

सृष्टि के अतिरिक्त ईश-शब्द का पूर्वार्द्ध में एक दूसरा कार्य भी मिलता है, अर्थात् प्रकाशना का। वस्तुत: प्रकाशना ऐतिहासिक घटनाओं द्वारा ही अभिव्यक्त की जाती है, परन्तु इन घटनाओं का अभिप्राय नबियों की मध्यस्थता से ईश-शब्द द्वारा स्पष्ट किया जाता है। फिर, ईसा मसीह स्वयं ही ईश-शब्द माने जाते हैं। फलत: ईश-शब्द ने जब ईसा मसीह में मानव स्वरूप धारण किया, तो उन्हीं में प्रकाशना की परिपूर्णता मिली। इसके अनुसार इब्रानियों के नाम पत्र में लिखा है: "प्राचीन काल में ईश्वर बारंबार और विविध रूपों में हमारे पुरखों से नबियों द्वारा बोला था। अब अन्त में वह हम से पुत्र द्वारा (अर्थात् ईसा मसीह) बोला है।[18] ईश-शब्द को परमेश्वर की अभिव्यक्ति माना जाना स्वाभाविक ही है। ईसा और ईश-शब्द के तादात्म्य के फलस्वरूप ईसा मसीह परमेश्वर के आविर्भाव ही माने जाने लगे। इसलिए उपर्युक्त प्रसंग में यह भी लिखा हुआ है कि: "वह पुत्र (ईसा) अपने पिता की महिमा का प्रतिबिम्ब और उसके तत्त्व का प्रतिरूप है।"[19] बिब-प्रतिबिब के सम्बन्ध के अतिरिक्त ईसा परमेश्वर का पुत्र भी माने जाते हैं, यह इन उद्धरणों से स्पष्ट है। इस बात की व्याख्या अगले परिच्छेद में की जाएगी।

(ख) पिता एवं पुत्र स्वरूप परमेश्वर

ईसा परमेश्वर के बराबर होने का दावा किया करते थे, फिर भी वह तादात्म्य शुद्धाद्वैतवादी नहीं है; एकमात्र परमेश्वर की धारणा अखंड रहते हुए भी इसमें अनेकता प्रतीत होती है। पिता-परमेश्वर के सम्बन्ध में ईसा अपने आपको पुत्रेश्वर मानते हैं। स्पष्टत: ईश-पितृत्व भौतिक स्वभाव का नहीं हो सकता है। जिस परमेश्वर के स्वलक्षण "आत्मा" और "प्रज्ञा" ही हैं, उसका आध्यात्मिक तत्त्व होना भी आवश्यक है। इस सन्दर्भ में मानवतारोप की चर्चा नहीं हो सकती है। इसके विपरीत, मानव के परमेश्वर से सादृश्य-सिद्धान्त के अनुसार जिस प्रकार मानव पर देवतारोप किया जाता है, ठीक उसी प्रकार मानव सम्बन्ध पर भी। कहने का तात्पर्य है कि पिता-पुत्र जैसे सम्बन्ध का आदर्श परमेश्वर में ही मिलता है।

ईसा परमेश्वर को अपना पिता भौतिक रूप में नहीं मानते हैं, इससे यह स्पष्ट है कि पिता-पुत्रेश्वर का सम्बन्ध पारस्परिक ज्ञान पर निर्भर है। दूसरों की अपेक्षा ईसा को अपने पिता की पूरी जानकारी है; दूसरी ओर पिता परमेश्वर को भी अपने पुत्र का पूरा ज्ञान है। ईसा मसीह के शब्दों में : "पिता को छोड़कर कोई भी पुत्र को नहीं जानता। इसी तरह पिता को भी कोई अन्य नहीं जानता।"[20]

---

18. इब्रानियों के नाम पत्र 1-1-2
19. वही 1.3
20. मत्ती 11.27,

इससे यह भी मालूम पड़ता है कि ईसा का पिता-परमेश्वर से सम्बन्ध दूसरे मनुष्यों को अपवर्जित करता है। निस्संदेह, ईसा अपने चेलों को प्रार्थना करते समय परमेश्वर को "पिता" कहना सिखाते हैं : "इस प्रकार प्रार्थना किया करो–हे स्वर्ग में विराजमान हमारे पिता !"[21] साथ ही ईसा पिता-परमेश्वर के प्रति अपने और दूसरों के सम्बन्ध में प्रभेद भी करते हैं।[22] शाब्दिक अर्थ में ईसा ही ईश-पुत्र कहलाते हैं। इसके अनुसार आदि-चेले ईसा मसीह को "पिता का एकलौता" कहने लगे।[23] ईसा का पिता-परमेश्वर से सम्बन्ध अद्वितीय ही है। अवश्य ही धार्मिकजन भी परमेश्वर को अपना "पिता" मान सकते हैं ; किन्तु ईसा को छोड़कर और कोई "पुत्रेश्वर" नहीं माना जा सकता है। ईसाई दृष्टिकोण से यह विचार बोधगम्य है। जिस प्रकार कोई मनुष्य अपने आपको परमेश्वर से अभिन्न नहीं मान सकता है, उसी प्रकार कोई भी अपने आपको पिता परमेश्वर का निजी पुत्र नहीं कह सकता है। जो ईश्वर नहीं है, उसका पुत्रेश्वर होना भी असंभव है।

पिता-पुत्र सम्बन्धी ईसा की शिक्षा के परिणामस्वरूप एकमात्र परमेश्वर की धारणा में विकास परिलक्षित होता है : एकता के साथ इसमें पारस्परिक सम्बन्धों की विविधता भी दिखाई पड़ी। पिता-पुत्रेश्वर का द्वैत ईश्वरत्व की एकता भंग नहीं करता, यह इससे स्पष्ट है कि दोनों का सम्बन्ध पारस्परिक अन्तर्यामिता का रूप धारण करता है। अपने आपके विषय में ईसा कहते हैं—"पिता मुझ में है और मैं पिता में हूँ।"[24] केवल तत्त्व के दृष्टिकोण से नहीं, क्रिया में भी दोनों की एकता प्रतीत होती है : मसीह-रूपी पुत्र में पिता परमेश्वर ही क्रियाशील है। "पुत्र स्वयं अपने से कुछ भी नहीं कर सकता। वह केवल वही कर सकता है, जो पिता को करते देखता है।"[25] ईश-शब्द के रूप में पुत्रेश्वर ने सृष्टिकार्य में भाग लिया था; अब ईश-मानव के रूप में वह मुक्तिकार्य में भी सक्रिय है। इस सन्दर्भ में पुत्र का पिता परमेश्वर से घनिष्ठ सम्बन्ध गूढ़ रहस्य के रूप में दिखाई पड़ता है। ईश-भक्ति से प्रेरित होकर ईसा दु:ख भोग सहने के लिए तत्पर हैं; प्राण-त्याग भी अपने पिता की इच्छा के अनुसार स्वीकार करते हैं।[26] हाँ, जीवन-बलिदान तक ईसा मसीह पिता परमेश्वर को समर्पित करते हैं। क्रूस पर मरते समय ईसा की अन्तिम प्रार्थना इस प्रकार थी : "हे पिता, मैं अपनी आत्मा को तेरे हाथों सौंप देता हूँ।"[27] पिता-

---

21. मत्ती 6.9
22. उदाहरणार्थ देखें : योहन 20.17
23. योहन 1.14—
24 योहन, 10.38
25. वही 5.19
26. देखें मत्ती 26.39
27. लूकस 23.46

पुत्रेश्वर का सम्बन्ध, प्रथम स्थान पर, ईसा के जीवन की इस प्रकार की घटनाओं में दिखाई पड़ता है। पूर्वार्द्ध में भी दिव्य प्रकाशना सांसारिक तत्त्वों के माध्यम द्वारा दी जाती थी।

अपने ईश-पुत्रतत्त्व के अतिरिक्त ईसा मसीह की शिक्षा का तात्पर्य यह भी था कि परमेश्वर सब मनुष्यों के प्रति आदर्श पिता का व्यवहार करता है तथा अपनी भौतिक जरूरतों के लिए हम उस पर बच्चों की भांति भरोसा रख सकते हैं। पर्वत-प्रवचन के शब्दों में : "यह सोचकर चिन्ता मत करो कि हम क्या खायें, क्या पियें, क्या पहनें। स्वर्ग में निवास करने वाला तुम्हारा पिता जानता है कि तुम्हें इन सब चीजों की जरूरत है।"[28] "उड़ाऊ लड़के" के सुप्रसिद्ध दृष्टान्त में[29] ईसा ने उस दयालु पिता के रूप में परमेश्वर का वर्णन किया, जो हमारे अपराधों को क्षमा करता है। इसलिए ईसा मसीह से प्रेरित धर्म सम्पूर्ण मानव से सम्बन्ध रखता है। वह न केवल आध्यात्मिक, बल्कि शारीरिक आवश्यकताओं की भी पूर्ति करता है। ईश-पितृत्व का सिद्धान्त मानव जाति की एकता को भी आधार प्रदान करता है। जहाँ समान रूप से सब मानव पिता परमेश्वर के पुत्र माने जाते हैं, वहाँ ऊंच-नीच का प्रभेद नहीं हो सकता है। इससे यह निष्कर्ष भी निकलता है कि सब मनुष्य परस्पर भ्रातृत्व के बन्धन से बंधे हुए हैं। सभी एक ही पिता के पुत्र हैं। "भले समारी" नामक दृष्टान्त का तात्पर्य यह है कि जाति-प्रभेद भ्रातृ-प्रेम को सीमित नहीं कर सकता है।[30] इतना ही नहीं, भ्रातृ-प्रेम में शत्रु भी शामिल हैं : "अपने शत्रुओं से प्रेम करो....। इससे तुम अपने स्वर्गिक पिता की सन्तान बन जाओगे; क्योंकि वह भले और बुरे, दोनों पर अपना सूर्य उगाता तथा धर्मी और अधर्मी, दोनों पर पानी बरसाता है।[31] इस सार्वभौम भ्रातृत्व से, जो सार्वभौम ईश-पितृत्व पर निर्भर है, ईसाई धर्म का सामाजिक स्वरूप भी स्पष्ट होता है।

सब मानव पिता-परमेश्वर के पुत्र हैं; ईसा मसीह के अतिरिक्त और कोई पुत्रेश्वर नहीं कहला सकता है। यह सिद्धान्त ईसाई दर्शन-सम्मत है। ईश्वर तो असृष्ट तत्त्व है, मानव सृष्ट है। पिता-परमेश्वर का पुत्र होते हुए भी मानव पुत्रेश्वर कभी नहीं बन सकता है। कारण, जो तत्वमीमांसा की दृष्टि से सृष्ट है, उसका असृष्ट हो जाना स्वतः विरोधी है। सृष्टिवाद के आधार पर मानव का परमेश्वर से तादात्म्य असम्भव ही है। इसलिए केवल ईसा मसीह शाब्दिक अर्थ में ईश-पुत्र हो सकते है। अन्य मानव सिर्फ लाक्षणिक अर्थ में पिता-परमेश्वर के पुत्र हो सकते हैं। फिर भी महत्त्व की बात यह है कि पूर्वोक्त अर्थ के सिवाय उत्तरार्द्ध उच्चतर

---

28. मत्ती 6.31-32
29. लूकस, 15.11.32
30. लूकस 10.29-37
31. मत्ती 5.44-45

अर्थ में भी मानव को परमेश्वर का पुत्र कहता है। जैसा कि आगे स्पष्ट किया जाएगा, मुक्ति-धारणा के अनुसार ईसा ही मानव जाति के मुक्तिकर्ता हैं। इसके फलस्वरूप मानव ईसा के पुत्रेश्वरत्व में भी भाग ले सकता है। स्वभाव से ईसा ही पुत्रेश्वर हैं; कृपादान से मानव एकमात्र पुत्रेश्वर के सदृश पिता-परमेश्वर का पुत्र बन जाता है। इसलिए, मानव को दिव्य स्तर पर ही उठाया जाता है। अवश्य ही मानव का परमेश्वर से तादात्म्य कदापि नहीं हो सकता है। फिर भी, मुक्ति के फलस्वरूप उसे ईश-तत्त्व की सहभागिता मिल सकती है। ईसा के विपरीत, जो "स्वभाव" से ईश-पुत्र हैं, संत पौलुस विधि-परक शब्दों में मानव को पिता परमेश्वर का "दत्तक पुत्र" कहते हैं। रोमियों के नाम अपने पत्र में वह इस प्रकार लिखते हैं : "जो लोग ईश्वर की आत्मा से संचालित हैं, वे सब ईश्वर के पुत्र हैं। आप लोगों को गोद लिए गए पुत्रों का मनोभाव मिला, जिससे प्रेरित होकर हम पुकार कर कहते हैं : अब्बा या हे पिता।"[32] इसमें दो बातें उल्लेखनीय हैं। पहली, "अब्बा" का तात्पर्य। इस अरामेइक[33] शब्द का सही अनुवाद "बापूजी" है। इस शब्द से ईसा अपना पिता से घनिष्ठ सम्बन्ध व्यक्त किया करते थे।[34] इसी शब्द का प्रयोग करने से संत पौलुस का तात्पर्य है कि अन्य मानव भी ईसा के समान परमेश्वर को अपना पिता कह सकते हैं। दूसरी बात है "आत्मा" का उल्लेख। इसका अर्थ यह है कि मानव, ईसा के विपरीत, स्वभाव से ईश्वर का पुत्र नहीं है, सिर्फ "आत्मा" के दान से वह ईसा के साथ परमेश्वर को अपना पिता कह सकता है। "आत्मा" अगले परिच्छेद का विषय है।

(ग) आत्मा-परमेश्वर

ईसा-भक्तों का विश्वास था कि वह न तो केवल मानव मसीह हैं; वरन् पुत्रेश्वर भी हैं। फलस्वरूप "एकमात्र परमेश्वर" की इब्रानी धारणा का विकास हुआ। ईसा की ओर से "आत्मा" की प्रकाशना के परिणामस्वरूप ईश्वर की एकता में और परिवर्तन होने लगा। ईसा के ईश्वरत्व के समान "आत्मा" पर विश्वास भी ईसा के पुनरुत्थान के पश्चात् ही उत्पन्न हुआ। अपने चेलों को संसार में छोड़ने के पहले ईसा ने यह प्रतिज्ञा की थी कि मैं आप लोगों को अनाथ रहने नहीं दूंगा : 'मैं पिता से प्रार्थना करूंगा और वह तुम्हें एक दूसरा सहायक प्रदान करेगा, जो सदा तुम्हारे साथ रहेगा। वह सत्य की आत्मा है।"[35] इस रहस्यमय उक्ति का अर्थ आदि-चेलों के लिए अबोधगम्य नहीं रहा। परवर्ती अनुभव के फलस्वरूप उन्हें यह

32. वही 8.15
33. ईसा के समय फिलिस्तीन देश की बोल-चाल की भाषा।
34. देखें, मारकुस 14.36
35. योहन, 14 16-17

मालूम पड़ा कि ईसा की शारीरिक अनुपस्थिति में भी वह उनके भीतर "आत्मा" के रूप में निवास करते हैं। आत्मावतरण का साक्षात्कार उन्हें "पंचाशती" महोत्सव के अवसर पर मिला था, जब उन पर मानो आग के रूप में "आत्मा" की शक्ति बरसी थी और "वे सब पवित्र आत्मा से परिपूर्ण हो गये।[36] इस धार्मिक अनुभव के अतिरिक्त "आत्मा" की यथार्थता उन्हें इससे भी प्रतीत हुई कि वे उसी आत्मा से प्रेरित होकर सफलतापूर्वक धर्म-प्रचार कर सके। इन घटनाओं पर चिन्तन करने पर उन्हें उपर्युक्त ईसा-गुरु के शब्दों का अर्थ स्पष्ट होने लगा। "आत्मा" ईसा के समान पिता-परमेश्वर से भेजा हुआ एक "दूसरा सहायक" थी इसलिए "आत्मा" को भी दिव्य स्वभाव का होना अनिवार्य था। जिस प्रकार पूर्वार्द्ध में वर्णित दिव्य "शब्द" का आविर्भाव ईसा मसीह में हुआ था, उसी प्रकार पूर्वार्द्ध का दिव्य "आत्मा" भी ईसा के समान "दूसरे सहायक" के रूप में दिखाई पड़ा। इसलिए "आत्मा" परमेश्वर का लक्षण मात्र नहीं, ईश-तत्त्व ही प्रतीत हुआ। इस प्रकार के चिन्तन के फलस्वरूप पिता और पुत्रेश्वर के अतिरिक्त आदि-चेले 'पवित्र आत्मा" को भी स्वीकार करने लगे और "त्रियेक परमेश्वर" का सिद्धान्त उत्पन्न हुआ।

पवित्र आत्मा सम्बन्धी अनुभव की प्रमुख विशेषता है ईसा-भक्तों में उसकी अन्तर्यामिता। संत पौलुस कुरिंथ नगर के निवासियों से पूछते हैं : क्या आप लोग नहीं जानते कि आपका शरीर पवित्र आत्मा का मन्दिर है?"[37] दूसरे संदर्भ में वह अन्तर्यामी आत्मा का ईसा-भक्तों पर प्रभाव इस प्रकार वर्णित करते हैं :" आत्मा का फल यह है–प्रेम, आनन्द, शांति, सहनशीलता, मिलनसारिता, दयालुता, ईमानदारी, सौम्य और संयम।[38] लेकिन अन्तर्यामिता का मुख्य फल यह है कि आत्मा के साथ पिता और पुत्रेश्वर भी ईसा-भक्त में निवास करते हैं।[39] पवित्र आत्मा का सम्बन्ध तो दोनों से घनिष्ठ है। इससे पूर्वोक्त ईसा-भक्त की ईश्वरत्व में सहभागिता का अर्थ भी स्पष्ट हो जाता है। ऊपर दिए हुए उदाहरण के अनुसार : "जो लोग ईश्वर की आत्मा से संचालित हैं, वे सब ईश्वर के पुत्र हैं।"[40] इसलिए, जिसे आत्मा का दान मिला, वह परमेश्वर को अपना ही पिता कह सकता है। कारण, आत्मा ईसा की प्रतिनिधि है। फिर, ईसा पुत्रेश्वर ही हैं। इसलिए, आत्मा की अन्तर्यामिता के फलस्वरूप मानव परमेश्वर का पुत्र बन जाता है–जन्म से नहीं, बल्कि आत्मा-दान से। ईसा-भक्त की ईश-तत्त्व में यह सहभागिता शाब्दिक अर्थ में "आत्मिक" जीवन कही जा सकती है : मानव तो आत्मा की शक्ति द्वारा दिव्य

---

36. प्रेरित-चरित 2.4
37. कुरिंथियों के नाम पहला पत्र 6.19
38. गलतियों के नाम पत्र 5.22
39. देखें,—रोमियों के नाम पत्र 8.9-11
40. वही, 8.15

जीवन में भाग लेता है। एकमात्र परमेश्वर से त्र्येक परमेश्वर का सामंजस्य कैसे किया जा सकता है, इस प्रकार की समस्याओं के समाधान का प्रयत्न परवर्ती ईसाई धर्मशास्त्र करेगा, किन्तु पवित्र 'त्रित्व' पर आधारित आत्मिक जीवन का तात्पर्य आदि चेलों को शुरू से ही धार्मिक अनुभव से मालूम था।

II. मुक्ति-कार्य :

(क) दुःख से मुक्ति

इस परिच्छेद का शीर्षक द्वयर्थक है : मुक्ति न तो केवल दुःख से छुटकारे की स्थिति है, अपितु दुःख द्वारा भी वह प्राप्त की जाती है। दुःखों को पूरी तरह भोग लेने पर उनका अन्त हो जाता है, यह ईसाई मुक्ति सम्बन्धी शिक्षा की एक विशेषता है। इसकी दूसरी विशेषता यह है कि मानव अपनी शक्ति से ही मुक्ति नहीं प्राप्त कर सकता है; मानव का एकमात्र मुक्तिदाता ईसा मसीह ही हैं। फिर भी ईसा मसीह का दुःखभोग, जिसके फलस्वरूप उन्होंने मानव के लिए मुक्ति की सम्भावना स्थापित की, उनके पुनरुत्थान के अभाव में अधूरा रहता है। जीवन की पुनःप्राप्ति के बिना मृत्यु व्यर्थ ही होती। इसलिए, वास्तव में मुक्ति केवल दुःख से छुटकारे द्वारा नहीं, वरन् दुःख पर विजय द्वारा ही सिद्ध की जाती है। अगले दो परिच्छेदों में हम कुछ विस्तार से इन पूर्वोक्त बातों की व्याख्या करेंगे। प्रस्तुत परिच्छेद में प्रारम्भिक रूप से "दुःख से मुक्ति" का प्रतिपादन किया जाएगा। ईसा-दुःखभोग और इससे संयुक्त उनके पुनरुत्थान का वर्णन "सुसमाचारों" के अन्तिम अध्याय में किया गया है।[41] इस प्रसग में हम संत पौलुस क पत्रों का सहारा लेकर मुक्ति-रहस्य की व्याख्या देने का प्रयत्न करेंगे।

दुःखभोग के फलस्वरूप मुक्ति प्राप्त की जाती है, यह बात संत पौलुस के श्रोताओं के लिए न केवल विरोधाभासी थी, बल्कि मरण की विशेष परिस्थितियां भी उन्हें पूर्ण रूप से अस्वीकार्य लगती थीं। यहूदी तो एक प्रतापी "मसीह" की प्रतीक्षा करते थे, अपमानित दुःखभोक्ता की नहीं। जब यहूदियों ने उनका उपदेश अस्वीकार किया था, तो संत पौलुस यूनानियों में धर्म-प्रचार करने लगे। अपनी दार्शनिक परम्परा के अनुसार वे "ज्ञानमार्ग" अपनाते थे। इसलिए यूनानियों को वह "दुःख से मुक्ति" की शिक्षा बिलकुल निरर्थक दिखाई पड़ी। उनकी प्रतिक्रिया के विषय में संत पौलुस इस प्रकार लिखते हैं : "यहूदी चमत्कार मांगते हैं और यूनानी ज्ञान चाहते है, किन्तु हम क्रूस पर आरोपित मसीह का ही प्रचार करते है। यह यहूदियों के विश्वास में बाधा है और गैरयहूदियों के लिए मूर्खता।" लेकिन वह तुरन्त यह भी जोड़ते हैं कि "क्रूस की शिक्षा ईश्वर की सामर्थ्य और ईश्वर की प्रज्ञा है।"[42] कारण उनका

---

41. मत्ती. अध्याय 26-28; मारकुस, 14-16; लूकस, 22-24; योहन, 18-22.

42. कुरिंथियों के नाम १ला पत्र 1.22-24

दृढ़ विश्वास था कि अपमान सहने और दुःख भोगने के फलस्वरूप ईसा ने मृत्यु पर विजयी होकर पूर्ण मानव जाति के लिए अमर जीवन प्राप्त किया था ।

यही विरोधाभास एक दूसरे प्रसंग में भी मिलता है । ईसा-सम्बन्धी एक स्तोत्र में संत पौलुस फिर दीनता और महिमा का संयोजन करते हैं । पूर्वार्द्ध के "यावे दास" की ओर संकेत कर, जो दुःखभोग द्वारा दूसरों की मुक्ति करता है, संत पौलुस ईश्वर स्वरूप ईसा के मानव रूप धारण के विषय में इस प्रकार लिखते हैं : "यद्यपि वह ईश्वर थे........, फिर भी उन्होने दास का रूप धारण कर तथा मनुष्यों के समान बन कर अपने को दीन हीन बना लिया ।" मानव स्वभाव को धारण करने से ईसा ने मानो अपने को दिव्य स्वरूप से वंचित किया था । फिर उनकी दीनता की सीमा न रही जब उन्होंने क्रूस पर मौत का अपमान स्वीकार किया । "मनुष्य का रूप धारण करने के बाद मरण तक, हाँ क्रूस के मरण तक, आज्ञाकारी बन कर उन्होंने अपने को और भी दीन बना लिया ।" संत पौलुस का विश्वास था कि इस दीनता का फल महिमा ही है : मृत्यु से जी उठकर ईसा ने न केवल अपने लिए गौरव प्राप्त किया, अपितु दूसरों के लिए भी मुक्ति स्थापित की, जिसके फलस्वरूप उन्हें विश्व भर पर प्रभुत्व मिला । "इसलिए ईश्वर ने उन्हें महान् बनाया और उनको वह नाम प्रदान किया, जो सब नामो में श्रेष्ठ है";[43] अर्थात् "प्रभु" की वह उपाधि जो ईसा मसीह का ईश्वरत्व घोषित करती है ।

क्रूस का विरोधाभास ईसा-भक्ति का विशिष्ट लक्षण होना भी अनिवार्य है । चेलों को तो गुरु का अनुसरण करना चाहिए, इसलिए वे संसार का दुःख अपना "क्रूस" समझकर, उसे ईसा के समान अपने कन्धों पर उठाएगे । इतना ही नहीं, ईसा के समान वे जीवन-बलिदान तक करने को तत्पर होंगे । अवश्य ही ईसा से प्रेरित "क्रूस-मार्ग" एकदम व्यर्थ होता, यदि उसका अन्त मृत्यु मात्र होता । क्रूस का विरोधाभास इसी में निहित है कि मौत से जीवन उत्पन्न होगा । इस विश्वास के अनुसार सिद्धि अनासक्ति का फल है । पूर्वोक्त बातें ईसा ने इस प्रकार अभिव्यक्त की हैं : "जो मेरा अनुसरण करता है, वह आत्म-त्याग करे और अपना क्रूस उठाकर मेरे पीछे हो ले, क्योंकि जो अपनी जीवात्मा सुरक्षित रखना चाहता है, वह उसे खो देगा, और जो मेरे कारण अपनी जीवात्मा खो देता है, वह उसे सुरक्षित रखेगा ।"[44] आत्म-त्याग के परिणामस्वरूप आत्मा की सिद्धि प्राप्त होगी, क्रूस के विरोधाभास पर आधारित ईसाई साधना का सारांश है ।

ईसाई परम्परा के अनुसार अब तक हमने इस बात पर बल दिया है कि क्रूस पर ईसा की मृत्यु के फलस्वरूप मुक्ति उत्पन्न हुई । यह निस्संदेह एक विरोधाभासी धारणा है । यूनानी जैसी बौद्धिक संस्कृति इस सिद्धांत को "मूर्खता" मात्र मानती है,

---

43. फिलिप्पियों के नाम पत्र, 2.6-11

44. मत्ती, 16.24-25

संत पौलुस इसे ईश- प्रज्ञा का प्रमाण कहते हैं । दीनता से महिमा, आत्म-त्याग से सिद्धि, एक शब्द में मृत्यु से जीवन—यही है मुक्ति-सम्बन्धी ईसाई धर्मसिद्धान्त का विरोधाभास । फिर भी, विरोधाभास विरोध मात्र नहीं है : मुक्ति की प्राप्ति दुःख के फलस्वरूप हुई, इसका प्रमाण ईसा का पुनरुत्थान प्रस्तुत करता है, लेकिन विरोधाभास की व्याख्या देने पर भी हम उसका रहस्यमय स्वभाव नहीं निकाल देना चाहते हैं । इसलिए ईश-प्रेम जैसा गूढ़ तत्त्व ही मुक्ति-रहस्य का समाधान कर सकता है । वस्तुतः मुक्ति-कार्य में ईश-प्रेम को ही प्राथमिकता मिलती है । मनुष्य अपने पापमय स्वभाव के कारण परमेश्वर का विरोध करता है । फिर भी अशुभ से प्रेम बलवान् है । जब मानव पाप के फलस्वरूप परमेश्वर से प्रेम रखने में असमर्थ था, परमेश्वर ने मानव के प्रति अपना प्रेम दिखाया । अपने पहले पत्र में संत योहन यह बात इस प्रकार अभिव्यक्त करते हैं : "ईश्वर के प्रेम की पहचान इसमें है कि पहले हमने ईश्वर को नहीं, बल्कि ईश्वर ने हमको प्यार किया ।" प्रेम का प्रमाण इसमें है कि परमेश्वर ने स्वयं ही मानव की मुक्ति करने का निर्णय किया । मुक्ति-कार्य का साधन था ईश-शब्द का ईसा मसीह के रूप में अवतरण । मानव को ही तो मुक्ति की आवश्यकता थी, इसलिए मानव के रूप में ईसा ने पापफल, अर्थात् दुःख और मृत्यु का भोग किया, जिसके परिणामस्वरूप मानव को मुक्ति मिली । संत योहन के इस कथन का तात्पर्य होगा : "हमारे पापों के प्रायश्चित्त के लिए (पिता परमेश्वर ने) अपने पुत्र को भेजा ।"[45] "प्रायश्चित्त" का अर्थ "परायी मुक्ति" के परिच्छेद में समझाया जाएगा । अब तक हमने इतना ही स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है कि मुक्ति का मूलकारण ईश-प्रेम ही है ।

(ख) परायी मुक्ति

मुक्ति के विषय में ईसाइयों का विश्वास है कि ईसा मसीह मानवों के मुक्ति-कर्त्ता हैं । इस मान्यता का तात्पर्य यह नहीं है कि मानव को सिद्धि प्राप्त करने के लिए साधना नहीं करनी पड़ती है । परन्तु ईसा द्वारा प्राप्त मुक्ति के अभाव में भक्त की साधना व्यर्थ रहती है । दूसरे शब्दों में ईसा मानव मुक्ति के मध्यस्थ माने जाते है । इब्रानियों के नाम पत्र का अज्ञात लेखक ईसा की याजक से तुलना कर मुक्ति-मध्यस्थता की व्याख्या प्रस्तुत करता है । शब्द की परिभाषा के बल पर याजक मध्यस्थ ही है : वह तो मनुष्यों में से चुना हुआ है और उनके बदले परमेश्वर को जीवन की बलि चढ़ाता है । फिर भी, ईसा मसीह अपने स्वभाव से ही मध्यस्थ हैं : मानवता-धारण के फलस्वरूप वह दोनों हैं, ईश्वर भी और मानव भी । ईश्वर होते हुये भी वह मनुष्यों में से एक हैं । इसलिए यह आवश्यक था कि वह (ईसा) सभी बातों में अपने भाइयों के सदृश बन जायें ।" फिर याजक के समान उन्होंने मानव-

---

45. योहन का पहला पत्र, 4.10

मुक्ति के लिए जीवन-दान पिता-परमेश्वर को समर्पित किया। ईसा ने इसलिए मानव की मरणशील स्थिति में भाग लिया। "जिससे वह ईश्वर सम्बन्धी बातों में मनुष्यों में दयालु और ईमानदार प्रधान याजक के रूप में उनके पापों का प्रायश्चित्त कर सकें।"[46] इस याजक की तुलना के परिप्रेक्ष्य में ईसा की क्रूस पर मृत्यु दूसरों के लिए प्रायश्चित्त का बलिदान मानी जाती है। संक्षेप में, ईसा मुक्ति के मध्यस्थ इन दो कारणों से माने जा सकते हैं : पहला, अपने ईश-मानवत्व के फलस्वरूप वह मानो परमेश्वर और मानव के बीच रहते हैं। दूसरा, अपने जीवन-बलिदान द्वारा उन्होंने परमेश्वर और मानव के बीच में एकता स्थापित की है। फिर, मानव की परमेश्वर से एकता ही तो मानव की मुक्ति है।

संत पौलुस एक दूसरी तुलना द्वारा यह समझाते हैं कि ईसा मसीह मानव जाति के प्रतिनिधि हैं। तुलना इस बात पर बल देती है कि ईसा सम्पूर्ण मानव जाति के मुक्तिकर्त्ता हैं। "आदम" नामक आदि-मानव के विपरीत संत पौलुस ईसा को "अन्तिम आदम" कहते हैं।[47] आदम एक प्रतीकात्मक नाम ही है, जिसका अर्थ "मिट्टी से रचित" आदि मानव की उत्पत्ति की ओर संकेत करता है। इसलिए, "आदम" को वास्तव में एक व्यक्ति नहीं, बल्कि सामान्य रूप से मानव ही माना जा सकता है। दूसरे शब्दों में, आदम मानव जाति का प्रतिनिधि है। ईसा को भी "आदम" कहने से संत पौलुस का तात्पर्य है कि ईसा मसीह भी मानव जाति के प्रतिनिधि हैं। लेकिन आदि और अन्तिम आदम का प्रसंग भिन्न-भिन्न है। "आदि मानव" की उत्पत्ति सम्पूर्ण मानव जाति की सृष्टि समझाती है; अन्तिम आदम मानव जाति की पुन: सृष्टि, अर्थात् मुक्ति से सम्बन्ध रखता है। इसके अतिरिक्त आदि-आदम को पतित मानव का आदर्श भी माना जाता है। उत्पत्ति ग्रन्थ के अनुसार[48] वही पाप का स्रोत हुआ, जिसका फल मौत भी हुई। अन्तिम आदम, अर्थात् ईसा के समान संत पौलुस आदि आदम को भी एक ही व्यक्ति के रूप में प्रस्तुत करते हैं। उनका उद्देश्य यह दिखाना है कि जिसप्रकार एक ही मानव, अर्थात् आदम, के कारण सम्पूर्ण मानव जाति को पाप और मृत्यु भोगनी पड़ी, ठीक उसी प्रकार एक ही मानव, अर्थात् मसीह, के कारण सम्पूर्ण जाति को जीवन और मुक्ति मिली। उनके शब्दों में : "यह सच है कि मृत्यु का राज्य एक मनुष्य के अपराध के फलस्वरूप—एक ही के द्वारा–प्रारम्भ हुआ, किन्तु जिन्हें ईश्वर की कृपा तथा पाप-मुक्ति का वरदान प्रचुर मात्रा में मिलेगा, वे एक ही मनुष्य—ईसा मसीह—के द्वारा जीवन का राज्य प्राप्त करेंगे।"[49] इस प्रकार संत पौलुस "अन्तिम आदम" की तुलना द्वारा इस

---

46. इब्रानियों के नाम पत्र 2.17
47. कुरिन्थियों के नाम पहला पत्र 15.45
48. अध्याय 3
49. रोमियों के नाम पत्र, 5.17

बात की व्याख्या करते हैं कि ईसा मसीह मुक्ति के प्रसंग में सम्पूर्ण मानव जाति के प्रतिनिधि हैं, दूसरे शब्दों में सब मनुष्यों के लिए मुक्ति के मध्यस्थ हैं।

इस परिच्छेद के अन्त में महत्त्व की एक बात जोड़नी है। ईसा मसीह की मध्यस्थता को उत्तरार्द्ध के लेखक तुलना या दृष्टान्त के माध्यम से स्पष्ट करने की कोशिश करते हैं। मसीह का एक ऐसे याजक के रूप में वर्णन किया गया है, जो दूसरों के लिए अपना जीवन समर्पित करता है। उन्हें अन्तिम आदम के रूप में भी प्रस्तुत किया जाता है, जो सम्पूर्ण मानव जाति की मुक्ति का स्रोत है। फिर भी, तुलना मात्र तर्क नहीं हो सकती है। दूसरे शब्दों में उत्तरार्द्ध केवल ईसाई विश्वास का प्रतिपादन करता है, उसको सत्य प्रमाणित नहीं करता है। प्रस्तुत प्रसंग में हमारा उद्देश्य भी केवल ईसाई धर्म का वर्णन करना है, प्रामाणिकता के प्रश्न को छोड़कर। फिर भी आदि-चेलों का विश्वास आधार-रहित नहीं था। ईसा की मुक्तिदायिनी मृत्यु पर उनका विश्वास एक असंदिग्ध तथ्य पर निर्भर था, अर्थात् ईसा का पुनरुत्थान। इसे ही आगे स्पष्ट किया जा रहा है।

(ग) पुनरुत्थान

इसमें कोई संदेह नहीं है कि आदि-चेलों को दृढ़ विश्वास था कि उन्होंने पुनर्जीवित ईसा के साक्षात् दर्शन किये थे। "सुसमाचारों" के अन्त में इन भिन्न-भिन्न दर्शनों का वर्णन मिलता है।[50] इन सबों का तात्पर्य यह है कि ईसा के दफन के तीन दिन बाद उनका मृत्यु से पुनरुत्थान हुआ था। फिर कुछ देर तक पुनर्जीवित ईसा ने अनेक अवसरों पर अपने दर्शन दिये। जबकि आदि-चेलों के सद्भाव के विषय में कोई संदेह नहीं हो सकता है, भ्रम की सम्भावना भी नहीं दिखाई पड़ती है। दर्शन का अनुभव तो प्रत्यक्ष ही था। उन्होंने ईसा को बोलते सुना, चलते देखा, उनका स्पर्श भी किया।[51] फिर भी पुनर्जीवित ईसा का शरीर स्थूल रूप में नहीं, सूक्ष्म ही था : द्वार बन्द होते हुए भी वह भीतर प्रविष्ट हो जाया करते थे।[52] भ्रम की सम्भावना इसलिए भी कम थी कि आदि-चेलों को ईसा की मृत्यु के बाद उन्हें फिर जी उठने की प्रतीक्षा नहीं थी। वस्तुतः उनके गुरु ने इस बात के विषय में भविष्य-वाणी की थी, लेकिन चेलों की समझ में यह नहीं आया था कि "मृतकों में से जी उठने का क्या अर्थ हो सकता है।"[53] चाहे उनका भ्रम हो या नहीं, आदि-चेलों का एकमत विश्वास था कि क्रूस पर मृत्यु के बावजूद ईसा मसीह जीवित हैं। तद्नुसार ईसा का पुनरुत्थान उनके उपदेशों का मुख्य विषय बन गया। पंचाशती महोत्सव से

---

50. मत्ती, अध्याय 28; मारकुस, 16; लूकस, 24; योहन, 20-21
51. उदाहरणार्थ देखें, लूकस 24,39-42
52. देखें, योहन, 20.19
53. मारकुस 9.10

लेकर जब उन्हें पवित्र आत्मा का दान मिला था, वे साहसपूर्वक अपने विश्वास का साक्ष्य देने लगे, यह कहकर कि "आप लोगों ने विधर्मियों के हाथों उन्हें क्रूस पर चढ़वाया और मरवा डाला है, किन्तु ईश्वर ने मृत्यु के बन्धन खोलकर उन्हें पुनर्जीवित कर दिया।"[54] परवर्ती धर्म-प्रचार में भी ईसा-पुनरुत्थान की घोषणा मुख्य संदेश थी।

घटना की यथार्थता का प्रश्न छोड़कर हम इस प्रश्न का उत्तर ढूंढें कि 'आदि-चेले पुनरुत्थान पर इस विश्वास की कौन-सी व्याख्या प्रस्तुत करते थे ?' वास्तव में ईसा मसीह के पुनरुत्थान को यदि हम परिकल्पना के रूप में स्वीकार करें, तो इसका तात्पर्य क्या होता है ? फिर जी उठने से ईसा ने मृत्यु पर विजयी सिद्ध होकर अमरता की प्राप्ति की। स्पष्टतः पुनरुत्थान से यह प्रथम निष्कर्ष निकलता है। इसके अतिरिक्त पुनरुत्थान में आदि-चेलों ने ईसा के ईश्वरत्व का प्रमाण भी देखा। क्रूस पर मरण-अपमान के बाद जो महिमा पुनर्जीवित मसीह को मिली थी, उसे परमेश्वर के ऐश्वर्य के समान ही माना गया। ऊपर उद्धृत संत पौलुस के कथन के अनुसार ईसा को पुनरुत्थान के फलस्वरूप "प्रभु" का नाम प्राप्त हुआ, अर्थात् उस समय से ईसा मसीह का ईश्वरत्व प्रकट रूप में दिखाई पड़ा।[55] जीवन भर ईसा का ऐश्वर्य मानो प्रच्छन्न बना रहा था। पुनरुत्थान से ही आदि-चेले ईसा का ईश्वरत्व पहचान सके। उसी समय से वे उन्हें न केवल मसीह, अपितु ईश्वर स्वरूप मसीह भी मानने लगे। इस नवीन दृष्टिकोण से उन्हें ऐसा मालूम पड़ा कि पूर्वार्द्ध की मसीह-सम्बन्धी प्रतिज्ञा ईसा की ओर ही संकेत करती है। तद्नुसार ईसाई इब्रानियों का धर्म ग्रन्थ अपनाकर इसकी व्याख्या ईसा मसीह के परिप्रेक्ष्य में करने लगे।[56] इसके फलस्वरूप ईसा मसीह उन्हें परमेश्वर की ओर से प्रेषित मुक्तिकर्त्ता प्रतीत हुए, जिसकी मध्यस्थता द्वारा मानव को ईश-जीवन में सहभागिता मिलती है। एक शब्द में, ईसाई धर्म के समस्त सिद्धान्त पुनरुत्थान से निष्कर्ष के रूप में निकलते है। यह बात संत पौलुस को स्पष्ट रूप से मालूम थी : "यदि मसीह नहीं जी उठे, हमारा धर्म-प्रचार व्यर्थ है और आप लोगों का विश्वास भी व्यर्थ है।"[57]

अन्य आदि-चेलों के समान संत पौलुस का दृढ़ विश्वास था कि वास्तव में ईसा जी उठे। कारण, उन्हें भी पुनर्जीवित ईसा के दर्शन मिले थे।[58] अतः उनके विश्वास का आधार प्रत्यक्ष अनुभव ही था। सम्पूर्ण परवर्ती ईसाई परम्परा इसी स्रोत से बह निकली। शुरू से लेकर आज तक ईसाई धर्मावलम्बी आदि-चेलों का

---

54. प्रेरित चरित 2.23-24
55. देखें फिलिप्पियों के नाम पत्र, 2.9-11
56. देखें, लूकस 24-27
57. कुरिंथियों के नाम पहला पत्र 15.14
58. देखें, प्रेरित-चरित 9.3-9

साक्ष्य प्रमाणित मानकर ईसा के पुनरुत्थान पर अपना धर्म स्थापित करते हैं। उसी साक्ष्य से धर्म-प्रचार शुरू हुआ। उसी साक्ष्य पर ईसाई धर्म का निर्माण किया गया, और उसी पर वह आज तक टिका है। ऐतिहासिक दृष्टिकोण से एक ऐसी परम्परा भ्रम मात्र पर आधारित है, यह शायद असंभाव्य प्रतीत होगा। प्रस्तुत दृष्टि से महत्त्व का निष्कर्ष यह निकलता है कि ईसाई धर्म का मूल-भूत आधार धार्मिक अनुभव है। परवर्ती विकास में भी ईसाई विश्वास की नींव इस अनुभव के विषय में आदि-चेलों का साक्ष्य ही है, इसलिए समकालीन ईसाइयों का विश्वास कम से कम अप्रत्यक्ष रूप से अनुभव पर आश्रित है।

युगांत

ईसाई दृष्टिकोण से ईसा ने जो मुक्ति प्राप्त की है, वह सम्पूर्ण मानव जाति के हित के लिए है। उन्हीं की मृत्यु द्वारा मानव जाति को मृत्यु पर विजय मिली। फलतः मुक्ति की पूर्ति, अर्थात् पुनरुत्थान में भी सभी का समावेश होना आवश्यक है। तदनुसार ईसा-भक्त इस जीवन की समाप्ति के बाद फिर जी उठने से अमरता प्राप्त करने की प्रतीक्षा करता है। स्पष्टतया पारलौकिक जीवन ऐहिक जीवन से बिल्कुल भिन्न है : अमर जीवन मरणशील स्थिति के समान कैसे हो सकता है ? मृत्यु से पुनरुत्थान की तुलना संत पौलुस बीज से फूट कर निकलते अंकुर से करते हैं; साथ ही वह इस बात पर बल देते हैं कि जो सूक्ष्म शरीर उत्पन्न होता है, वह स्थूल शरीर से पूर्णतया भिन्न है। "जो बोया जाता है, वह नश्वर है; जो जी उठता है, वह अनश्वर है। जो बोया जाता है, वह दीन-हीन है; जो जी उठता है, वह महिमान्वित है। जो बोया जाता है, वह दुर्बल है; जो जी उठता है, वह शक्तिशाली है। एक जीवात्मा का शरीर बोया जाता है और एक आत्मा का शरीर जी उठता है।"[59] पूर्वोक्त पुनरुत्थान की धारणा "देहमुक्ति" कही जा सकती है। इसका तात्पर्य यह है कि सांसारिक जीवन की समाप्ति पर ही मानव अमर जीवन प्राप्त कर सकता है। इसके अतिरिक्त "जीवन-मुक्ति" की धारणा भी प्रचलित है, जिसके अनुसार ऐहिक स्थिति में ही अमरता प्राप्त की जाती है। वास्तव में ये दोनों परस्पर विरोधी विकल्प नहीं हैं, बल्कि जीवन-मुक्ति देह-मुक्ति की **प्रत्याभूति** ही है। अब इसे हम कुछ और स्पष्ट करेंगे।

"परायी मुक्ति" के संदर्भ में यह कहा गया है कि यद्यपि ईसा मसीह ने मानव जाति के लिए मुक्ति का द्वार खोल दिया है, तथापि प्रत्येक मानव को साधना करके इस मुक्ति को अपनाना चाहिए। भक्त की सिद्धि ईसा की मुक्ति के अभाव में व्यर्थ होती ; इसलिए, ईसाइयों की मान्यता है कि मुक्ति प्राप्त करने के निमित्त ईसा-भक्त को मुक्ति-कार्य का सहभागी होना आवश्यक है, उसे ईसा की मुक्ति-प्रदायिनी

---

59. कुरिंथियों के नाम पहला पत्र 15.42-44

मृत्यु और पुनरुत्थान में ही भाग लेना है। प्रतीकात्मक रूप से यह सहभागिता ईसाई दीक्षा-संस्कार द्वारा स्थापित की जाती है। संत पौलुस की इस उक्ति का तात्पर्य है : "आप लोग स्नान-संस्कार के समय मसीह के साथ दफनाये गये और उन्हीं के साथ पुनर्जीवित भी किये गये हैं।"[60] अन्तिम शब्दों से यह स्पष्ट है कि ईसा-भक्त को विश्वास है कि इसी जीवन में ही उसे पुनर्जीवित स्थिति मिली है। फिर भी, अमर जीवन सिर्फ अव्यक्त रूप से प्राप्त हुआ है; इसकी अभिव्यक्ति शारीरिक मृत्यु के बाद ही होगी। फलतः जीवन-मुक्ति और देह-मुक्ति के सामंजस्य का तात्पर्य है : अव्यक्त व्यक्त स्थिति का सम्बन्ध। संत पौलुस के शब्दों में : "आप तो मर चुके हैं, आप का जीवन मसीह के साथ ईश्वर में छिपा हुआ है। मसीह ही आप का जीवन है। जब मसीह प्रकट होंगे, तब आप भी उनके साथ महिमान्वित होकर प्रकट हो जाएंगे।"[61]

उपर्युक्त उद्धरण ईसा के पुनरागमन की ओर संकेत करता है। प्रारम्भ के दर्शनों को छोड़कर पुनर्जीवित होते हुए भी ईसा मसीह आंखों से लुप्त हो गये थे। दृष्टि से उनकी इस अनुपस्थिति को आदि-चेले मसीह का "स्वर्गारोहण" कहने लगे। साथ ही उनका दृढ़ विश्वास था कि सम्पूर्ण विश्व का मुक्तिकर्ता होकर ईसा मसीह किसी समय प्रकट रूप से विश्व पर अपना शासन करेंगे। प्रतीकात्मक शब्दावली में मसीह का यह प्रकटीकरण उनका "पुनरागमन" कहा गया।[62] पहला आगमन तो ईश-शब्द के मानव शरीर धारण के समय हुआ था। ईसा का राज्य न्याय का राज्य माना गया, इसलिए उनका पुनरागमन न्यायकर्त्ता के रूप में प्रस्तुत किया गया। निर्णायक रूप से वह धर्मियों और दुष्टों का पृथक्करण करेंगे। उल्लेखनीय बात है कि फैसले की कसौटी भ्रातृप्रेम ही होगी। न्यायकर्त्ता मसीह का धर्मियों से कहना इस प्रकार होगा : "आओ और उस राज्य के अधिकारी बनो............; क्योंकि मैं भूखा था और तुमने मुझे खिलाया; मैं प्यासा था और तुमने मुझे पिलाया" इत्यादि। इस कथन में आश्चर्य की बात है कि मसीह अपने आपको दरिद्रों से अभिन्न मानते हैं। इस बात की व्याख्या आगे इस प्रकार दी जाती है : "तुमने मेरे इन भाइयों में से किसी एक के लिए, चाहे वह कितना ही छोटा क्यों न हो, जो कुछ किया, वह तुमने मेरे लिए ही किया।"[63] मानव स्थिति को धारण करने से मसीह ने मानव दुःख भी उठा लिया। न्याय सम्पूर्ण मानव जाति का होगा, इसलिए वह युगांत में ही हो सकता है। युगांत कब होगा, यह एक निरर्थक प्रश्न है : सांसारिक काल की समाप्ति से बढ़कर युगांत को मुक्ति-कार्य की परिपूर्णता मानना चाहिए।

---

60. कलोसियों के नाम पत्र 2.12
61. वही 3.3-4
62. प्रेरित-चरित 1.11 देखें।
63. मत्ती 25.34-35, 40

III ईसाई धर्म

(क) ईश-राज्य :

ईसा मसीह के धर्मोपदेश का मुख्य विषय होता था ईश-राज्य की घोषणा। वास्तव में मनुष्यों के बीच उनका आगमन इस राज्य को उद्घाटित करता था। यह है उनकी इस उक्ति का अर्थ "ईश्वर का राज्य तुम्हारे ही बीच है"[64], अर्थात् मैं ही आप लोगों के लिए मुक्ति लेकर आया हूं। इस तरह ईसा मसीह ही ईश-राज्य हैं। जो मानव जाति की परमेश्वर से एकता स्थापित करते हैं। अगले परिच्छेद में यह स्पष्ट किया जाएगा किस प्रकार कलीसिया या ईसाई धर्म-मण्डल ईश-राज्य का प्रतिनिधि माना जा सकता है। प्रस्तुत संदर्भ में हम ईसा के दृष्टान्तों का सहारा लेकर ईश-राज्य के रहस्यमय स्वभाव का वर्णन करेंगे। पाठक इस बात पर ध्यान दें कि 'ईश्वर का राज्य' के बदले संत मत्ती उसे "स्वर्ग का राज्य" भी कहते हैं; इस कथन में "स्वर्ग" ईश्वर का बोधक है ईश-राज्य की प्रकृति विरोधाभासी लगती है। अदृश्य होते हुए भी यह एक प्रभावशाली तथ्य है : वह "उस खमीर के सदृश है, जिसे किसी स्त्री ने तीन पसेरी आटे में मिलाया और सारा आटा खमीरा हो गया।"[65] फिर, प्रारम्भ में छोटा होते हुए भी बाद में उसका बहुत विस्तार मिलता है : "स्वर्ग का राज्य राई के दाने के सदृश है······· । यह तो सब बीजों से छोटा है, परन्तु बढ़कर सब पौधों से बड़ा हो जाता है।"[36] वास्तव में ईश-राज्य का विस्तार सार्वभौम ही होगा। यहूदियों में प्रचलित धारणा के विपरीत ईसा का कहना है कि ईश राज्य में सब जातियां प्रवेश करेंगी। ईसा का संदेश अस्वीकार करने के फलस्वरूप पूर्वार्द्ध की चयनित प्रजा स्वयं ही बहिष्कृत हो जाएगी। "मैं तुम से कहता हूं···· बहुत से लोग पूर्व और पश्चिम से आकर स्वर्गराज्य में सम्मिलित होंगे, परन्तु राज्य की प्रजा को बाहर, अन्धकार में फेंक दिया जाएगा।"[67]

यहूदियों के उदाहरण से स्पष्ट है कि जन्म या जाति के आधार पर किसी को राज्य की सदस्यता नहीं मिलती है। फिर, इसमें प्रवेश करने की शर्तें कौन-कौन सी हैं? इस अन्वेषण से ईश-राज्य की प्रकृति पर और प्रकाश पड़ेगा। इसकी प्राप्ति के लिए हमें अपना सब कुछ समर्पित कर देना चाहिए, जैसे एक बहुमूल्य मोती को प्राप्त करने के लिए कोई व्यापारी अपनी सम्पूर्ण सम्पत्ति बेचने को तैयार हो जाता है।[68] दीन-हीन बन जाने की आवश्यकता भी है। ईसा का कहना है कि "यदि तुम

---

64. लूकस, 17.21
65. मत्ती 13 33
66. मत्ती 13.31-32
67. मत्ती 8.11-12
68. देखें, मत्ती, 13.45-46

फिर छोटे बालकों जैसे नहीं बन जाओगे, तो स्वर्ग के राज्य में प्रवेश नहीं करोगे।"[69] ईश राज्य में सम्मिलित होने की शर्तों का सबसे प्रसिद्ध वर्णन पर्वत-प्रवचन की भूमिका के "अष्टशील" में मिलता है। इसमें ईसा उन्हीं को "धन्य" कहते हैं जो ईश-राज्य में प्रवेश करने योग्य हैं। उनके शब्द हैं—धन्य हैं वे, जो अपने को दीन-हीन समझते हैं—स्वर्गराज्य उन्हीं का है। धन्य हैं वे, जो नम्र हैं उन्हीं को प्रतिज्ञात देश प्राप्त होगा" इत्यादि।[70]

ईश-राज्य का यह स्वरूप ही बाइबिल सम्मत है। इस आदर्श को मूर्त्त रूप देने के लिए ईसा ने एक धर्म-मण्डल का गठन किया। उसकी स्थापना, प्रारम्भिक विकास और स्वभाव अगले परिच्छेद का विषय होगा।

कलीसिया या ईसाई धर्म-मण्डल

अपने जीवन-काल में ईसा अपने शिष्यों में से बारह चेलों को चुनकर उन्हें विशेष रूप से धर्म-शिक्षा दिया करते थे। इस दल के आधार पर ईसा ने अपने धर्म-मण्डल के गठन का निर्णय किया। इस दृष्टिकोण से बारह की संख्या प्रतीकात्मक थी। पूर्व-विधान की प्रजा के समान, जिसमें बारह वंश शामिल थे, बारह आदि-चेलों पर निर्मित धर्म-मण्डल नव-विधान की ईश-प्रजा माना जा सकता था। ईसा ने अपना उद्देश्य इसी प्रकार प्रकट किया। पेत्रुश नामक आदि-चेलों के प्रधान से उन्होंने यह प्रतिज्ञा की कि : "तुम पेत्रुस अर्थात् चट्टान हो और इस चट्टान पर मैं अपनी 'कलीसिया' बनाऊंगा।"[71] ऐसे कहकर उन्होंने "पेत्रुस" के मौलिक अर्थ की ओर संकेत किया। फिर, "कलीसिया" यूनानी "एक्लेसिया" शब्द का रूपांतर है, जो स्वयं इब्रानी "कहल" शब्द का अनुवाद है; इसका अर्थ है (ईसा-भक्तों का) "समुदाय"। व्यक्त रूप से कलीसिया की स्थापना पुनरुत्थान के पश्चात् ही हुई। यह इस प्रकार हुआ। "पंचशती" महोत्सव के अवसर पर आदि-चेलों ने ईश-आत्मा के साक्षात् दर्शन किये थे। इसके प्रभाव से उन्हें साहसपूर्वक धर्म-प्रचार करने की प्रेरणा मिली।[72] इसके अनुसार वे "प्रेरित" कहलाने लगे जिसका यूनानी में अर्थ है "अपोस्तोलोस", अर्थात् संदेशवाहक या दूत।

पहली शताब्दी ईसवी में ही प्रेरितों का धर्म-प्रचार न केवल फिलिस्तीन में, बल्कि, पश्चिम एशिया और ग्रीस तथा साम्राज्य की राजधानी रोम नगर तक फैल गया था। उस विस्तार का ऐतिहासिक उल्लेख "प्रेरित-चरित" नामक ग्रन्थ में पढ़ा जा सकता है। उल्लेखनीय बात है कि यहूदियों के बीच उत्पन्न होने पर भी ईसाई

---

69. मत्ती, 18.3
70. मत्ती, 5.3-4 (पद 11 तक देखें)
71. मत्ती 16.18
72. प्रेरित-चरित 2.1-13 देखें

कलीसिया यहूदी जाति तक सीमित नहीं रही, इसमें गैर-यहूदी जातियाँ भी शामिल हुई। पेत्रुस ने स्वयं ही कोर्नेलियुस नामक एक रोमन सेनापति को दीक्षा दी।[73] संत पौलुस यूनानी और अन्य जातियों के बीच में महान् धर्म-प्रचारक हुए। अपने पत्रों में वह सब जातियों और वर्णों की ईसा मसीह में एकता घोषित करते हैं : "अब न तो कोई यहूदी है और न यूनानी, न तो कोई गुलाम है और न स्वतन्त्र.......आप ईसा मसीह में एक हो गये हैं।"[74] वास्तव में एकता ईसा-भक्तों का स्वलक्षण ही था। आदि-संघ के विषय में यह लिखा हुआ है कि "विश्वासियों का समुदाय एक-हृदय और एकप्राण था।"[75] यहां तक कि समुदाय की धन-सम्पत्ति में भी सदस्यों का साझा होता था। वे तो अपनी चल-अचल सम्पत्ति तक को बेचकर प्राप्त धन को हर एक की जरूरत के अनुसार बांटा करते थे। इसके फलस्वरूप उनमें कोई कंगाल नहीं था।[76]

नव-दीक्षित भक्त स्नान-संस्कार प्राप्त कर कलीसिया में समाविष्ट किये जाने लगे। आदि-चेले सार्वभौम धर्म-प्रचार अपने गुरु की आज्ञा ही मानते थे, क्योंकि उन्होंने उनसे यह कहा था कि "तुम लोग जाकर सभी राष्ट्रों के लोगों को शिष्य बनाओ और उन्हें पिता, पुत्र और पवित्र आत्मा के नाम पर बपतिस्मा दो।"[77] "बपतिस्मा" यूनानी शब्द है जिसका अर्थ है : पानी में डुबाना, स्नान संस्कार की पुरानी विधि के अनुसार। आज तक आदि चेलों में प्रीति-भोज का एक दूसरा व्यवहार भी प्रचलित है। इसे यूनानी में "यूखारिस्त", अर्थात् धन्यवाद-ज्ञापन का यज्ञ कहते हैं। अपने दुःखभोग के पहले ईसा ने आदि-चेलों के साथ अन्तिम भोजन किया था। उसी की स्मृति में शताब्दियों तक ईसा-भक्त प्रीति-भोज स्वरूप बलिदान मनाया करते हैं। प्रारम्भिक कलीसिया की एक और विलक्षणता है, अर्थात् प्रधान के नेतृत्व में प्रेरितों का अधिकार। आज तक उनके उत्तराधिकारियों का शासन बना रहा है। बाह्य ढांचे के इन अवयवों से बढ़कर ईसा मसीह से कलीसिया की एकता महत्त्व की है। दाखलता के दृष्टान्त में ईसा ने अपने आप से चेलों का संयोग अच्छी तरह से अभिव्यक्त किया है : "मैं दाखलता हूं और तुम डालियाँ हो। जो मुझ में रहता है और मैं जिसमें रहता हूं, वही बहुत फलता है।"[78] पूर्व-विधान की उपर्युक्त तुलना के अनुसार संत पौलुस ईसा मसीह का कलीसिया से सम्बन्ध पति-पत्नी के रूप में प्रस्तुत करते हैं।[79] कलीसिया तो नव-विधान की चयनित प्रजा मानी जाती

73. प्रेरित चरित, अध्याय 10
74. गलातियों के नाम पत्र 3.28
75. प्रेरित-चरित 4.32
76. देखें. प्रेरित-चरित 2.44-45; 4.32-35
77. मत्ती 28.19
78. योहन 15.5
79. देखें, एफेसियों के नाम पत्र 5.32

है। पूर्व-विधान की प्रजा के समान वह परमेश्वर की प्रियतमा प्रतीत होती है। यहूदी जाति के विपरीत वह सब जातियों को माता के सदृश अपनी गोद में लेती है। संत पौलुस के पुत्रों में शरीर का दृष्टान्त भी मिलता है। भिन्नता के बावजूद जिस प्रकार अंगों का सहयोग होता है, उसी प्रकार शरीर-रूपी कलीसिया में ईसा-भक्तों का पारस्परिक सम्बन्ध भी समाविष्ट है। ईसा मसीह को स्वयं ही इस "शरीर" का शीर्ष माना जाता है, जिनसे ईसा-भक्त संयुक्त रहते हैं।[80]

(ख) धर्म

विश्वास

ईसाई धर्म में विश्वास या आस्था का विशेष महत्त्व है। इस आस्था में मुक्ति-सम्बन्धी निश्चय और मुक्तिदाता ईश्वर के प्रति श्रद्धा, ये दोनों निहित हैं। दूसरे शब्दों में, विश्वास का तात्पर्य है : ईसा भक्त की ओर से मुक्तिकर्त्ता स्वरूप ईसा मसीह को आत्मसमर्पण या प्रपत्ति। इस मनोवृत्ति का स्पष्टीकरण एक-दो उदाहरण द्वारा किया जा सकता है। विश्वास (ईसा-भक्तों का मूल सद्गुण) का आदर्श ईसा की माता संत मरियम को माना जाता है। सुसमाचार में उनकी प्रशंसा इस प्रकार की गई है : "धन्य हैं आप जिन्होंने यह **विश्वास** किया कि प्रभु ने आप से जो कहा, वह पूरा हो जाएगा।"[81] जिस ईश-वचन की चर्चा यहां है, उसके अनुसार संत मरियम को अलौकिक रूप से भावी मसीह की माता बनना आवश्यक था। इस ईश-वचन को ज्योंही संत मरियम ने स्वीकार किया, उसी क्षण ईश-शब्द के मानव स्वरूप में मूर्त्त होने के फलस्वरूप मुक्तिकार्य प्रारम्भ हुआ। इस उदाहरण से विश्वास का मुक्ति से घनिष्ठ सम्बन्ध स्पष्ट है। विश्वास की यह दूसरी प्रशंसा ईसा के मुख से ही सुनाई पड़ती है : "धन्य हैं वे, जो बिना देखे ही विश्वास करते हैं।"[82] इस कथन का प्रसंग है थोमस नामक आदि-चेले की ओर से ईसा मसीह के पुनरुत्थान और ईश्वरत्व की स्वीकारोक्ति। उपयुक्त आशीर्वचन के विपरीत संत थोमस साक्षात् दर्शन पर ही विश्वास करने को तत्पर हुए। यथार्थ के विश्वासी पुनर्जीवित ईसा का प्रभुत्व साक्ष्य मात्र के आधार पर स्वीकार करते हैं। इस उदाहरण से विश्वास का मुक्ति से सम्बन्ध प्रतीत होता है : पुनरुत्थान तो मुक्तिकार्य की सफलता को सिद्ध करता है।

सैद्धान्तिक रूप से संत पौलुस पूर्वोक्त अर्थ में विश्वास को मुक्ति-प्राप्ति की शर्त मानते हैं। ईसा की मृत्यु पर विजय इससे प्रमाणित हुई कि वह मृत्यु से फिर जी उठे; साथ ही उनका ईश्वरत्व भी व्यक्त रूप से दिखाई पड़ा। ये दो बातें, अर्थात् ईसा का प्रभुत्व और पुनरुत्थान मुक्ति का आधार ही हैं। इसलिए, "यदि आप

---

80. देखें, कुरिंथियों के नाम पहला पत्र 12.12-13; एफेसियों के नाम पत्र 4.15-16
81. लूकस 1.45
82. योहन 20.29

लोग मुख से स्वीकार करते हैं कि ईसा प्रभु हैं और हृदय से विश्वास करते हैं कि ईश्वर (पिता परमेश्वर) ने उन्हें (ईसा मसीह) मृतकों में से जिलाया है, तो आप को मुक्ति प्राप्त होगी।"[83] विश्वास को अर्थात् इन बातों की भरोसे के साथ स्वीकृति को ईसाई इसलिए मुक्ति की शर्त मानते हैं, क्योंकि मुक्ति परमेश्वर की ओर से अनुग्रह का दान ही है। फिर, वरदान को प्राप्त करने की उपर्युक्त मनोवृत्ति विश्वास जैसी ग्रहणशील भावना ही हो सकती है।

विश्वास और कर्म का विरोध इस बात से सम्बन्ध रखता है। यदि वास्तव में मुक्ति ईश्वर के अनुग्रह का फल है, तो मानव कठोर परिश्रम करने पर भी उसे प्राप्त करने में असमर्थ रहता है। ईसा के मुक्ति-कार्य के अभाव में मानव साधना की सिद्धि प्राप्त करने में असफलता अनिवार्य है। इसी अर्थ में कार्य व्यर्थ है; विश्वास ही मुक्तिदायक हो सकता है। "जो कर्म नहीं करता, किन्तु उसमें विश्वास रखता है जो अधर्मी को धार्मिक बनाता है, तो वह अपने विश्वास के कारण धार्मिक माना जाता है।"[84] इस संदर्भ में यह न भूला जाय कि संत पौलुस विशेष रूप से पूर्वार्द्ध का कर्मकाण्ड व्यर्थ समझते हैं: जब तक मुक्तिकर्ता ईसा का आगमन नहीं हुआ था, मुक्ति की सम्भावना ही नहीं हो सकी थी। इसलिए "हम मानते हैं कि संहिता के कर्मकाण्ड द्वारा नहीं, बल्कि विश्वास द्वारा मनुष्य पापमुक्त होता है।"[85] कहने की जरूरत नहीं है कि कार्यरहित विश्वास भी निष्फल ही है। यह भी सत्य है कि साधना के अभाव में मानव मुक्ति को नहीं अपना सकता है। इसलिए एक दूसरे आदि-चेले का कहना है कि कर्मों के अभाव में विश्वास अपने आप में निर्जीव है।"[86] प्रसंग से स्पष्ट है कि कर्मों का तात्पर्य भ्रातृ-प्रेम के कार्य हैं।

अनुग्रह

विश्वास मानव की ओर से मुक्ति-दान प्राप्त करने के लिए ग्रहणशीलता है; परमेश्वर की ओर से मुक्ति असीम अनुग्रह का फल है। यूनानी मूल शब्द "खारिस", अर्थात् अनुग्रह में दयालुता कृपालुता, उपकार, सद्भाव, सदिच्छा, ये सब सन्निहित हैं। अनुग्रह शांति से भी सम्बन्ध रखता है: इन दोनों का संयोग अनेक प्रेरित-पत्रों के सम्बोधन में मिलता है। उदाहरणार्थ, संत पौलुस रोम नगर में रहने वाले ईसा-भक्तों को इस प्रकार सम्बोधित करते हैं: "हमारा पिता ईश्वर और प्रभु ईसा मसीह आप लोगों को अनुग्रह तथा शांति प्रदान करें।"[87] ईश्वर का अनुग्रह मुक्ति का स्रोत

83. रोमियों के नाम पत्र 10.9
84. वही, 4.5
85. वही, 3.28
86. याकूब का पत्र 2.17 (पद 15.16 भी देखें)
87. रोमियों के नाम पत्र 1.7

है; इसलिए परमेश्वर की ओर से सर्वप्रथम कृपादान मुक्तिकर्ता ही है। इन्हीं को प्राप्त कर ईसा-भक्तों को सब कुछ प्राप्त करने का आश्वासन मिलता है। संत पौलुस के शब्दों में : "उन्होंने (पिता परमेश्वर ने) हम सबों के लिये उन्हें (ईसा, अपने निजी पुत्र को) समर्पित कर दिया; तो इतना देने के बाद क्या वह हमें सब कुछ नहीं देगा ?"[88]

मुक्ति के परिणामस्वरूप मानव की परमेश्वर से एकता स्थापित की जाती है। इसलिए अनुग्रह के फलस्वरूप; जो मुक्ति का स्रोत है; मानव परमेश्वर को स्वीकार्य भी बन जाता है। संत मरियम (ईसा की माता) जिस प्रकार विश्वास का आदर्श है, उसी प्रकार दूसरों से बढ़कर परमेश्वर को सुग्राह्य भी हैं। कारण, उनका विश्वास उतना गहरा था, कि वह मुक्तिकर्ता को ही गोद में ग्रहण करने योग्य सिद्ध हुईं। इसलिए उन्हें "प्रभु की कृपापात्री" कहा जाता है, अर्थात् उन्हें अनुग्रह की पूर्णता मुक्तिकर्ता के रूप में मिली। दिव्य अनुग्रह की ओर से ही सभी ईसा-भक्तों को मुक्ति प्राप्त होती है। फिर भी, विश्वास और कर्म के विरोध के सदर्भ में हम ने यह भी देखा है कि मानव को साधना करके मुक्ति प्राप्त करनी पडती है। मुक्तिकार्य का एक दूसरा विरोधाभास यह है कि मानव की साधना ही अनुग्रह का दान है। अपनी ईसा मसीह की सेवा के विषय में संत पौलुस ऐसा लिखते हैं : "मैंने उन सबसे (दूसरे प्रेरित) अधिक परिश्रम किया है–मैंने नहीं, बल्कि ईश्वर की कृपा ने, जो मुझ में विद्यमान है।"[89] इसलिए अंततः न केवल मुक्ति, बल्कि साधना और सिद्धि भी अनुग्रह का फल हैं। वास्तव में मुक्ति प्राप्त करने में मानव जितना अधिक असमर्थ है, उतना अधिक उसमें परमेश्वर अनुग्रह के रूप में क्रियाशील है। ईश्वर का संत पौलुस से कहना इस प्रकार है : "मेरी कृपा तुम्हारे लिए पर्याप्त है, क्योंकि तुम्हारी दुर्बलता में मेरी सामर्थ्य पूर्ण रूप से प्रकट हो जाती है।"[90]

विश्वास द्वारा मानव मुक्ति का अनुग्रह ग्रहण करता है; प्रार्थना द्वारा वह उसकी प्राप्ति के लिए अपना निवेदन प्रकट करता है। ईसा गुरु ने स्वयं ही अपने चेलों को प्रार्थना करना सिखाया था। उनकी शिक्षा के अनुसार ईसा-भक्त परमेश्वर को अपना पिता कह कर सम्बोधित करते हैं; उनकी ओर से वे ईश-राज्य की स्थापना की प्रतीक्षा करते हैं; भौतिक आवश्यकताओं के अतिरिक्त उनसे पाप-क्षमा प्राप्त करने की भी आशा करते हैं। ईसा मसीह से प्राप्त ईसाइयों की प्रार्थना इस प्रकार है : "हे स्वर्ग में विराजमान हमारे पिता।..............तेरा राज्य आये।........ हमारा प्रतिदिन का आहार हमें दे। हमारे अपराध क्षमा कर, जैसे हम ने भी अपने

---

88. वही, 8.32
89. कुरिंथियों के नाम पहला पत्र, 15.10
90. कुरिंथियों के नाम दूसरा पत्र, 12.9

अपराधियों को क्षमा किया है ।"[91] अंतिम शब्दों से स्पष्ट है कि भ्रातृ-प्रेम के अभाव में हमारी प्रार्थना पिता-परमेश्वर को अग्राह्य ही होगी ।

प्रेम

संत योहन द्वारा दी गयी परमेश्वर के सारतत्त्व की परिभाषा सुप्रसिद्ध है, अर्थात् "ईश्वर प्रेम है" । फलतः, ईश-ज्ञान शुद्ध बौद्धिक रूप से नहीं प्राप्त किया जा सकता है, बल्कि प्रेम के स्वभाव को अपनाने से ही इस बात का अनुभव मिलता है कि ईश्वर क्या है । आखिर प्रेम को प्रेम द्वारा ही जाना जा सकता है । इसलिए, "जो प्यार करता है, वह ईश्वर की संतान है और ईश्वर को जानता है ।"[92] इस उद्धरण से स्पष्ट है कि संत योहन के दृष्टिकोण में प्रेम ज्ञान से घनिष्ठ सम्बन्ध रखता है । प्रेम के फलस्वरूप ईसा-भक्त, ईश-जीवन का सहभागी भी बन जाता है, या संत योहन के शब्दों में, परमेश्वर में निवास करता है । "ईश्वर प्रेम है और जो प्रेम में बना रहता है, वह ईश्वर में और ईश्वर उसमें निवास करता है ।"[93] इस पारस्परिक अंतर्यामिता का आधार प्रेम ही है । फिर, ईसाई दृष्टिकोण में प्रेम द्विविध है : वह ईश-प्रेम भी है और भ्रातृ-प्रेम भी । इन दोनों को ईसा एक ही स्तर पर मौलिक धर्म मानते हैं । जब किसी शास्त्री ने उनसे यह पूछा था कि मूसा-संहिता में सब से महत्त्वपूर्ण आज्ञा कौन-सी है, ईसा ने संहिता से उद्धृत करके उससे कहा : "अपने प्रभु ईश्वर को अपने सम्पूर्ण हृदय, अपनी सम्पूर्ण आत्मा और अपनी सम्पूर्ण बुद्धि से प्यार करो । यह सब से बड़ी और पहली आज्ञा है । दूसरी आज्ञा उसी के सदृश है : अपने पड़ोसी को अपने समान प्यार करो ।"[94] इसलिए ईसाई प्रेम का आदेश वास्तव में इब्रानी परम्परा से ही प्रचलित था । फिर, ईसा इसे एक "नया आदेश" कैसे कह सकते हैं : "मैं तुम लोगों को एक नयी आज्ञा देता हूँ—तुम एक दूसरे को प्यार करो ?" यह इस अर्थ में एक नया आदेश है कि प्रेम का आदर्श ईसा मसीह ही प्रस्तुत करते हैं : "जिस प्रकार मैंने तुम लोगों को प्यार किया, उसी प्रकार तुम भी एक दूसरे को प्यार करो ।"[95] ईसा ने अपने भाइयों के लिए आत्म-बलिदान किया था : "हम प्रेम का मर्म इसी से पहचान गये कि ईसा ने हमारे लिए अपना जीवन अर्पित किया है और हमें भी अपने भाइयों के लिए अपना जीवन अर्पित करना चाहिए ।"[96]

---

91. मत्ती, 6.9.12
92. संत योहन का पहला पत्र 4.8
93. वही, 4.16
94. मत्ती, 22.37-39; उद्धरण : विधि-विवरण 6.5, और लेवी ग्रंथ 19.18 से लिये हुए हैं ।
95. संत योहन 13.34
96. संत योहन का पहला पत्र 3.16

ईश-प्रेम और भ्रातृ-प्रेम एक दूसरे से पारस्परिक सम्बन्ध रखते हैं : उत्तरोक्त तो प्रथमोक्त की कसौटी माना जा सकता है; भ्रातृ-प्रेम के अभाव में ईश-प्रेम की सम्भावना तक नहीं हो सकती है। "यदि कोई यह कहे कि मैं ईश्वर को प्यार करता हूं और वह अपने भाई से बैर करे, तो वह झूठा है। यदि कोई अपने भाई को, जिसे वह देखता है, प्यार नहीं करता, तो वह ईश्वर को, जिसे उसने कभी देखा नहीं, प्यार नहीं कर सकता।"[97] अधिक सहज बात को जो नहीं कर सकता है, अधिक कठिन बात को करने का दावा वह कैसे कर सकेगा ? फिर, ईसा इस प्रकार वर्णित प्रेम को अपने चेलों का विशिष्ट लक्षण मानते हैं। कारण, चेलों को अपने गुरु का अनुसरण करना चाहिए। ईसा का उनसे कहना है : "यदि तुम एक दूसरे को प्यार करोगे, तो उसी से सब लोग यह जान जायेंगे कि तुम मेरे शिष्य हो।"[98] ईसा से प्रेरित इस प्रेम की विलक्षणता यह है कि वह सहजातियों तक सीमित न रह कर सभी को–चाहे वे किसी भी वर्ण या जाति के क्यों न हों–अपना भाई मानता है। पूर्वोक्त बातों के आधार पर ईसाई धर्म को "प्रेम मार्ग" कहना अनुचित नहीं होगा। अपने विख्यात "प्रेम के गुणगान" में संत पौलुस उसे "सर्वोत्तम मार्ग" कहते हैं। विश्वास, भरोसा और प्रेम, इन तीन आधार-भूत धर्मों में से "प्रेम ही सब से महान् है।"[99]

(ग) नवजीवन

युगांत के प्रसंग में हमने ऊपर "जीवन-मुक्ति" की इस धारणा का उल्लेख किया है जिसके अनुसार ऐहिक जीवन में ही अमरता की प्राप्ति की जा सकती है। इसी धारणा की एक दूसरी अभिव्यक्ति यह है कि मानव को दुबारा जन्म लेना पड़ता है, जिसके फलस्वरूप वह लौकिक जीवन के अतिरिक्त पारलौकिक जीवन में भी भाग लेना प्रारम्भ करता है। इस दृष्टिकोण से पूर्वोक्त धारणा "द्विज" के इस आदर्श से भिन्न नहीं है, जिसका तात्पर्य यह है कि मानव भौतिक जन्म लेने के पश्चात् आध्यात्मिक रूप में दीक्षित नव-जीवन का आरम्भ करता है। इसके विपरीत नव-जन्म की कल्पना "पुनर्जन्म" से स्पष्टतया भिन्न है : उत्तरोक्त सिद्धांत के अनुसार मानव को दुबारा नहीं, बार-बार जन्म लेना पड़ता है, आध्यात्मिक जीवन नहीं, वरन् सांसारिक जीवन प्राप्त करने के लिए। ऊपर हमने यह भी कहा है कि "जीवन-मुक्ति" का पुनरुत्थान से सम्बन्ध एक प्रत्याभूमि का सम्बन्ध है। तदनुसार संत योहन पूर्वोक्त अर्थ में दुबारा जन्म लेना ईश राज्य में प्रवेश करने की शर्त कहते हैं :

---

97. वही 4.20
98. योहन 13.35
99. कुरिंथियों के नाम पहला पत्र, अध्याय 13, पद 31 और 13

"जब तक कोई दुबारा जन्म न ले, तब तक वह स्वर्ग का राज्य नहीं देख सकता।" अगला पद इस कथन का स्पष्टीकरण प्रस्तुत करते हुए संत पौलुस का समर्थन भी करता है, जिनके अनुसार दीक्षा-स्वरूप स्नान-सस्कार नव-जन्म का स्रोत है : "जब तक कोई जल और पवित्र आत्मा से जन्म न ले, तब तक वह ईश्वर के राज्य में प्रवेश नहीं कर सकता।"[100] "जल और पवित्र आत्मा" बपतिस्मा का प्रतीक है। इसी नव-जन्म की चर्चा करते हुए संत पेत्रुस इस बात पर बल देते हैं कि उससे उत्पन्न नव-जीवन अमृत स्वभाव का ही है। कारण, इसका स्रोत ईसा-संदेश में व्यक्त ईश-वचन ही है : "आप ने दुबारा जन्म लिया है। आप लोगों का यह जन्म नश्वर जीवन तत्त्व से नहीं, बल्कि ईश्वर के जीवन एवं शाश्वत वचन से हुआ है।.... ....और यह वचन वह सुसमाचार है, जो आप को सुनाया गया है।"[101]

नव-जन्म से एक नवीन मानव भी उत्पन्न होगा : इस विचार को अभिव्यक्त करने के लिए संत पौलुस "नवीन मानव" के अलंकार अर्थात् नवीन मानव स्वभाव का प्रयोग करते हैं। जिस नयी मानवता की ईसा मसीह ने सृष्टि की थी, उसमें भिन्न-भिन्न जातियों का प्रभेद नहीं बना रहता है। इसके विपरीत ईसा मसीह में सब जातियों की एकता स्थापित की गई : "उन्होंने यहूदियों तथा गैर-यहूदियों को अपने से मिलाकर एक नयी मानवता की दृष्टि की और शांति स्थापित की।"[102] इस नवीन मानव का रूपान्तर भी होना आवश्यक है। पहले का धर्म-विरोधी आचरण छोड़कर ईसा-भक्त को धार्मिकता और पवित्रता अपनानी चाहिए।" आप लोगों को अपना पहला आचरण और पुराना मानव स्वभाव त्याग देना चाहिए.... और एक नवीन मानव स्वभाव धारण करें—जो धार्मिकता तथा सच्ची पवित्रता में व्यक्त होता है।"[103] मुक्ति को पुनःसृष्टि भी माना गया है। फिर, आदि-सृष्टि के फलस्वरूप मानव सृष्टिकर्ता का प्रतिरूप बन गया था। अब पुनःसृष्टि के फलस्वरूप, जिस प्रतिरूप को मानव ने पाप द्वारा भंग किया था, उसका मुक्तिकर्ता ईसा ने पुनर्निर्माण किया। ईसा-भक्तों से संत पौलुस का कहना है कि "आप लोगों ने अपना पुराना मानव स्वभाव और उसके कर्मों को उतारकर एक नया मानव स्वभाव धारण किया। वह स्वभाव अपने सृष्टिकर्ता का प्रतिरूप बनकर नवीन हो जाता है।[104]

युगांत के दृष्टिकोण से नवीन मानव के आविर्भाव के साथ पूर्ण सृष्टि का

100. योहन 3 3,5; कलोसियों के नाम पत्र 2.12 से तुलना करें।
101. पेत्रुस का पहला पत्र 1.23,25
102. एफेसियों के नाम पत्र 2.15
103. वही 4.22,24
104. कलोसियों के नाम पत्र 3.9-10

नवीकरण भी होगा, यह प्रत्याशा उत्तरार्ध के लेखों में भी मिलती है। भौतिक सृष्टि तो मानव का वातावरण मात्र ही नहीं, उसका अंगभूत तत्त्व ही मानी जाती है। विस्तृत रूप से इस नव-सृष्टि का वर्णन नहीं मिलता है, सिर्फ इतना ही कहा गया है कि नवीन मानव के प्रकटीकरण के समय भौतिक सृष्टि भी नश्वरता से मुक्त होकर सिद्धों की महिमा के अनुरूप बन जाएगी।[105]

अपने "प्रकाशना-ग्रंथ" के अन्त में संत योहन "नये आकाश और नयी पृथ्वी" की प्रतीक्षा करते हैं।[106] सृष्टिवाद के सन्दर्भ में यह कहा गया है कि सृष्टि, ईश शब्द के प्रभाव से ही उत्पन्न हुई। फिर, उत्तरार्द्ध ईश-शब्द और ईसा के तादात्म्य का प्रतिपादन करता है। इसलिए, इस दृष्टिकोण से ईसा मसीह को सम्पूर्ण सृष्टि का केन्द्र मानना स्वाभाविक ही था। तदनुसार संत पौलुस यों लिखते हैं: "उन्हीं में (ईसा मसीह) सब कुछ की सृष्टि हुई है। सब कुछ, चाहे वह स्वर्ग में हो या पृथ्वी पर, चाहे दृश्य हो या अदृश्य.........सब कुछ उनके द्वारा और उनके लिए सृष्टि किया गया है।"[107] फिर, अपने मुक्ति-कार्य के फलस्वरूप ईसा मसीह ने सम्पूर्ण सृष्टि का पिता-परमेश्वर से पुनः मेल कराया। इसलिए उन्हें इस नवीन सृष्टि का भी निर्माण-कर्त्ता माना जा सकता है। इसके अनुसार "प्रकाशना ग्रंथ" में प्रभु ईसा का कहना है कि "आदि और अन्त मैं हूं।"[108]

उपसंहार

जिस प्रकार इब्रानी धर्म का मूल सिद्धान्त एकेश्वरवाद माना जा सकता है, उसी प्रकार ईसाई धर्म का आधार-भूत विश्वास है ईसा मसीह का ईश्वरत्व। परमेश्वर के लोकातीतत्व के परिप्रेक्ष्य में, ईसा जैसे मनुष्य के विषय में एकमात्र परमेश्वर के बराबर होने का दावा एक बिल्कुल अनसुनी बात थी। इब्रानी परम्परा से उत्पन्न होने के बावजूद इसी कारण ईसाई धर्म को एक पृथक् विचारधारा का प्रारम्भ मानना पड़ता है। ईसा के उस प्रभुत्व से अन्य धर्म-सिद्धान्त मानो अपने मूल-स्रोत से निकलते हैं। सारांश के रूप में यहां इस बात का संक्षिप्त निरूपण दिया जायेगा।

पुनरुत्थान के पश्चात् आदि-चेलों ने जब ईसा मसीह का प्रभुत्व स्वीकार किया था, तो एकमात्र परमेश्वर का पितृत्व पहचानकर वे मसीह को पुत्रेश्वर मानने लगे।

---

105. देखें : रोमियों के नाम पत्र 8.19-21
106. 21.1
107. कलोसियों के नाम पत्र 1.16
108. 21.6

फिर ईशात्मा की उपस्थिति का अनुभव करने से वे यह समझने लगे कि पिता और पुत्र-परमेश्वर के अतिरिक्त पवित्र आत्मा का अस्तित्व भी स्वीकार करना है। त्रियेक परमेश्वर सम्बन्धी इस प्रारम्भिक विश्वास का स्पष्टीकरण परवर्ती धार्मिक चिंतन के फलस्वरूप क्रमशः विकसित किया गया, जैसे अगले अध्याय में समझाया जाएगा। मुक्ति-कार्य के विषय में भी ईसाई विश्वास मसीह के ईश्वरत्व पर निर्भर है। ईसा यदि न केवल "मसीह" सिद्ध हुए, वरन् ईश्वर ही दिखाई पड़े, तो उनमें पूर्वार्द्ध की प्रतीज्ञा की अनपेक्षित रूप से परिपूर्णता मिली थी : जिस मुक्ति की उन्होंने प्राप्ति की थी, उसका विस्तार पूर्व-विधान की प्रजा तक सीमित न रहकर सार्वभौम होना अनिवार्य था। पुनरुत्थान ने इस मुक्ति की प्राप्ति और मुक्तिकर्ता के प्रभुत्व, दोनों का प्रमाण प्रस्तुत किया था। अन्त में, ईसाई धर्म का केन्द्र ईसा मसीह ही हैं। उनकी मृत्यु और पुनरुत्थान में प्रतीकात्मक रूप से सहभागी होकर ईसा का अनुसरण करना ईसा-भक्तों की साधना है। इस प्रकार अपने प्रभु से संयुक्त होने के फलस्वरूप वे परमेश्वर को पूर्ण अर्थ में अपना पिता कह सकते हैं और ईश-आत्मा की अन्तर्यामिता अनुभव कर सकते हैं।

इस अध्याय के अन्त में इस प्रश्न को उठाना शायद अनुचित नहीं होगा कि मसीह को ईसा-भक्त एकमात्र ईश-मानव क्यों मानते हैं ? इस प्रकार की मान्यता तो दूसरों को अवश्य ही अनुदार प्रतीत होगी। परमेश्वर यदि दूसरे अवतारों में अपने आपको अभिव्यक्त करना चाहता, तो निस्संदेह वैसा ही करता। सम्भावना का प्रश्न छोडकर हम अनेक अवतारों की आवश्यकता पर कुछ चिंतन करें। परिकल्पना के रूप में यदि हम ईसा का ईश्वरत्व स्वीकार करें, तो उन्हीं के मानवावतार के अतिरिक्त और दूसरे किसी की आवश्यकता नहीं प्रतीत होगी। कारण, इब्रानी-ईसाई दृष्टिकोण में परमेश्वर लोकातीत होकर सम्पूर्ण सृष्टि पर अधिकार रखता है, एकमात्र सृष्टिकर्ता-परमेश्वर पर सम्पूर्ण सृष्टि निर्भर है। इसलिए, यदि उसी परमेश्वर का मानवावतार हुआ हो, तो उसका प्रभाव सम्पूर्ण मानव जाति पर भी पड़ना अनिवार्य है। कालातीत होने के फलस्वरूप परमेश्वर, ऐहिक मानव दशा में भी, न तो केवल वर्तमान, बल्कि भूत और भविष्य पर भी अपना प्रभाव डाल सकता है। इस दृष्टि को यदि स्वीकार किया जाय, तो अनेक अवतारों की आवश्यकता नहीं होगी। एकेश्वरवाद के समान ईसा मसीह के रूप में परमेश्वर का एकमात्र मानव रूप धारण करना भी अपवर्जित नहीं है; कारण, जिस प्रकार एक ही परमेश्वर सम्पूर्ण मानव जाति का सृष्टिकर्ता माना जाता है, उसी प्रकार ईसा मसीह सम्पूर्ण मानव जाति के मुक्तिकर्ता भी प्रतीत होते हैं।

इस सम्बन्ध में अब तक प्रस्तुत समाधान पर्याप्त ही हैं। अगले अध्याय में हम इस बात की व्याख्या देंगे, अर्थात् ईश-शब्द का ही मानव रूप धारण क्यों हुआ,

पिता-परमेश्वर या ईश-आत्मा का नहीं। ईश्वर का एक मात्र मानव रूप धारण पूर्वोक्त तर्क के आधार पर संतोषजनक रूप से निर्धारित किया गया बशर्ते ईसा मसीह वास्तव में परमेश्वर माने जांय। ईसाई धर्म के प्रस्तुत प्रतिपादन में हमारा उद्देश्य केवल इस धर्म का आन्तरिक सामञ्जस्य दिखाना है, उसके सत्यासत्य अन्वेषण के बारे में प्रश्न उठाना नहीं।

□ □ □

अध्याय 3

पूर्वाचार्यों का युग

भूमिका

बाइबिल-पूर्वार्द्ध का अन्तिम लेख, अर्थात् संत योहन रचित सुसमाचार, पहली शताब्दी ई० के अन्त में लिखा गया। मध्यकालीन ईसाई दर्शन का युग, जिसका वर्णन अगले अध्याय में किया जाएगा, 9वीं शताब्दी में स्कोतुस एरिऊजेना से आरम्भ होता है। यह मध्यवर्ती अवधि 'पूर्वाचार्यों का युग' कहलाती है। कालक्रम की दृष्टि से उन महात्माओं में संत युस्तीन (2री शताब्दी) सर्वप्रथम हैं, अन्तिम हैं दमिश्क के संत योहन (675–749)। पूर्वाचार्यों का जो वर्णन इस अध्याय में दिया जायगा, वह दोतरफे दृष्टिकोण से अपूर्ण ही होगा। कालक्रम के दृष्टिकोण से वह 5वीं शताब्दी में समाप्त हो जाएगा। कारण, संत ऑगुस्तीन (354–430) और छद्म दियोनिसियुस (500 ई० के लगभग) के पश्चात् अन्य पूर्वाचार्य दर्शन-इतिहास की दृष्टि से कम महत्त्व के हैं। वास्तव में पूर्वाचार्य इतने दार्शनिक नहीं, जितने धर्मशास्त्री या बाइबिल-भाष्यकार थे। इससे हमारे वर्णन की दूसरी सीमा प्रारम्भ होती है : पूर्वाचार्यों की जो चर्चा होगी, वह सिर्फ दर्शन शास्त्र के दृष्टिकोण से। इसलिए पूर्वाचार्यों का दर्शन-मात्र इस अध्याय के पहले परिच्छेद का विषय होगा।

अध्याय के दूसरे परिच्छेद में चौथी और पांचवीं शताब्दियों का धर्मशास्त्र के दृष्टिकोण से नये सिरे से उल्लेख होगा। यद्यपि हम विचारकों पर इतना ध्यान नहीं देंगे जितना उनके विचारों पर, तथापि पहले परिच्छेद में प्रस्तुत पूर्वाचार्यों का इन विचारों के निर्माण पर बहुत प्रभाव पड़ा। इन दो शताब्दियों में जो समस्याएँ उठीं, वे वास्तव में धर्मशास्त्र से सम्बन्धित थीं। 4थी शताब्दी में त्रियेक-परमेश्वर का रहस्य धर्मशास्त्रियों के वाद-विवादों का मुख्य विषय था। 5वीं शताब्दी में ईसा-मसीह के दिव्य-मानव व्यक्तित्व सम्बन्धी मौलिक धर्मसिद्धान्त उत्पन्न हुए। चूँकि ये दो बातें ईसाई धर्म के मूलभूत सिद्धान्त हैं अत: ईसाई दर्शन के सामान्य प्रतिपादन में उनका अभाव अनुचित ही होता। लेकिन दर्शनशास्त्र के सही अर्थ में भी इन दो धर्मसिद्धान्तों का महत्त्व है। कारण, इन रहस्यों के सैद्धान्तिक प्रतिपादन में पूर्वाचार्यों ने यूनानी दर्शन में प्रस्तुत प्रत्ययों का प्रयोग किया। इससे परवर्ती ईसाई दर्शन की यह विशेषता उत्पन्न हुई, जिस पर हम अगले अध्याय में विचार करेंगे, अर्थात् ईसाई

दर्शन यूनानी दर्शन को आत्मसात् करने के फलस्वरूप क्रमिक रूप में विकसित हुआ। वास्तव में यह प्रवृत्ति 2री शताब्दी से ही प्रारम्भ हो गई थी। उपर्युक्त दो धर्म-सिद्धान्त दर्शनशास्त्र की दृष्टि से इसलिए भी महत्त्व के हैं, क्योंकि व्यक्ति की जो धारणा इनमें निर्मित हुई, उसका प्रयोग और विस्तार परवर्ती दार्शनिक मानवशास्त्र में भी होगा। व्यक्ति-प्रत्यय ईसाई दर्शन का इसलिए विशिष्ट लक्षण है क्योंकि उसकी उत्पत्ति धर्म सिद्धान्त के सन्दर्भ में हुई।

अध्याय के **तीसरे** परिच्छेद में ईसाई दृष्टिकोण से धर्म० और दर्शन-शास्त्र का प्रभेद स्पष्ट किया जायगा। वास्तव में इस अध्याय के पहले और दूसरे परिच्छेदों का विभाजन इसी प्रभेद पर आधारित है। अगले अध्याय में भी इस प्रभेद का फिर प्रयोग किया जाएगा : जिन विचारकों की वहां चर्चा होगी, उनका सिर्फ दर्शनशास्त्र, धर्मशास्त्र नहीं, प्रस्तुत किया जाएगा। इसके अतिरिक्त मध्यकालीन विचारकों ने दर्शन० और धर्मशास्त्र का क्रमश: पृथक्करण किया है। देकार्त शायद इसलिए ही एक शुद्ध बौद्धिक दर्शन का निर्माण कर सके, क्योंकि पूर्ववर्ती स्कोलावाद[1] ने दर्शन को धर्मशास्त्र से स्वतन्त्र कर दिया था। अत: तीसरे परिच्छेद में हम धर्मशास्त्र और दर्शनशास्त्र की स्पष्ट परिभाषा देंगे, दोनों का पारस्परिक सम्बन्ध निर्धारित करेंगे और इस प्रभेद का मूलभूत कारण समझाएंगे। इस प्रकार ऐतिहासिक विकास का सैद्धान्तिक आधार स्थापित किया जायगा। फिर भी दर्शनशास्त्र और धर्मशास्त्र-प्रभेद की प्रस्तुत व्याख्या उसे प्रमाणित नहीं करेगी। इसे सिद्ध करना अन्तिम अध्याय का कार्य होगा।

I–पूर्वाचार्यों का दर्शनशास्त्र।[2]

पूर्वाचार्यों के प्रतिपादन में हम उनके धर्मशास्त्र को छोड़कर केवल उनके दर्शनशास्त्र पर ध्यान देंगे। वास्तव में उन्होंने किसी सुव्यवस्थित दर्शन का निर्माण नहीं किया। इस दृष्टिकोण से संत औगुस्तीन अपवाद ही हैं। जिस समस्या का उन सभी को सामना करना पड़ा, वह थी : क्या गैर-ईसाई, अर्थात् यूनानी दर्शन ईसाई धर्म का विरोध करता है या उससे सहमत है ? इस प्रसंग में पूर्वाचार्यों का विचार द्व्यर्थक था ; वे या तो यूनानी दर्शन को मिथ्या मानकर उसे अस्वीकार करते थे, या उसे ईसाई दर्शन की भूमिका के रूप में अंगीकार करते थे। यूनानी दर्शन को वे उस सीमा तक सत्य भी मानते थे, जहाँ तक वह उन्हें ईसाई दर्शन का पूर्वाभास प्रतीत होता था। उनके दृष्टिकोण में यूनानी दर्शन के सत्य-सिद्धान्त उसे बाइबिल से ही प्राप्त हुए थे। दूसरी ओर, बौद्धिक दर्शन बाइबिल-प्रकाशना का कुछ अंश तक विरोध भी करता

1. Scholasticism
2. इस पहले परिच्छेद का मुख्य स्रोत है : F. Copleston, (A History of Philosophy), Vol. II.

था। उल्लेखनीय है कि जिन यूनानी दार्शनिकों की पूर्वाचार्यों को जानकारी थी, वे नव-अफलातूनवाद के प्रतिनिधि थे। अरस्तूवाद से वे परिचित नहीं थे। इसके विपरीत पूर्वाचार्य अफलातून को ईसा मसीह का दार्शनिक अग्रदूत ही मानते थे। एक ओर पूर्वाचार्यों ने इस उद्देश्य से यूनानी दर्शन का प्रयोग किया कि वे गैर-ईसाई दार्शनिकों के ईसाई धर्म पर आक्रमण का सामना कर सकें। दूसरी ओर उन्होंने ईसाई धर्म के सैद्धान्तिक स्पष्टीकरण के निमित्त यूनानी दार्शनिक प्रत्ययों और तर्क को अपनाया। इससे यह पुनः स्पष्ट है कि पूर्वाचार्यों का दर्शन धर्मशास्त्र के सन्दर्भ में ही विकसित हुआ। इस पहले परिच्छेद का विभाजन निम्नलिखित प्रकार से है : पहले, दूसरी और तीसरी शताब्दी के पूर्वाचार्य मिलेंगे : यूनानी, फिर लातीनी धर्म-मण्डल करने वाले लेखक; बाद में सैद्धान्तिक धर्मशास्त्र के प्रारम्भिक निर्माता। 4थी और 5वीं शताब्दी में यूनानी और लातीनी महान् पूर्वाचार्य मिलते हैं; उनमें सबसे प्रसिद्ध संत औगुस्तीन ही हैं। उनके बाद छद्म-दियोनिसियुस का उल्लेख भी होगा। सही अर्थ में वे ईसाई पूर्वाचार्य नहीं होते हुए भी, कालक्रम की दृष्टि से इसी युग में आते हैं। उपर्युक्त सभी विचारक भूमध्य सागरीया देशों के निवासी थे।

(क) 2री और 3री शताब्दी के पूर्वाचार्य

यूनानी धर्ममण्डक।

संत युस्तीन (100–164 ई० लगभग) का परिचय भिन्न-भिन्न यूनानी दर्शनों से हुआ था, जैसे स्तोअवाद से पिथागोरस और अरस्तू के दर्शन से, लेकिन उन्हें ऐसा लगता था कि ये दर्शन जीवन की समस्याओं का समाधान नहीं कर सकते हैं। इसके विपरीत वह अफलातूनवाद से सम्पर्क करके बहुत प्रसन्न हुए, क्योंकि उसमें प्रस्तुत अभौतिक आदर्शों का सिद्धान्त परम तत्त्व के साक्षात् दर्शन की ओर संकेत करता है। फिर उन्हें ईसाई धर्म में दीक्षा दी गयी। अपने पूर्ववर्ती अनुभव से उन्होंने यह निष्कर्ष निकाला था कि दर्शनशास्त्र परमेश्वर की ओर से प्राप्त दान है जिससे हमें ईश-ज्ञान मिल सकता है। दूसरों से बढ़कर अफलातून का दर्शन दिव्य 'लोगोस' या 'शब्द' से प्रभावित होकर इस सत्य का पूर्वाभास दे सकता है, जिसकी सम्पूर्णता शरीरधारी दिव्य 'शब्द', अर्थात् ईसा मसीह, में दिखाई पड़ी। इस परिप्रेक्ष्य में संत युस्तीन ईसाई शहीदों की तुलना सुकरात से करते हैं, जिन्होंने सत्य को साक्ष्य देने के लिए अपना जीवन बलिदान किया था। इससे स्पष्ट है कि संत युस्तीन की मनोवृत्ति गैर-ईसाई दर्शन के प्रति उदार ही थी। इसके विपरीत संत युस्तीन के चेले, **तत्सियानुस** (सन् 120–21) का इस प्रसंग में विचार बिल्कुल निषेधात्मक था। यद्यपि उन्हें यूनानी दर्शन में शिक्षा मिली थी, लेकिन वह उसकी उपेक्षा करते थे। उनके विचार से जो सत्य उसमें मिलता है, वह बाइबिल से प्राप्त था; इसके अतिरिक्त यूनानी दर्शन भ्रांतिपूर्ण ही है।

गैर-ईसाई ईसाइयों पर यह दोष लगाया करते थे कि वे नास्तिक हैं; कारण, ईसाई परम्परागत धर्म को परित्याग करके देवों की उपासना करने से इन्कार करते थे। इस अभियोग का खंडन करने के लिए अथेनागोरस (2 री शताब्दी) अफ्लातून आदि यूनानी दार्शनिकों से उद्धरण प्रस्तुत करते थे जिनसे स्पष्ट था कि जिस परमेश्वर की खोज गैर ईसाई दार्शनिक करते थे, वही परमेश्वर स्वयं ही बाइबिल में अपना संदेश घोषित करता है। इसके अतिरिक्त अथेनागोरस अफ्लातूनवाद के आधार पर परमेश्वर का आत्मिक स्वभाव निर्धारित करते थे। अफ्लातून के देहात्म-द्वैत के विरुद्ध वह इस सिद्धांत का मंडन करते थे कि शरीर मानव का तात्विक अवयव ही है। इससे यह निष्कर्ष भी निकाला जा सकता है कि 'शारीरिक', अर्थात् संपूर्ण मानव का पुनरुत्थान तर्कसंगत बात है। अथेनागोरस के अनुसार यूनानी दार्शनिकों को इस सत्य का अंश मात्र ज्ञात था, जिसकी पूर्णता ईसाई धर्म में मिलती है। अतः यूनानी दर्शन एकमात्र सत्य धर्म की ओर पथप्रदर्शन करता है। धर्मशास्त्र के क्षेत्र में **संत इरेनेयुस** को (140–202 ई.स. लगभग) इसलिए प्रसिद्ध माना जाता है क्योंकि उन्होंने गूढ़ज्ञानवाद[3] का खंडन करने के लिए बहुत परिश्रम किया। यह अपसिद्धांत ज्ञानमार्ग को मुक्ति का एकमात्र उपाय मानता था, जिससे ईसा मसीह का मुक्ति-कार्य व्यर्थ प्रतीत होता था। दर्शनशास्त्र के क्षेत्र में इरेनेयुस ईश-अस्तित्व को आयोजन-युक्ति या सामान्य सहमति के आधार पर सिद्ध करते हैं। वह शून्य से सृष्टि का समर्थन भी करते है, और उपादान का प्रागस्तित्व अस्वीकार करते हैं। वह प्राच्य रहस्य-धर्मों से प्राप्त पुनर्जन्म का सिद्धांत भी अस्वीकार्य मानते हैं।

लातीनी धर्म-मंडक।

गैर-ईसाई दर्शन के प्रति मिनुचियुस फेलिक्स की (2 री शताब्दी) मनोवृत्ति भावात्मक थी। उनके अनुसार अरस्तू देवत्व की एकता पहचान सके थे। स्तोअवादी परमेश्वर को विश्व-विधाता के रूप में भी स्वीकार करते थे। अफ्लातून ठीक एक अच्छे ईसाई के समान विश्वकर्मा और पिता-परमेश्वर के विषय में लिखते थे, इत्यादि। इसके विपरीत **तेरतुल्यन** (160–220 ई. के पश्चात्) यूनानी दर्शन के तीव्र विरोधी थे। उनका विचार था कि गैर-ईसाई दार्शनिकों को जिन सत्यों की बाइबिल से प्राप्ति हुई थी, उनकी उन्होंने विकृति भी की थी। तेरतुल्यन के अनुसार सुकरात की तथाकथित प्रज्ञा नगण्य ही थी। जब कि अफ्लातून सिर्फ मुश्किल से विश्व के सृष्टिकर्त्ता को पहचान सके, आस्थावान् साधारण ईसाई को परमेश्वर के विषय में पूर्ण ज्ञान प्राप्त है तिस पर भी तेरतुल्यन बौद्धिक दर्शन को स्वीकार नहीं करते; उदाहरणार्थ, वह ईश-अस्तित्व के तार्किक प्रमाण प्रस्तुत करते थे। उनका महत्त्व इसमें है कि उन्होंने ईसाई दर्शनशास्त्र के लिए लातीनी शब्दावली की नींव डाली है। उन्होंने सर्वप्रथम त्रियेक परमेश्वर के संदर्भ में Persona ('व्यक्ति') शब्द का प्रयोग किया है, जिससे अंग्रेजी Persona व्युत्पन्न हुआ। जिन पारिभाषिक शब्दों

---

3. Grosticism.

का तेरतुल्यन प्रयोग करते हैं, वे भौतिकवादी ध्वनित हो सकते हैं। उदाहरणार्थ, उनका कहना है कि परमेश्वर "शरीर" ही है, क्योंकि जो कुछ अस्तित्व रखता है, वह शारीरिक है। विशेषज्ञों का मत है कि इस प्रसंग में "शरीर" का सही तात्पर्य 'द्रव्य' ही है। तेरतुल्यन का आत्मा की उत्पत्ति विषयक सिद्धांत भी भौतिकवादीसा लगता है। उनके अनुसार बालक की आत्मा पिता की आत्मा से इस प्रकार उत्पन्न होती, जिस प्रकार बीज से अंकुर ! "अंकुर" या tradux लातीनी शब्द के अनुसार यह सिद्धांत Traducianism या "जीवानुवंशिकता" कहलाता है। उसकी सहायता से तेरतुल्यन इस धर्म सिद्धांत की व्याख्या देना चाहते थे जिसके अनुसार आदिपाप का कलंक आदि-मानव से उसकी संतान को आनुवंशिकता के रूप में प्राप्त हुआ।

धर्मशास्त्र का निर्माण

ऊपर, संत इरेनेयुस के संदर्भ में, हमने गूढ़ ज्ञानवाद का उल्लेख किया। इस अपसिद्धांत का विरोध करने के परिणामस्वरूप ईसाई विचारक यथार्थ ज्ञान के आधार पर सैद्धांतिक धर्मशास्त्र का निर्माण करने लगे। मिस्र में सिकंदरिया नगर इस धर्मशिक्षा का केन्द्र था। यूनानी दर्शन के विषय में संत **युस्तीन** के समान **क्लेमेंत** (लगभग 150–219) का विचार बिलकुल भावात्मक था। उनके अनुसार दिव्य 'शब्द' ने गैर ईसाई दार्शनिकों को सत्य प्राप्त करने में समर्थ किया था। जिस प्रकार मूसा की संहिता ने इब्रानियों को ईसाई धर्म के लिए तैयार किया था, उसी प्रकार दर्शनशास्त्र ने भी यूनानियों को सत्य का मार्ग दिखाया था। कारण, जो सत्य यूनानी दर्शन में मिलता है, वह वास्तव में बाइबिल से लिया हुआ है। धर्मशास्त्र का सैद्धांतिक विकास करने के लिए क्लेमेंत यूनानी दार्शनिक प्रत्ययों का प्रयोग करते थे। उनका कहना था कि आस्थावान् को धर्म के विषय में बौद्धिक विवेक प्राप्त करना आवश्यक है, नहीं तो वह वयस्क न होकर इस दृष्टि से बच्चा ही रहेगा। क्लेमेंत से कुछ आगे बढ़कर **ओरिजेन** ने (185–231) ईसाई धर्म और नव-अफलातूनवाद में सामंजस्य स्थापित करने का प्रयत्न किया। इस प्रभाव के फलस्वरूप उनके धर्म सिद्धांत अनेक उदाहरणों में शास्त्रविरुद्ध दिखाई पड़े। ओरिजेन के अनुसार सृष्टिकार्य आवश्यकता से भी और अनादि काल से भी किया गया। आवश्यकता से इसलिए कि सृष्टिकर्त्ता परमेश्वर का तत्त्व शुभ ही है; फिर शुभ स्वभाव से विवश होकर वह अपनी बहुतायत में दूसरों, अर्थात् सृष्ट तत्त्वों को सहभागी करना चाहता है। अनादि-काल से इसलिए क्योंकि यदि किसी समय विशेष पर सृष्टि की उत्पत्ति होती, तो सृष्टिकर्त्ता का परिवर्तन भी होता। इसके विपरीत सृष्टि संबंधी ईसाई सही सिद्धांत यह है कि सृष्टिकर्त्ता ने एकदम स्वतंत्र रूप से सृष्टि की; अतः सृष्टि स्वाभाविक घटना न होकर परमेश्वर के सदृश नित्य नहीं कहला सकती है। आत्माओं के विषय में ओरिजेन का विचार था कि वे सभी समान स्थिति में ही सृष्ट की गयी थी। लेकिन पूर्व जीवन में दुराचार के फलस्वरूप वे शरीर से संयुक्त होकर अपनी वर्तमान स्थिति में भिन्न-भिन्न प्रतीत होती है।

(ख) 4 थी और 5 वीं शताब्दी के यूनानी पूर्वाचार्य

फिलिस्तीन में कैसरिया के निवासी यूसेबियस (ई० सन् २६५–३४०) प्रारंभिक ईसाई समुदाय के प्रसिद्ध इतिहासकार थे। ईसाई दर्शन के प्रति उनकी मनोवृत्ति बहुत उदार थी। यूनानी दर्शन विषयक उनकी रचना का शीर्षक "ईसा संदेश की तैयारी" है। इसमें लेखक ने यह दिखाया है कि यूनानी दर्शन गैर-ईसाइयों के लिए ईसाई धर्म की भूमिका जैसा था। विशेष रूप से अफ्लातून मूसा नबी से सहमत थे। उदाहरणार्थ, अफ्लातून ने त्रियेक परमेश्वर-सिद्धांत का भी पूर्वाभास किया था। वास्तव में इस प्रसंग में यूसेबियस नव-अफ्लातूनवाद की ओर निर्देश करते हैं, जिसमें एकम्, चित् और विश्वात्मा का त्रित्व मिलता है। फिर, यूसेबियस के अनुसार अफ्लातूनवाद के प्रत्यय सृष्टिकर्त्ता "शब्द" में ही रहकर सृष्ट तत्त्वों के आदर्श हैं। परंतु इन प्राक्-ईसाई सिद्धांतों के अतिरिक्त अफ्लातूनवाद में भ्रम भी मिलते हैं। उदाहरणार्थ सृष्टि के संदर्भ में प्रसर्जनवाद प्रस्तुत किया जाता है, जिसके अनुसार सृष्टि स्वाभाविक परिणाम के रूप में सृष्टिकर्त्ता से, मानो उपादान से, निकली है। फलतः इस दृष्टिकोण से उपादान स्वयं ही नित्य होकर एक असृष्ट तत्त्व होता। इसके विपरीत सही ईसाई सृष्टिवाद के अनुसार सृष्टि-कार्य सृष्टिकर्त्ता के स्वतंत्र निर्णय का परिणाम है; उपादान का कोई प्रग्भाव नहीं था। यूसेबियस के अनुसार अमरता के प्रसंग में अफ्लातून द्वारा प्रस्तुत पुनर्जन्म का सिद्धांत भ्रांतिपूर्ण ही है।

पश्चिम एशिया के निस्सा नगर के निवासी **संत ग्रेगोरी** (लगभग 355-395) दर्शन की दृष्टि से यूनानी पूर्वाचार्यों में से सबसे प्रसिद्ध हैं। वह ईसाई धर्म और यूनानी दर्शन का स्पष्ट प्रभेद करते थे। तदनुसार धर्मसिद्धांतों को बौद्धिक तर्क का निर्णय मात्र नहीं माना जा सकता है। फिर भी विश्वास की प्राप्ति के लिए बुद्धि प्रारंभिक तैयारी हो सकती है; उदाहरणार्थ, वह ईश-अस्तित्व के लिए प्रमाण प्रस्तुत कर सकती है। धर्म-सिद्धांतों के प्रतिपादन में दर्शन का प्रयोग भी किया जा सकता है। फिर, धर्म ही दर्शन का मापदंड है, न कि दर्शन धर्म का। दूसरे शब्दों में जो दार्शनिक सिद्धांत धर्मशास्त्र संगत नहीं हैं, वह प्रमाणिक भी नहीं हो सकता। इस परिप्रेक्ष्य में संत ग्रेगोरी विश्व की व्यवस्था के आधार पर ईश-अस्तित्व को सिद्ध करते हैं; परमेश्वर की एकता का उसकी संपूर्णता से अनुमान करते हैं। इतना ही नहीं, वह दिव्य **स्वभाव** की एकता का समर्थन करते हुए दिव्य **व्यक्तियों** के त्रित्व तक को निगमनित करने की कोशिश करते हैं। अगले परिच्छेद में यह बताया जाएगा कि 4 थी शताब्दी में त्रियेक-परमेश्वर का सिद्धांत धर्मशास्त्रीय अनुसंधान का मुख्य विषय था।

मनुष्य की उत्पत्ति के प्रसंग में संत ग्रेगोरी अफ्लातूनी आदर्शों का उपयोग

---

4. लातीनी में : Praeparatio Evangelica.

करते हैं। सृष्टिकर्त्ता के दिव्य 'शब्द' में रचित मानव-आदर्श के अनुसार भिन्न-भिन्न मनुष्यों की सृष्टि हुई। इसलिए वास्तविक मानव आदर्श मानव की अभिव्यक्ति है। लेकिन संत ग्रेगोरी अफ्लातून से प्रस्तुत मानव-आत्मा का प्राग्भाव अस्वीकार करते हैं। अन्य अनित्य तत्त्वों के समान आत्मा की भी सृष्टि हुई। फिर, सृष्ट होते हुए भी आत्मा अमर ही है : वह भौतिक और संश्लिष्ट न होकर नष्ट नहीं की जा सकती है। परमेश्वर ने अपने शिवत्व से प्रेरित होकर स्वतंत्र निर्णय के फलस्वरूप सृष्टि की। सृष्टिकर्त्ता ने मानव को स्वतंत्रता प्रदान की है, यद्यपि इसके फलस्वरूप मानव को अशुभ चुनने की भी सामर्थ्य प्राप्त हुई। संत ग्रेगोरी का विचार था कि युगांत में उपयुक्त शुद्धीकरण के पश्चात् सभी मानव सृष्टि के दिव्य स्रोत में फिर विलीन हो जाएंगे; फलतः कोई अनंत नरकदंड नहीं हो सकता है। भौतिक तत्त्वों की उत्पत्ति के विषय में संत ग्रेगोरी को इस उभयसंकट का सामना करना पड़ता है, अर्थात् : भौतिक तत्त्व या तो परमेश्वर से उत्पन्न हुए, जो फलतः स्वयं ही भौतिक प्रतीत होता है; या वे परमेश्वर से भिन्न किसी दूसरे स्रोत से निकले, और फलतः मूल कारण का द्वैत अपरिहार्य है। इससे बचने के लिए संत ग्रेगोरी यह समाधान देते है : भौतिक तत्त्वों के अवयव स्वयं ही अभौतिक हैं; उनके संयोजन से ही भौतिकता उत्पन्न होती है।

अंत में संत ग्रेगोरी के रहस्यवाद संबंधी सिद्धांत का उल्लेख करना उचित होगा। मानव ज्ञान के स्वाभाविक विषय इंद्रियों के विषय हैं। इनसे हमें परमेश्वर के बारे में किसी हद तक जानकारी मिल सकती है। इस बात को छोड़कर कि भौतिक तत्त्व परम तत्त्व के प्रतीक ही हैं, उनका अस्तित्व आभास मात्र है। इसलिए मानव इनका परित्याग करता है। परंतु जब तक उसे दिव्य तत्त्व की ओर से प्रबोधन न मिले, मानव मानो अंधकार में पड़ा रहता है। समाधि में आत्मा अपने आप का अतिक्रमण करके परमेश्वर से प्रेममय संयोग की प्राप्ति करती है। लेकिन परमेश्वर के मानवातीत होने के कारण मुक्ति की स्थिति में भी आत्मा पूर्ण एकता की ओर आगे बढ़ती रहती है। संत ग्रेगोरी का रहस्यवाद-सिद्धांत नव-अफ्लातूनवाद से प्रभावित है। फिर भी संत ग्रेगोरी उसके प्रत्ययों का यथार्थ ईसाई अर्थ में प्रयोग करते हैं।

(ग) संत औगुस्तीन (354–430)

पाठक को शायद यह आश्चर्य की बात प्रतीत होगी कि पश्चिम के सबसे प्रसिद्ध पूर्वाचार्य ने उत्तर अफ्रीका में जन्म लिया और वहीं अपना वयस्क जीवन बिताया, युवावस्था में औगुस्तीन को रोम में लातीनी वाग्मिता के प्रशिक्षण मिला; इसके परिणामस्वरूप बाद में वह इस भाषा के एक प्रसिद्ध साहित्यकार बने। नव-अफ्लातूनवाद के प्रभाव से उन्होंने मानीवादी[5] शुभाशुभ का द्वैतवाद त्याग दिया।

---

5. Manichaenism, अर्थात् Mani से प्रतिपादित द्वैतवादी दर्शन।

साथ ही अपना पहला अत्याचारण छोड़कर उन्होंने ईसाई धर्म में दीक्षा ली। अफ्रीका लौटकर वह हिप्पो नगर के **धर्माद्धदा** बने। उन्होंने ईसाई धर्म का प्रतिपादन करने के लिए अनेक रचनाएं लिखीं। इनमें सबसे प्रसिद्ध निम्नलिखित हैं : त्रियेक-परमेश्वर के विषय में ग्रंथ तथा 'ईश-नगर' नामक इतिहास दर्शन की एक रचना जिसमें अनेक सूक्ष्म दार्शनिक विचार भी मिलते हैं। ईसाई दर्शनशास्त्र के दृष्टिकोण से संत औगुस्तीन का महत्व इसलिए है कि उन्होंने ईसाई दर्शन का विकास करने के निमित्त अफलातूनवाद का प्रयोग किया। उनके विचार सुव्यवस्थित रूप से नहीं मिलते हैं, बल्कि धर्मशास्त्र के संदर्भ में भिन्न-भिन्न समस्याओं के अवसर पर उनका प्रतिपादन किया गया है। औगुस्तीनी दर्शन यूनानी और अन्य प्रभावों के बावजूद वास्तव मे मौलिक है; इससे असंख्य परवर्ती विचारकों को भी प्रेरणा मिली।

ज्ञानशास्त्र

औगुस्तीन इंद्रिय-अनुभव की अपेक्षा आत्मज्ञान को श्रेष्ठ मानते हैं। उनके मतानुसार संदेहवाद का खंडन करने के लिए आत्मज्ञान द्वारा ही आधारभूत निश्चय स्थापित किया जा सकता है। आत्मज्ञान न केवल भ्रामक इंद्रियों की मध्यस्थता के बिना मिलता है, अपितु वह संदेह में ही उपलब्ध होकर उसे निश्चित रूप से निकाल देता है। संदेह ही तो संदेहकर्त्ता का अस्तित्व प्रमाणित करता है। भ्रम अस्तित्वहीन तो विचार तक नहीं कर सकता, निश्चय का आधार होने के अतिरिक्त आत्मज्ञान इंद्रिय-ज्ञान से बढ़कर इसलिए महत्त्व का है क्योंकि आत्मा में ही परम तत्त्व का ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। जब तक आत्मा का ज्ञान न मिले, तब तक परमेश्वर का ज्ञान भी नहीं मिलेगा। ज्ञान के विषय के दृष्टिकोण से भी औगुस्तीन दो प्रकार के ज्ञान का प्रभेद करते हैं ज्ञान मात्र और प्रज्ञा। प्रथमोक्त का विषय अनित्य तत्त्व ही है; वह भौतिक क्रिया का ही आधार है। इसके विपरीत उत्तरोक्त अर्थात्-प्रज्ञा नित्य तत्त्व के विषय में होकर परम तत्त्व के दर्शन की भूमिका ही है। वास्तव में इंद्रिय-विषय अनित्य होने के कारण मानव ज्ञान के उपयुक्त विषय नहीं हैं; नित्य तत्त्व ही उसका अपना विषय माना जा सकता है।

इस संदर्भ में तथाकथित "प्रबोधन का सिद्धांत" महत्त्व का है। इंद्रिय-ज्ञान में भी औगुस्तीन परमेश्वर की ओर से प्राप्त. इस संबोधन को आवश्यक मानते हैं। कारण अनित्य तत्त्वों के विषय में भी नित्य दृष्टिकोण से निर्णय किया जाता है। उदाहरणार्थ, किसी दृश्य को सुन्दर कहने में ज्ञानी सामान्य "सौंदर्य,' के प्रत्यय का प्रयोग करता है। इसके अलावा वह इस विशेष सौंदर्य की आदर्श सौंदर्य से तुलना करता है। फिर भी, सामान्य सौंदर्य के प्रत्यय या आदर्श को किसी विशेप सुन्दर तत्त्व के विपरीत निरपेक्ष और नित्य होना आवश्यक है। स्पष्टतः इंद्रिय-ज्ञान यद्यपि अनित्य प्रत्यय का प्रयोग करता है, लेकिन वह नित्य प्रत्यय का स्रोत नहीं हो सकता

6. Bishop या क्षेत्रीय धर्माधिकारी।

है : भौतिक होकर वह अनित्य ही है। औगुस्तीन की मान्यता है कि आत्मा भी नित्य प्रत्यय का स्रोत नहीं हो सकती है; इसका कारण कुछ बाद में स्पष्ट किया जाएगा। फलतः नित्य प्रत्ययों या आदर्शों का स्रोत परम तत्त्व ही हो सकता है। स्वयं ही नित्य होकर, वह नित्य तत्त्वों का आधार भी हो सकता है। अब 'प्रबोधन का सिद्धांत' इसमें है कि, औगुस्तीन के अनुसार, परमेश्वर अपने नित्य प्रकाश से मानव आत्मा को प्रबोधित करता है, जिसके फलस्वरूप मानव इंद्रियों के अनित्य विषयों में भी नित्य प्रत्यय या आदर्श का प्रतिबिंब पहचान सकता है। जिस प्रकार सूरज भौतिक तत्त्वों को प्रकाशित करने से उन्हें हमारी आंखों के लिए दृश्य बनाता है, उसी प्रकार 'दिव्य प्रबोधन' नित्य आदर्शों को हमारी आत्मा के लिए बोधगम्य करता है। नित्य प्रत्यय या आदर्श परमेश्वर में विद्यमान है : इस सिद्धांत में अफ्लातूनवाद का प्रभाव स्पष्ट ही है। लेकिन अफ्लातून के विपरीत औगुस्तीन नित्य आदर्शों को किसी आदर्श परलोक में नहीं, सृष्टिकर्त्ता में ही रखकर यूनानी दर्शन को ईसाई दर्शन के अनुकूल बनाते हैं।

ईश-शास्त्र और सृष्टिवाद

औगुस्तीन परमेश्वर के अस्तित्व की किसी प्रमाण द्वारा भी पुष्टि नहीं करते हैं, ऐसा प्रतीत हो सकता है। वास्तव में उनके सपूर्ण ज्ञानशास्त्र को इस प्रमाण की अवस्थाओं का क्रम माना जा सकता है। तर्क की आधारशिला सत्य का अस्तित्व और उसका नित्य स्वभाव है। संक्षेप में, प्रमाण का प्रतिपादन इस प्रकार किया जा सकता है। संदेहवाद के खंडन के परिणामस्वरूप सत्य प्राप्त करने की संभावना स्थापित की गयी है। फिर, सत्य के स्रोत के विषय में प्रश्न उठता है। स्पष्टतः नित्य होकर सत्य का भौतिक जगत् से उत्पन्न होना असंभव है। मानव-आत्मा से भी नित्य स्वभाव का सत्य परे है। फलतः यदि सत्य की यथार्थता प्रमाणित है और इसका स्रोत संपूर्ण सृष्ट तत्त्व नहीं हो सकते हैं, तो सृष्टि के अतिरिक्त किसी नित्य तत्त्व की यथार्थता को स्वीकार करना आवश्यक होगा। नित्य सत्य के आधार-स्वरूप यह नित्य तत्त्व परमेश्वर ही है। ध्यान देने योग्य बात है कि पूर्वोक्त ईशास्तित्व का प्रमाण वास्तव में भौतिक जगत् पर आधारित नहीं, आत्मा की क्रिया संबंधी चिंतन पर ही निर्भर है। इससे हमारा उपर्युक्त कथन सिद्ध होता है, अर्थात् औगुस्तीन के अनुसार इंद्रिय-ज्ञान नहीं, आत्मज्ञान ही ईश-ज्ञान का आधार हो सकता है।

ईश-लक्षणों के प्रसंग में औगुस्तीन परमेश्वर के देश-काल से परे होने की इस प्रकार व्याख्या करते हैं ? सृष्टिकर्त्ता सब तत्त्वों के भीतर रहता है, क्योंकि सभी तत्त्व उसी में स्थित हैं; साथ ही सभी तत्त्वों से परे होकर परमेश्वर उनसे बाहर भी है। इसी विरोधाभासी ढंग से औगुस्तीन ईश्वर का कालातीतत्व भी प्रस्तुत करते हैं : सब सृष्ट तत्त्वों से पूर्व अस्तित्व रख कर सृष्टिकर्त्ता सबसे प्राचीन हैं; साथ ही अधिकारी होने के कारण वह सबसे नवीन भी है। सृष्टिकर्ता को सृष्ट तत्त्वों का

पूर्वज्ञान प्राप्त है : व्यक्त होने के पहले वे तत्त्व अव्यक्त आदर्शों के रूप में सृष्टिकर्त्ता के मन में विद्यमान हैं।

सृष्टिवाद के संदर्भ में औगुस्तीन प्लोतीनुस के प्रति अपनी स्वाधीनता का प्रमाण देते हैं। नव-अफलातूनवाद के प्रसरणवाद के अनुसार 'एकम्' से अन्य तत्त्व अनिवार्य रूप से निकलते हैं, जैसे सूर्य से किरणें या स्रोत से धारा। इसके विपरीत औगुस्तीन इस बात का दावा करते हैं कि सृष्टिकार्य अनिवार्य रूप से नहीं, बल्कि स्वतंत्र निर्णय के फलस्वरूप से ही उत्पन्न हुआ। इसके अतिरिक्त सृष्ट तत्त्व सृष्टिकर्त्ता के तत्त्व में से मानो उपादान कारण से नहीं निकले, बल्कि सृष्टिकर्त्ता की शक्ति द्वारा "शून्य' से ही उत्पन्न हुए। इस प्रसंग में औगुस्तीन अपनी सूक्ष्मता का प्रदर्शन करते हैं। पूर्वपक्षी के मतानुसार सृष्टि एक ऐसे उपादान कारण से उत्पन्न हुई, जो स्वयं ही असृष्ट है। इसके खंडन के रूप में औगुस्तीन यह उभयसंकट प्रस्तुत करते हैं। उपादान यदि पूर्णतया अव्यक्त है, तो शून्य के बराबर ही है या उसमें व्यक्त बनने की क्षमता रहती है, तो भावात्मक तत्त्व होकर स्वयं ही शून्य से उत्पन्न हुआ होगा।

औगुस्तीन विकासवाद को भी स्वीकार करते है, ऐसा उनके 'तात्त्विक बीजों के सिद्धांत' से प्रतीत हो सकता है। "तात्त्विक बीज" भावी तत्त्वों के सूक्ष्म 'बीज' हैं, जो अदृश्य रूप से सृष्ट तत्त्वों में रहकर, बाद में अनुकूल परिस्थितियों में व्यक्त हो जाएंगे। वास्तव में औगुस्तीन का उद्देश्य बाइबिल की दो विरोधी उक्तियों में सामंजस्य स्थापित करना है। उत्पत्ति ग्रंथ के पहले अध्याय के अनुसार सभी तत्त्वों की सृष्टि कालक्रम से ही हुई; इसके विपरीत प्रवक्ता-ग्रंथ 8 का कहना है कि सृष्टिकर्त्ता ने सभी तत्त्वों की सृष्टि एक ही समय की। उत्तरोक्त की व्याख्या औगुस्तीन इस प्रकार करते हैं सृष्टिकर्त्ता ने तात्त्विक बीजों को पैदा करके अव्यक्त रूप से सब तत्त्वों की एक साथ सृष्टि की। इस सिद्धांत के अनुसार प्रथमोक्त कथन का तात्पर्य यह होगा कि तात्त्विक बीजों में से व्यक्त रूप से सभी तत्त्वों की क्रमिक उत्पत्ति हुई। इस उदाहरण से दिखाई पड़ता है किस तरह 'तात्त्विक बीजों' जैसा एक दार्शनिक सिद्धांत बाइबिल व्याख्या से प्रेरित हो सकता है। अपने इस धर्मशास्त्रीय आधार के कारण तात्त्विक बीजों का सिद्धांत वैज्ञानिक विकासवाद से भी भिन्न है।

मानवशास्त्र और नीति-शास्त्र

औगुस्तीन की मानव की द्वैतवादी धारणा में अफलातूनवाद का प्रभाव स्पष्ट दिखाई पड़ता है। आत्मा और शरीर को पृथक्-पृथक् तत्त्व समझा जाता है, जिससे मानव की एकता का अखंड बना रहना कठिन है। इस पृथक्ता का एक स्पष्ट उदाहरण मनोविज्ञान के संदर्भ में मिलता है प्रत्यक्ष में आत्मा पर इंद्रियों का प्रभाव

---

7. लातीनों में : rationes seminales.
8. 1.18

नहीं पड़ता है; उद्दीपन के अवसर पर आत्मा सिर्फ इंद्रियों में घटित विकार की चेतना प्राप्त करती है। आत्मा की अमरता को इस प्रकार प्रमाणित किया जाता है। आत्मा अपने जीवन स्रोत की, अर्थात् सृष्टिकर्त्ता परमेश्वर की सहभागिनी है; फिर मृत्यु जीवन का विरोध ही है; इसलिए जीवन-स्रोत से संबंधित आत्मा का मरणशील होना असंगत ही होगा। इसके अतिरिक्त मानव-आत्मा में ही, अन्य जीवों के विपरीत, नित्य तत्त्वों का ज्ञान प्राप्त करने की क्षमता है; इसलिए दूसरी जीवात्माओं के विपरीत मानव-आत्मा अविनाशी स्वभाव की है। अमर होने के बावजूद आत्मा को सही अर्थ में नित्य नहीं कहा जा सकता है; सृष्ट होने के कारण उसके अस्तित्व का प्रारंभ हुआ। आत्मा यद्यपि सब समय से अस्तित्व नहीं रखती है, लेकिन, औगुस्तीन के अनुसार उसकी सृष्टि किसी विशेष शरीर से संयोजन के पहले ही हुई थी। वास्तव में सभी मानव-आत्माओं की आदि मानव में ही सृष्टि हुई। फलतः परवर्ती प्रजनन के फलस्वरूप शारीरिक उत्पत्ति के साथ-साथ नवीन आत्मा की सृष्टि नहीं है; पूर्ववर्ती आत्मा ही माता-पिता के माध्यम से नवजात मानव को प्राप्त हो जाती है। औगुस्तीन के इस विशेष सिद्धांत का नाम 'जीवानुवंशिकता' रखा गया है। इसका लातीनी नाम (Traducianism) कलम (tradux) की तुलना से व्युत्पन्न हुआ है जिस प्रकार प्रौढ़ वृक्ष से अन्य पौधे पर कलम का उपरोपण किया जाता है, उसी प्रकार जनक से नवजात को आत्मा मिलती है। यह विचित्र सिद्धांत इस बात का एक दूसरा प्रमाण है कि धर्मशास्त्र का ईसाई दर्शन पर प्रभाव पड़ा : आत्मा-कलम की परिकल्पना द्वारा औगुस्तीन आदि-पाप की व्याख्या देना चाहते थे, जो आदि-मानव से संपूर्ण मानव जाति को आनुवंशिक रूप में प्राप्त हुआ है।

अपने नीतिशास्त्र में औगुस्तीन विशेष रूप से प्रेम पर बल देते हैं। इसके अनुसार नैतिक प्रयास का चरम लक्ष्य परमेश्वर से प्रेम स्वरूप एकता स्थापित करना है। इस संदर्भ में ईसाई विचारधारा की दूसरी परंपराओं का दृष्टिकोण अधिक बौद्धिकवादी होगा। उनके अनुसार मानव का परम लक्ष्य परमेश्वर के बुद्धि-स्वरूप दर्शन की प्राप्ति है। प्रेम यदि नैतिकता का चरम मूल्य है, तो आदेश का विषय कैसे हो सकता है? इस बात की व्याख्या मानव संकल्प की स्वतंत्रता में निहित है। स्वतंत्रता के अभाव में मानव नैसर्गिक रूप से ही अपने अंतिम लक्ष्य की ओर आकर्षित होगा। इसे स्वभाव की आवश्यकता के विपरीत मानव को संकल्प की स्वतंत्रता के बल पर परम तत्त्व की अपेक्षा अपरम तत्त्वों को चुनने की क्षमता प्राप्त है। फिर भी, परम तत्त्व की प्राप्ति मानव का कर्त्तव्य बनी रहती है; फलतः ईश-प्रेम आदेश का विषय बनता है। कर्त्तव्य का आधार तो स्वतंत्रता ही है। फिर, प्रेम स्वयं ही स्वतंत्रता-स्वरूप है। इसलिए ईश-प्रेम आदेश का विषय भी और मानव स्वतंत्रता की अभिव्यक्ति भी है। इसमें अशुभ इस तरह निहित है कि मानव किसी अपरम शुभ को प्राप्त करने के लिए परम शुभ से विमुख हो जाता है। इससे ये दो बातें स्पष्ट

हो जाती है : परम शुभ के निषेध से उत्पन्न होकर अशुभ अभावात्मक मात्र है; मानव-चुनाव से उत्पन्न होकर अशुभ का स्रोत परमेश्वर नहीं है । इस अशुभ की धारणा के बल पर औगुस्तीन पहले स्वीकृत शुभाशुभ के द्वैतवाद का खंडन करते हैं एकमात्र शिव परमेश्वर सब तत्त्वों का सृष्टिकर्त्ता होने पर भी अशुभ का स्रोत नहीं है । अशुभ न केवल असत् मात्र है, अपितु वह मानव से ही उत्पन्न हुआ है । इस दृष्टिकोण से औगुस्तीन का "दो तरफा प्रेम" सुबोध भी हो जाता है । आत्मा या तो अपने आपकी अपेक्षा परमेश्वर से प्रेम रखती है, या इसके विपरीत परमेश्वर की अपेक्षा अपने आप से ही । लेकिन आत्मा परम तत्त्व नहीं, अपरम ही है ।

(घ) छद्म-दियोनिसियुस अरेओपागीता (500 ई. सं. लगभग)

सही अर्थ में "पूर्वाचार्य" न होने पर भी, कालक्रम की दृष्टि से इस विचारक का उल्लेख यहीं पर करना चाहिए । पांचवीं शताब्दी के अंत में सीरिया में रचित किसी अज्ञात लेखक के अनेक यूनानी ग्रंथ संपूर्ण मध्य अवधि में बहुत प्रभावशाली हुए । इनमें से सबसे प्रसिद्ध निम्नलिखित हैं : "दिव्य नामों के विषय में ग्रंथ" और "रहस्यवादी धर्मशास्त्र" विषयक ग्रंथ । उन पर नव-अफ्लातूनवादी विचारक प्रौक्लुस का (410–485) गहरा प्रभाव पड़ा था । उपर्युक्त रचनाओं का महत्त्व इस बात में है कि उनके माध्यम से परवर्ती ईसाई विचारधारा पर नव-अफ्लातूनवाद स्थायी प्रभाव डाल सका । तेरहवीं शताब्दी तक संत थोमस ने भी "दिव्य नामों के ग्रंथ" पर अपना भाष्य लिखा । इन रचनाओं की इतनी प्रतिष्ठा इसलिए हुई कि उनका लेखक संत पौलुस का शिष्य ही माना जाता था ।

"प्रेरित-चरित" में [9] तो एक दियोनिसियुस की चर्चा है, जिन्हें संत पौलुस के ऐथेन्स में भाषण के बाद ईसाई धर्म में दीक्षा मिली थी । ऐथेन्स की 'अरेओपागुस' नामक परिषद् के सदस्य होकर वह दियोनिसियुस "अरेओपागीता" भी कहलाने लगे । इस छद्मनाम को अपनाकर पूर्वोक्त अज्ञात लेखक अपनी रचनाओं के लिए बहुत प्रतिष्ठा प्राप्त कर सके ।

छद्म-दियोनिसियुस के अनुसार परम तत्त्व का ज्ञान प्राप्त करने के लिए दो मार्ग खुले हैं : सकारात्मक और नकारात्मक । पहले का प्रतिपादन 'दिव्य नाम' संबंधी ग्रंथ में मिलता है । मनुष्य को ईश-लक्षण भावात्मक रूप से ज्ञात हैं, जैसे शुभ, प्रज्ञा, सामर्थ्य । सौंदर्य या "एकम्" के लक्षणों में नव-अफ्लातूनवाद का प्रभाव विशेष रूप से दिखाई पड़ता है । उपर्युक्त लक्षणों का आरोपण पूर्णतया परम तत्त्व में किया जा सकता है, किन्तु सृष्ट तत्त्वों के विषय में गौण रूप से ही । कारण, संपूर्ण तत्त्वों का मूल-स्रोत होने से परमेश्वर में ही उन लक्षणों की संपूर्णता मिलती है; सृष्ट तत्त्वों में वे व्युत्पन्न रूप से ही विद्यमान् हैं । इसके विपरीत "रहस्यवादी धर्मशास्त्र" नामक ग्रंथ नकारात्मक ईश-ज्ञान का मार्ग प्रस्तुत करता है । परम तत्त्व

---

9. 17, 34

की खोज में मानव को क्रमशः सब सृष्ट गुणों का निषेध करना पड़ता है, जब तक 'अति-अंधकार' के अतिरिक्त और कुछ नहीं बना रहता है। वह है ईश-विषयक रहस्यवादी ज्ञान का क्षेत्र। इस अभावात्मक ज्ञान का अर्थ यह नहीं कि परम तत्त्व अपने स्वभाव से अबोधगम्य है, वस्तुतः वह मानव ज्ञान से ही परे हैं।

छद्म-दियोनिसियुस के सृष्टिवाद में नव-अफ्लातूनवाद का प्रभाव और अधिक स्पष्ट है। उनके दृष्टिकोण में सृष्टिकार्य इतना स्वतंत्र नही प्रतीत होता है, जितना किसी प्रकार की स्वाभाविक घटना। नव-अफ्लातूनी **प्रसरण-वाद** के अनुसार सृष्टि परम तत्त्व से उदभूत हुई जैसे स्रोत से धारा। इस प्रक्रिया में सृष्टिकर्त्ता स्वयं ही अनेक या विभिन्न हो जाता है, साथ ही अखंड और अभिन्न भी बना रहता है। **प्रसरण** और प्रलय की अवस्थाओं के अनुसार सृष्टिकर्त्ता को जगत् का आदि और अंत, उपादान, कारण और अंतिम लक्ष्य, दोनों माना जाता है। छद्म-दियोनिसियुस का अशुभ-विषयक सिद्धांत भी उल्लेखनीय है। वह सत् और शुभ का तादात्म्य स्वीकार करते हैं। फलतः सृष्टिकर्त्ता से जब कि संपूर्ण तत्त्व उत्पन्न हुए, अशुभ उससे पैदा नहीं हो सका। अशुभ तो सत् का अभाव मात्र है। अशुभ की यह अभावात्मक धारणा उदाहरण द्वारा स्पष्ट की जा सकती है। अंधापन अशुभ है; फिर, वह अभावात्मक मात्र है, अर्थात् अंधापन सिर्फ देखने की क्षमता के अभाव में निहित है। यदि यह पूछा जाय कि अशुभ जैसा असत् कैसे अस्तित्व रख सकता है, तो इसका उत्तर है कि 'सत् के आधार पर'। अंधापन, अभाव होते हुए भी अंधे के अस्तित्व पर निर्भर है। अशुभ इच्छा का भी कोई विषय नहीं हो सकता है; इसलिए जिस "अशुभ" की इच्छा है, वह वास्तव में **मिथ्या** शुभ ही है। औगुस्तीन के समान ही छद्म-दियोनिसियुस भी शुभाशुभ के द्वैतवाद से दूर रहते हैं।

II, 4थी और 5वीं शताब्दी में धर्मशास्त्रीय विवाद।

(क) त्रियेक परमेस्वर का धर्म सिद्धांत :—

दूसरे अध्याय में हमने इस बात पर पाठक का ध्यान आकर्षित किया है कि बाइबिल पूर्वार्द्ध में परमेश्वर विषयक सिद्धांत अव्यक्त रूप से निहित है। परवर्ती शताब्दियों में पूर्वाचार्य इस रहस्य का सैद्धांतिक रूप से प्रतिपादन करने लगे। प्रारंभ से ही निम्नलिखित मौलिक प्रभेद सभी को स्वीकृत थे। परमेश्वर और विश्व का प्रभेद क्रमशः असृष्ट और सृष्ट तत्त्वों का है। फिर, पिता-परमेश्वर से पुत्र-परमेश्वर इसलिए भिन्न है कि प्रथमोक्त के विपरीत उत्तरोक्त जन्मा हुआ है। जिस पिता-परमेश्वर से पुत्र-परमेश्वर उत्पन्न हुआ, उसकी किसी से कोई उत्पत्ति नहीं हुई। इस प्रसंग में स्पष्टतया 'जन्म' या "उत्पन्न" शब्दों का अर्थ आत्मिक ही है, भौतिक नहीं! अतः असृष्ट होने के कारण पुत्र-परमेश्वर पिता-परमेश्वर से अभिन्न, किन्तु विश्व से भिन्न है। ध्यान देने योग्य बात है कि पुत्र-परमेश्वर को असृष्ट होते हुए भी उत्पन्न हुआ माना जाता है। इन दो बातों का इसलिए विरोध नहीं है क्योंकि पिता-परमेश्वर से जन्म लेना और परमेश्वर द्वारा सृष्ट किया जाना, इन दो अभिव्यक्तियों का अर्थ

भिन्न-भिन्न है। स्वभाव की दृष्टि से पुत्र पिता से अभिन्न, सृष्टि सृष्टिकर्त्ता से भिन्न है। इस शास्त्र-सम्मत सिद्धांत के विपरीत अरीयुस (256-336) एक अपसिद्धांत का प्रचार करने लगे। उनके अनुसार केवल पिता-परमेश्वर को असृष्ट कहा जा सकता है, क्योंकि उसी की कोई उत्पत्ति नहीं हुई। पुत्र-परमेश्वर को, उत्पन्न होने के फल-स्वरूप, सृष्ट भी होना अनिवार्य है। दूसरे शब्दों में पुत्र-परमेश्वर के संबंध में,अरीयुस ने जन्म या उत्पत्ति का सृष्टि से तादात्म्य निर्धारित किया। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि 'पुत्र' वास्तव में परमेश्वर नहीं, सृष्ट तत्त्व ही है। एक शब्द में अरीयुस ईसा मसीह के संबंध में ईश्वरत्व का निषेध करते थे। फिर भी उत्तरार्द्ध का तात्पर्य यह था कि ईसा मसीह वास्तव में ईश्वर पुत्र हैं, फलतः स्वयं ईश्वर ही हैं। वस्तुतः अरीयुस के अनुसार सामान्य सृष्टि की तुलना में 'पुत्र'-स्वरूप ईसा मसीह उच्चतर स्तर के तत्त्व हैं। उनकी उत्पत्ति काल से पूर्व हुई जबकि अन्य सृष्ट तत्त्वों की काल के प्रारंभ मात्र से। फिर भी 'पुत्र' को परमेश्वर के समान नित्य नहीं माना जा सकता है : सृष्ट होकर वह एकमात्र परमेश्वर से भिन्न ही है। अनुषंगतः इस अपसिद्धांत पर नव-अफलातूनवाद का प्रभाव स्पष्ट है : प्लोतीनुस के अनुसार 'एकम्' को छोड़कर सभी तत्त्वों का, दिव्य चित् का भी, प्रसर्जन हुआ।

ईसा मसीह का ईश्वरत्व अस्वीकार करना ईसाई धर्म की जड़ उखाड़ना ही था। यथार्थ धर्म-सिद्धांत को निर्धारित करने के लिए सन् 325 ई, में पश्चिम एशिया के निसेआ नगर में धर्माध्यक्षों की महासभा हुई। परंपरागत विश्वास के अनुसार उन्होंने पुत्र-परमेश्वर स्वरूप ईसा मसीह के विषय में इन दो बातों को दोहराया, पुत्रेश्वर होकर वह उत्पन्न भी हुआ और असृष्ट भी है। इसलिए, धर्माध्यक्षों ने अरीयुस के विरुद्ध दिव्य जन्म या उत्पत्ति और सृष्टि का तादात्म्य अस्वीकार किया। फलतः पिता-परमेश्वर के समान पुत्र-परमेश्वर भी नित्य है। पुत्र-परमेश्वर के संबंध में पिता-परमेश्वर की जो प्रथमता है, वह काल की दृष्टि से नही, मूल स्रोत की दृष्टि से है। फिर अरीयुस के निषेध के विरुद्ध निसेआ की महासभा ने ईसा मसीह का ईश्वरत्व स्पष्ट शब्दों में घोषित किया, यह कहकर कि पिता० और पुत्र-परमेश्वर, दोनों का एक ही स्वभाव या सारतत्त्व है। उपर्युक्त कथनों से यह निष्कर्ष निकलता है कि पुत्र-परमेश्वर पिता-परमेश्वर से भिन्न भी है और अभिन्न भी अभिन्न, स्वभाव की दृष्टि से; भिन्न उत्पत्ति की दृष्टि से। पिता-परमेश्वर के विपरीत, जिसकी उत्पत्ति नहीं हुई, पुत्र-परमेश्वर का पिता-परमेश्वर से जन्म हुआ। फिर, पुत्र-परमेश्वर असृष्ट होने के कारण पिता-परमेश्वर से अभिन्न है (और सृष्टि से भिन्न)। जिस प्रकार अरीयुस ने ईसा-स्वरूप पुत्र के ईश्वरत्व का निषेध किया था, उसी प्रकार बाद में दूसरे लोग पवित्र-आत्मा के ईश्वरत्व के विषय में संदेह करने लगे। सन् 381 ई. में कोंस्तांतिनोपोलिस की महासभा ने असंदिग्ध शब्दों में परमेश्वर का सिद्धांत प्रतिपादित किया: **स्वभाव** की दृष्टि से परमेश्वर में एकता है, **व्यक्तियों** की दृष्टि से त्रित्व, अर्थात्-पिता, पुत्र-और पवित्र आत्मा-परमेश्वर। स्वभाव/व्यक्ति की इस शब्दावली

का संत बासिल महान् ने (329-379, उपर्युक्त संत ग्रेगोरी का भाई) निर्माण किया था। इन पारिभाषिक शब्दों और इनसे अभिव्यक्त धर्म-सिद्धांत का स्पष्टीकरण आगे दिया जा रहा है।

त्रियेक-परमेश्वर के सिद्धांत में निम्नलिखित दो मूलवाक्य शामिल हैं, पहला, केवल एक परमेश्वर है; दूसरा, "पिता", "पुत्र" और "पवित्र आत्मा" ये तीनों परमेश्वर हैं। स्पष्ट रूप से दूसरा वाक्य पहले का विरोधी प्रतीत होता है। वास्तव में ईश्वरत्व में त्रित्व एकेश्वरवाद से तर्कसंगत ही है। यह बात इस प्रकार स्पष्ट की जा सकती है। परंपरागत ईसाईयों के विश्वास के अनुसार पिता पूर्ण रूप से परमेश्वर है; पुत्र और पवित्र आत्मा भी पूर्ण रूप से परमेश्वर हैं। दूसरे शब्दों में इन तीनों में से प्रत्येक में ईश्वरत्व की संपूर्णता उपलब्ध है। इस दृष्टि से पिता-परमेश्वर पुत्रेश्वर और पवित्र-आत्मा से एकदम अभिन्न है। इसलिए, यह कहा जा सकता है। कि इन तीनों में ईश-स्वभाव या सारतत्त्व की एकता है। जिस मूल-शब्द का हम "स्वभाव" या "सारतत्व" से अनुवाद करते हैं वह यूनानी में physis या ousia, लातीनी essentia या substantia है। ध्यान देने योग्य बात है कि उपर्युक्त सिद्धांत त्रिदेववाद से भिन्न है। पिता, पुत्र, पवित्र-आत्मा, उन तीनों केपूर्ण रूप से ईश्वर होते हुए भी, उन्हें एकेश्वर इसलिए माना जा सकता है, क्योंकि जिस दिव्य सारतत्त्व के बल पर इन तीनों में से प्रत्येक को परमेश्वर कहा जाता है, वह अखंड ही बना रहता है। प्रत्येक को ईश्वरत्व की संपूर्णता प्राप्त है।

ईश-स्वभाव की दृष्टि से पिता-परमेश्वर, पुत्र-परमेश्वर और पवित्र-आत्मा परमेश्वर अभिन्न ही हैं। फिर, यदि ये तीनों परस्पर भिन्न नहीं भी होते, तो भी इन तीनों की चर्चा पृथक्-पृथक् नहीं हो सकती। और, वास्तव में वे भिन्न हैं ही। दूसरों के विपरीत पिता-परमेश्वर की किसी प्रकार की उत्पत्ति नहीं हुई। फिर, पुत्रेश्वर पवित्र-आत्मा से इसलिए भिन्न है कि, दोनों उत्पन्न होते हुए भी, प्रथमोक्त जन्म से उत्पन्न हुआ, उत्तरोक्त दूसरी तरह से परमेश्वर के श्वास से। इसलिए अभिन्नता के समान भिन्नता भी वास्तविक है। इस भिन्नता की यथार्थता तीनों के पारस्परिक भिन्न-भिन्न संबंधों पर निर्भर है। पिता-परमेश्वर पुत्र-परमेश्वर से जो संबंध रखता है, वह उस संबंध से भिन्न है जिससे पिता-परमेश्वर पवित्र-आत्मा से संबंधित है। पिता-परमेश्वर जबकि पुत्रेश्वर का पिता है, पवित्र-आत्मा का स्रोत ही है। इससे अन्य पारस्परिक संबंधों की भिन्नता भी निकलती है। संबंधों का यह सिद्धांत संत ग्रेगोरी और संत बासिल जैसे यूनानी पूर्वाचार्यों द्वारा विकसित किया गया। जिस प्रकार उन्होंने अभिन्नता की 'सारतत्व' शब्द द्वारा अभिव्यक्ति की थी, उसी प्रकार उन्हें भिन्नता के लिए भी उपयुक्त शब्दावली गढ़ना पड़ी। इस संदर्भ में उन्होंने दो पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग किया; hypostasis (लातीनी subsistentia) और prosopon (persona)। लातीनी समानार्थ subsistentia के आधार पर यूनानी

hypostasis "वर्तिता" द्वारा अनुवादित किया जा सकता है।[10] फिर, "वर्ती" का अर्थ है (1) "स्थित रहने वाला" और (2) "बरतने वाला"[11]। "वर्ती" शब्द का पहला अर्थ पृथक्ता सूचित करता है, जो भिन्नता का गुणार्थ है। "वर्ती" का दूसरा अर्थ संबंध-सिद्धांत के बिलकुल अनुकूल है। कारण, इस सिद्धांत के अनुसार पिता, पुत्र और पवित्र-आत्मा की भिन्नता उनके पारस्परिक **संबंधों** पर आधारित्त है। इसके अतिरिक्त 'बरतना' शब्द का अर्थ है: व्यवहार या बरताव करना, विशेषकर **व्यक्तियों** से[11] "इस अंतिम पहलू से "वर्ती" शब्द persona से भी संबंध रखता है। कारण, लातीनी persona या अंग्रेजी persona का अनुवाद '**व्यक्ति**' ही है। अतः 'व्यक्ति' इस दृष्टिकोण से hypostasis/subsistentia और proscpon/persona दोनों का उपयुक्त समानार्थ है, क्योंकि दूसरे सह-व्यक्तियों से संबंध रखना व्यक्ति का स्वभाव है। अतः परंपरागत त्रियेक परमेश्वर संबंधी धर्मसिद्धांत के अनुसार सारतत्व की दृष्टि से परमेश्वर एक है, पारस्परिक संबंधों की दृष्टि से ईश्वरत्व में तीन "व्यक्ति" हैं।

'सारतत्त्व' और 'व्यक्ति' के प्रभेद से स्पष्ट है कि उपर्युक्त दो मूल-वाक्य परस्पर विरोधी नहीं हैं। "केवल एक परमेश्वर है", इस पहले कथन का अभिप्राय है कि सारतत्व की दृष्टि से ईश्वरत्व की एकता बनी रहती है; "पिता, पुत्र और पवित्र आत्मा, ये तीनों परमेश्वर हैं", इस दूसरे कथन का अर्थ है कि व्यक्तियों की दृष्टि से ईश्वरत्व में 'त्रित्व' है। एकता त्रित्व से इसलिए असंगत नहीं है क्योंकि दोनों के पहलू भिन्न-भिन्न है।" इस पर भी कोई यह आपत्ति उठा सकता है: तीन दिव्य व्यक्तियों में **सारतत्त्व** एक ही या अभिन्न है। फिर, किसी तत्त्व या व्यक्ति की परिभाषा उसके सारतत्त्व में ही निहित है। इसलिए परिभाषा के बल पर अभिन्न होकर भिन्न-भिन्न दिव्य व्यक्तियों की कोई चर्चा नहीं हो सकती है। प्रतिकात्मक रूप से: यदि 'क', 'ख', 'ग' व्यक्तियों का 'अ' सारतत्त्व या परिभाषा एक ही है, तो क = अ, ख = अ और ग = अ; फलतः क = ख = ग। दूसरे शब्दों में, इस आपत्ति के अनुसार दिव्य सारतत्त्व की अभिन्नता में दिव्य व्यक्तियों की भिन्नता विलीन हो जाती। इस आपत्ति का समाधान करने के लिए हमें याद रखना चाहिए कि दिव्य व्यक्तियों की भिन्नता उनके पारस्परिक **संबंधों** पर आश्रित है। क – ख – ग व्यक्तियों के क्रम में क का ख और ग से संबंध और ख का क और ग से संबंध भिन्न-भिन्न है। कारण, जब कि ख एवं ग से क बायें रहता है, क एवं ग के बीच में ख स्थित है, और क एवं ख से दायें ग। इसलिए "इ" अर्थात् क का ख-ग से संबंध "उ" और "ए" से भिन्न है; तात्पर्य यह कि क्रमशः ख और ग के दूसरों से संबंध भिन्न हैं।

---

10. देखें: "मानविकी शब्दावली" II; शिक्षा मंत्रालय, भारत सरकार, 1968; Subsistence = वर्तिता।
11. वैसा: राम चंद्र वर्मा "प्रामाणिक हिन्दी कोश"।

सारतत्त्व की दृष्टि से अभिन्न होते हुए भी, संबंध की दृष्टि से दिव्य व्यक्ति भिन्नही है या क (अ) = ख (अ) = ग (अ), लेकिन क (इ) = ख (उ) = ग (ए) ।

फिर भी, सारतत्त्व/संबंध प्रभेद की कठिनता इसमें निहित है कि संबंध सारतत्त्व से जोड़ा नहीं जा सकता है, वरना इससे संयुक्त एक अतिरिक्त तत्त्व होता । दिव्य स्वभाव से पूर्ण होने के कारण इससे और कुछ नहीं जोड़ा जा सकता है । इसके विपरीत, संबंध दिव्य स्वभाव की कोई विशेषता नहीं हो सकता है, नहीं तो संबंधों की भिन्नता के फलस्वरूप पृथक्-पृथक् दिव्य व्यक्तियों में स्वभाव की भिन्नता भी होती । फिर भी, सिद्धांत के अनुसार व्यक्ति स्वभाव की दृष्टि से अभिन्न ही हैं । । वास्तव में संबंध, तार्किक वर्ग होकर, न तो स्वभाव की विशेषता है, न इससे किसी अतिरिक्त तत्त्व के रूप में जोड़ा जाता है । इसलिए त्रियेक-परमेश्वर के उदाहरण में संबंधों की भिन्नता सारतत्त्व की पूर्णता और अभिन्नता का विरोध नहीं करती है । इस संदर्भ में समभुज त्रिकोण का परंपरागत दृष्टांत उपयुक्त है । इसके तीन कोण एक दूसरे से बिलकुल अभिन्न हैं—आकार की दृष्टि से; पारस्परिक संबंध की दृष्टि से ये तीनों भिन्न-भिन्न हैं । ठीक उसी प्रकार त्रियेक-परमेश्वर में भी संबंधों की भिन्नता सारतत्त्व की अभिन्नता से संगत ही है ।

पूर्ववर्ती दो परिच्छेदों से यह निष्कर्ष न निकाला जाय कि सारतत्त्व/संबंध का प्रभेद त्रियेक-परमेश्वर की पूर्ण व्याख्या प्रस्तुत करता है । वास्तव में वह सिर्फ यह दिखाता है कि तार्किक दृष्टि से धर्म-सिद्धांत असंगत नहीं है । आगे हमें यह समझना होगा कि ईसाई धर्म मे ऐसे तथाकथित रहस्य शामिल हैं, जो मानव बुद्धि मात्र के लिए बोधगम्य नहीं हैं । त्रियेक-परमेश्वर विषयक रहस्य इसमें निहित है कि तीन दिव्य व्यक्तियों में से प्रत्येक में दिव्य सारतत्त्व की संपूर्णता अविच्छिन्न रूप से उपलब्ध है । फिर, तार्किक विरोध न होने पर भी, वास्तव में व्यक्तियों की भिन्नता उनकी समानता से कैसे समन्वित है, यह बात हमें स्पष्ट रूप से दिखाई नहीं पड़ती है । दर्शनशास्त्र की दृष्टि से धर्मशास्त्र में प्रयुक्त 'व्यक्ति' शब्द का सही अभिप्राय महत्त्व की बात है । संबंध-सिद्धांत से स्पष्ट है कि व्यक्तित्व का मूलभूत अर्थ सह-व्यक्तियों से संबंध रखना है । इसलिए, इस दृष्टि से, व्यक्तित्व का स्वलक्षण व्यक्तियों की पारस्परिकता है । एक और उल्लेखनीय बात यह है कि 'व्यक्ति' प्रत्यय का निर्माण पहले "परमेश्वर" प्रत्यय के संबंध में किया गया । बाद में स्कोलावाद ने उसके मौलिक तात्पर्य का विस्तार कर 'व्यक्ति' प्रत्यय का प्रयोग मानव के विषय में भी किया । अतः परमेश्वर को 'व्यक्ति' कहना वास्तव में मानवतारोपण का उदाहरण नहीं है; इसके विपरीत मनुष्य को 'व्यक्ति' कहना एक प्रकार का देवतारोपण माना जा सकता है । त्रियेक परमेश्वर-सिद्धांत का प्रभाव मानव-दर्शन पर संत औगुस्तीन द्वारा भी पड़ा । उन्होंने दिव्य त्रित्व की तुलना मानव-आत्मा की शक्तियों से की थी । जिस प्रकार आत्मा अपने आपको आंतरिक शब्द या आत्मिक प्रतिभा द्वारा ज्ञात है, ठीक उसी प्रकार दिव्य 'शब्द' परमेश्वर के आत्म-ज्ञान की अभिव्यक्ति है । फिर, जिस

प्रकार आत्मा अपने आपसे प्रेम द्वारा संयुक्त है, उसी प्रकार पवित्र आत्मा पिता-पुत्रेश्वर के पारस्परिक प्रेम का साकार ही है। इस उदाहरण में भी परवर्ती दार्शनिक मनोविज्ञान को ईश-संबंधी धर्मसिद्धांत से प्रेरणा मिली।

(घ) ईश-मानव संबंधी-धर्म सिद्धांत

चौथी शताब्दी में त्रियेक-परमेश्वर का सिद्धांत धर्मशास्त्रीय अनुसंधान का मुख्य विषय था 5वीं शताब्दी में ईश-मानव के विषय में विवाद छिड़ने लगा। बाइबिल पर आधारित परंपरागत ईसाइयों का विश्वास था कि ईसा मसीह पुत्रेश्वर और मानव, दोनों हैं। साथ ही ईसा मसीह दो तत्त्व नहीं, एक ही हैं। इस विश्वास के अनुसार निसेआ की महासभा ने अरीयुस के निषेध के विरुद्ध ईसा मसीह के ईश्वरत्व का मंडन किया था। फिर, कोस्तांतिनोपोलिस में पवित्र-आत्मा के ईश्वरत्व के अतिरिक्त यह भी स्पष्ट किया गया कि ईसा मसीह में केवल दिव्य स्वभाव नहीं, मानव स्वभाव भी है। उस समय से इन प्रश्नों के संदर्भ में 'सारतत्त्व' या 'स्वभाव' और 'व्यक्ति' जैसे पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग प्रचलित रहा। अब इस शब्दावली के भ्रांतिपूर्ण प्रयोग के बल पर नेस्तोरियुस ने यह अपसिद्धांत प्रस्तुत किया, कि मानव और दिव्य **स्वभावों** के द्वैत के अनुसार ईसा मसीह में **व्यक्तियों** का द्वैत भी है। नेस्तोरियुस का भ्रम ईसा मसीह की माता से संबंध रखता था। नेस्तोरियुस ने ठीक ही यह कहा कि केवल ईसा के मानव स्वभाव की दृष्टि से संत मरियम को उनकी माता कहा जा सकता है, उनके दिव्य स्वभाव की दृष्टि से नहीं। कारण, ईसा मसीह का दिव्य सारतत्त्व, उनके ईश्वरत्व का आधार होकर किसी मानव से प्राप्त नहीं हो सकता है। लेकिन इस सही सिद्धांत से नेस्तोरियुस ने यह मिथ्या निष्कर्ष निकाला कि संत मरियम वास्तव में ईश-माता नहीं है, नहीं तो मानव स्वरूप ईसा पुत्रेश्वर से भिन्न व्यक्ति होता। इस भ्रम का खंडन करने के लिए एफेसुस (431 ई.) की महासभा ने यह स्पष्ट किया कि ईसा मसीह में स्वभाव का द्वैत होते हुए भी, व्यक्ति का द्वैत नहीं है। बाद में व्यक्तित्व के इस अद्वैत से एकस्वभाववाद का भ्रम भी उत्पन्न हुआ, जिसके अनुसार ईसा मसीह के **एकमात्र व्यक्तित्व** में केवल **एकस्वभाव** ही होता। सिर्फ उनका दिव्य स्वभाव वास्तविक होता, और मानव स्वभाव आभासी मात्र। इस अपसिद्धांत का अनिवार्य फल यह है कि ईसा का शरीर-धारण, मानव जीवन और मृत्यु भी आभास मात्र होते, संक्षेपतः उनका मुक्तिकार्य वास्तविक नहीं होता। इस भ्रम का खंडन करने के लिए कालसेदों (451 ई.) की महासभा ने असंदिग्ध शब्दों में ईश-मानव संबंधी सिद्धांत अभिव्यक्त किया: पुत्रेश्वर ईसा मसीह में मानव और दिव्य **स्वभावों का द्वैत** तथा **व्यक्ति का अद्वैत** है। इस महत्त्वपूर्ण सिद्धांत का कुछ विस्तार से स्पष्टीकरण करना समीचीन होगा।

पहली ध्यान देने योग्य बात यह है कि ईश-मानव सिद्धांत के संदर्भ में एक ही अर्थ में उसी शब्दावली का प्रयोग किया जाता रहा जिसका निर्माण त्रियेक-परमेश्वर के विषय में किया गया था, अर्थात् "व्यक्ति" (hypostasis; persona)

और "सारतत्त्व" या "स्वभाव" ! सिद्धांत के अनुसार ईसा मसीह को मानव और दिव्य स्वभाव, दोनों प्राप्त हैं । दोनों स्वभावों की सब विशेषताएं साथ-साथ उनमें उपलब्ध हैं । उदाहरणार्थ, मानव स्वभाव के कारण ईसा मसीह मरणशील हैं; दिव्य स्वभाव के बल पर वह अमर भी हैं । फिर, एक के अनुसार ईसा मसीह सृष्ट हैं, दूसरे के अनुसार असृष्ट । इसमें विरोध नहीं हैं क्योंकि भिन्न-भिन्न विशेषताओं का आधार पृथक्-पृथक् स्वभाव ही है । अतः भिन्न-भिन्न स्वभाव के बल पर ईसा मसीह मानव औह परमेश्वर दोनों से अभिन्न हैं । दूसरे शब्दों में, ईसा मसीह पूर्ण रूप से मानव हैं और पूर्ण रूप से परमेश्वर भी । दोनों स्वभाव पृथक्-पृथक् होते हुए भी परस्पर संयुक्त हैं । कारण, मानव स्वभाव और दिव्य स्वभाव, दोनों का एक ही व्यक्ति, अर्थात् ईसा मसीह, पर आरोपण किया जाता है । ईसाई धर्म के अनुसार वह व्यक्ति पुत्र-परमेश्वर ही है । कालसेदों से प्रस्तुत सिद्धांत के अनुसार ईसा मसीह के दो स्वभावों का संयोग पुत्रेश्वरत्व पर आधारित है; इसलिए यह सिद्धांत "व्यक्ति-परक एकता"[12] का सिद्धांत कहा जा सकता है । एक ही व्यक्ति में दोनों स्वभावों के आरोपण के फलस्वरूप पुत्रेश्वर ईसा मसीह को परमेश्वर भी और मानव भी कहा जा सकता है; एक शब्द में ईसा मसीह "ईश-मानव" हैं । ईश-मानव का 'रहस्य' इसमें निहित है कि ईसा मसीह में परमेश्वर और मानव का मेल मिलता है । जो ईसा मसीह पर विश्वास रखता है, वह उन्हीं को अपने दिव्यीकरण का स्रोत मानता है । मनुष्य मात्र अपने आपसे ईश्वरत्व की प्राप्ति नहीं कर सकता । पुत्रेश्वर ईसा मसीह ने मानव स्वभाव धारण करने से मानव-जाति को दिव्य स्वभाव प्रदान किया है । इस परिप्रेक्ष्य में यह निष्कर्ष अनिवार्य है कि ईसा मसीह के अतिरिक्त कोई अन्य मनुष्यों के लिए दिव्यीकरण का स्रोत नहीं हो सकता हैं ।

III. धर्मशास्त्र और दर्शनशास्त्र का प्रभेद

पूर्ववर्ती प्रकरण में हमने धर्मशास्त्र की उत्पत्ति का वर्णन किया है । हम पाठक का ध्यान फिर इस बात की ओर आकृष्ट करना चाहते हैं कि समग्र ईसाई 'दर्शन' में धर्म और दर्शनशास्त्र पृथक्-पृथक् शाखाएं हैं । तदनुसार इस अध्याय के पहले प्रकरण में पूर्वाचार्यों का केवल दर्शनशास्त्र प्रस्तुत किया गया, उनके धर्मशास्त्र की कोई चर्चा नहीं हुई । अगले अध्याय में भी मध्यकालीन आचार्यों का सिर्फ दर्शनशास्त्र वर्णित किया जाएगा, उनके धर्मशास्त्र का उल्लेख नहीं होगा । इसलिए ईसाई दर्शन के प्रतिपादन में हल उपर्युक्त प्रभेद को ठीक से मानते हैं । इस प्रभेद का ऐतिहासिक आधार भी है । चौथे अध्याय में हम यह स्पष्ट करेंगे कि किस प्रकार मध्यकाल में क्रमशः दर्शन और धर्मशास्त्र का प्रभेद उत्पन्न होने लगा, जब तक संत थोमस के प्रभाव से दर्शनशास्त्र को धर्मशास्त्र से पूरी स्वतंत्रता नहीं मिली । इस

---

12. Hypostatic union. अर्थात्, यह स्वभावों का संयोग, जो hypostasis या (दिव्य) "व्यक्ति" पर आश्रित हैं ।

ऐतिहासिक विकास का वर्णन करने के पहले **सैद्धांतिक** रूप से इस प्रभेद का स्पष्टीकरण देना अनावश्यक नहीं होगा।

ईसाई अर्थ में धर्मशास्त्र की परिभाषा उसके विषय, उसकी प्रणाली और उसके दृष्टिकोण को निर्धारित करने से दी जा सकती है। धर्मशास्त्र का **विषय** है कि बाइबिल में व्यक्त और परंपरागत शिक्षा में प्रतिपादित ईसाई धर्म या विश्वास। ईसाई अपने धर्म का मूल स्रोत ईश-वचन या 'प्रकाशना' ही मानते हैं। इस "प्रकाशना" धारणा का वर्णन पहले और दूसरे अध्याय में दिया गया है। सामान्य रूप से धर्मशास्त्र की **प्रणाली** धर्म पर क्रमबद्ध चिंतन या अध्ययन कही जा सकती है। इस अध्ययन की मुख्य अवस्थाएं निम्नलिखित हैं। पहले, ऐतिहासिक और साहित्यिक दृष्टिकोण से बाइबिल की व्याख्या करना और परंपरागत शिक्षा का अनुसंधान करना। फिर, उपर्युक्त अन्वेषण के फलस्वरूप प्राप्त मूलभूत विश्वास का सैद्धांतिक विकास, स्पष्टीकरण और प्रतिपादन करना। इससे स्पष्ट है कि धर्मशास्त्र सही अर्थ में एक क्रमबद्ध विज्ञान कहा जा सकता है। अनिवार्य रूप से ईसाई धर्मशास्त्र का **दृष्टिकोण** ईसाई विश्वास का है। कारण, सामान्य रूप से किसी धर्म की धार्मिक व्याख्या केवल वही कर सकता है जो इस धर्म को स्वीकार भी करता है। फिर, ईसाई धर्मशास्त्र में शब्द-प्रमाण को प्रधानता दी जाती है। ईसाई इस अर्थ में बाइबिल को शब्द-प्रमाण मानते हैं कि इसमें ईश-वचन ही अभिव्यक्त है। अपोरुषेय, अर्थात् परमेश्वर से ही उत्पन्न होने के कारण, बाइबिल को धर्मशास्त्र में प्रामाणिक माना जाता है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि ईश-वचन की स्वीकृति या विश्वास धर्मशास्त्र की आधारभूत शर्त है।

उपर्युक्त परिभाषा से धर्मशास्त्र और दर्शनशास्त्र का प्रभेद स्पष्ट होगा। इन दोनों का पहला प्रभेद दृष्टिकोण का है। धर्मशास्त्र के विपरीत दर्शनशास्त्र में प्रयुक्त दृष्टिकोण विश्वास का नहीं, शुद्ध बुद्धि का है। फिर भी, जब कि विश्वास ईश-वचन की स्वीकृति पर आश्रित है, शुद्ध बुद्धि विश्वास को अस्वीकार नहीं करती वह केवल अनुसंधान में ईश-वचन की प्रामाणिकता नहीं मानती है। फिर, दृष्टिकोण के प्रभेद से विषय का प्रभेद निष्कर्ष के रूप में निकलता है। जो अन्वेषण बुद्धि मात्र की सहायता से किया जाता है, उसकी अनिवार्य रूप से सीमा भी होगी। कारण, यदि स्वयं बुद्धि को अपनी परिमिति स्वीकार करनी पड़ती है, तो ऐसी बातें भी हो सकती हैं जो बुद्धि से परे हों, और इस अर्थ में बोधगम्य नहीं हो। उन्हें धर्मशास्त्र में 'रहस्य' कहा जाता है। धर्मशास्त्र की भी अपनी सीमा है। विश्वास मात्र से बौद्धिक समस्याओं का समाधान नहीं किया जा सकता है। फिर, विश्वास को बुद्धि के क्षेत्र में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। विश्वास को बुद्धि का निष्कर्ष भी स्वीकार करना पड़ता है, उसका विरोध नहीं कर सकता है। धर्मशास्त्र और दर्शनशास्त्र की पृथक्ता के बावजूद इन दोनों का पारस्परिक संबंध भी है। दर्शन धर्म सिद्धांतों को भी अपने चिंतन का विषय बना सकता है, विश्वास की दृष्टि से नहीं, बल्कि बुद्धि की दृष्टि

से। दृष्टिकोण से न केवल ईसाई, वरन् गैर-ईसाई भी ईसाई धर्म पर दार्शनिक रूप से चिंतन कर सकते हैं, जैसे ईसाई भी अन्य धर्मों को अपने दार्शनिक अन्वेषण का विषय मान सकता। लेकिन, धर्म-विशेष की स्वीकृति के अभाव में यह धर्मदर्शन धर्मशास्त्र से भिन्न होगा। दूसरी ओर, धर्मशास्त्र भी दर्शन का अपवर्जन नहीं करता है। कारण, शब्द प्रमाण प्रत्यक्ष या अनुमान की प्रामाणिकता नष्ट नहीं करता है। जो व्यक्ति विश्वास स्वीकार करता है, वह अपनी बुद्धि का परित्याग नहीं करता है। वास्तव में ईसाई धर्मशास्त्र में पूर्वाचार्यों के युग से लेकर पहले यूनानी, बाद में आधुनिक दर्शन का बहुत प्रयोग किया गया है।

अब तक हमने धर्मशास्त्र और दर्शनशास्त्र की पृथक्ता प्रस्तुत की है। इन दो ज्ञान-शाखाओं का प्रभेद तत्त्वों के प्रभेद पर आधारित है। ईसाई विचारधारा में यह तात्त्विक प्रभेद व्यक्त रूप से केवल संत थोमस के युग (13वीं शताब्दी) से लेकर प्रचलित है। अव्यक्त रूप से इन दो भिन्न-भिन्न तत्त्वों का बोध संपूर्ण पूर्ववर्ती विकास पर भी अपना प्रभाव डाल रहा था। जिन दो तत्त्वों या क्षेत्रों की ओर हम निर्देश करते हैं, वे क्रमशः (मानव) "स्वभाव" और (दिव्य) "अनुग्रह"- या "कृपा" कहलाते हैं। पहले इन प्रत्ययों की स्पष्ट रूप से परिभाषा देना बहुत आवश्यक है। "अनुग्रह" या "कृपा" एक ऐसा तत्त्व है जो मानव को केवल परमेश्वर की ओर से प्राप्त हो सकता है। परंपरागत धर्मशास्त्र की शब्दावली में इसका तात्पर्य "दिव्यीकरण"[13] शब्द द्वारा अभिव्यक्त किया जाता है। दूसरे शब्दों में, मानव को दिव्य कृपा के फलस्वरूप त्रियेक-परमेश्वर के जीवन में सहभागिता मिलती है। ईसाई धर्म के अनुसार मानव के दिव्यीकरण का एकमात्र मध्यस्थ ईसा मसीह को ही माना जाता है। कारण, उन्हीं को ईश्वरत्व और मानवत्व, दोनों प्राप्त हैं; फलतः उन्हीं में परमेश्वर और मानव मेल खाते हैं 'फिर, जो दिव्यीकरण मानव को परमेश्वर की ओर से मिलता है, वह मात्र कृपादान के रूप में उसे दिया जाता है। यह ईसाई धर्म का एक मूल सिद्धांत है, अर्थात् परमेश्वर की ओर से मानव को दिव्यीकरण प्रदान करने की कोई (बाह्य) आवश्यकता नहीं हो सकती है। अवश्य ही, ईसा मसीह की मध्यस्थता द्वारा परमेश्वर वास्तव में सब मनुष्यों को दिव्यीकरण का कृपादान करते हैं; लेकिन ऐसा वह पूर्णतया स्वतंत्र रूप से करते हैं, मात्र मानव के प्रति अपने प्रेम से प्रेरित होकर।

यदि 'अनुग्रह' मानव स्थिति का वह पहलू है जो उसे अनिवार्य रूप से प्राप्त नहीं है, तो जो पहलू मानव का अनिवार्य लक्षण है, वह मानव 'स्वभाव' कहलाएगा। पूर्णता की दृष्टि से मानव में दोनों शामिल हैं, अनुग्रह का दिव्य जीवन और मानव स्वभाव। परन्तु दिव्य जीवन के अभाव में भी मानव को किसी स्वाभाविक लक्षण

---

13. यूनानी में theiosis (देखें, Rahner, **Encyclopedia of Theology,** पृ० 1028).

की कमी नहीं होती। दिव्य जीवन के मानव स्वभाव का अनिवार्य अंग न होने के कारण, उसके अभाव में भी मानव अस्तित्व रख सकता है। इसके विपरीत 'स्वभाव के अभाव में मानव भी नहीं होता, कारण 'स्वभाव' का तात्पर्य है मानव तत्त्व के आवश्यक लक्षण। उस अनिवार्यता के फलस्वरूप 'स्वभाव' बोधगम्य भी है, अर्थात् इसका अनुमान मानव तत्त्व के विश्लेषण से किया जा सकता है। जो अनिवार्य रूप से किसी तत्त्व का लक्षण है, वह बौद्धिक अन्वेषण का भी विषय हो सकता है। इसलिए ईसाई विचारधारा में 'स्वभाव' मानव तत्त्व (और मानव से संबंधित विश्व) का वह पहलू है जो दर्शन-शास्त्र की दृष्टि से बोधगम्य है। लेकिन 'कृपा' की परिकल्पना की दृष्टि से दार्शनिक दृष्टिकोण अपूर्ण है। कारण, "स्वभाव" के अतिरिक्त मानव की संपूर्णता में दिव्य जीवन भी सम्मिलित है।

जो अनिवार्य रूप से मानव को प्राप्त है, उसे 'स्वाभाविक' कहा जाता है। इसके विपरीत, कृपा जो मानव को अनिवार्य रूप से नहीं प्राप्त है, "स्वभावोपरि" या "अधिस्वभाविक" कहलाती है। अनावश्यक होते हुए भी स्वाभावोपरि दिव्य जीवन मानव स्वभाव से असंगत नहीं है, बल्कि उसकी संपूर्णता ही है। फिर भी दिव्य जीवन, यदि मानव स्वभाव को अनिवार्य रूप से प्राप्त नहीं है, तो उसकी प्राप्ति मानव के लिए शर्तबद्ध होगी। शर्त परमेश्वर की कृपालुता ही है। मानव अपने स्वभाव के बल पर दिव्य जीवन को प्राप्त करने में असमर्थ है; मानव इस शर्त से ही अपनी संपूर्णता प्राप्त करेगा; अर्थात् परमेश्वर स्वयं की कृपा से उसे प्रदान करे। ईसाई धर्म के अनुसार वास्तव में परमेश्वर ने ईसा मसीह की मध्यस्थता से संपूर्ण मानव जाति को दिव्य जीवन प्रदान किया है। इस पर भी मानव की वास्तविक स्थिति में इन दो पहलुओं का प्रभेद करना पड़ता है; अर्थात् मानव स्वभाव और उसका स्वभावोपरि दिव्य जीवन! पहला मानव को अनिवार्य रूप से और फलतः वास्तव में उपलब्ध है; दूसरा अनिवार्य न होने पर भी वास्तविक ही है। अनिवार्य न होने के कारण स्वाभावोपरि तत्त्व कृपा दर्शन का विषय नहीं हो सकता है। लेकिन जिस पहलू को ईसाई धर्म वास्तविक मानता है, वह उसके लिए दर्शन से भिन्न किसी दूसरी ज्ञान-शाखा अर्थात् धर्मशास्त्र का विषय होगा।

ऊपर यह कहा गया है कि स्वाभाविक-स्वाभावोपरि का प्रभेद केवल 13वीं शताब्दी में उभरा लेकिन ईसाई विचारधारा के प्रारंभ से ही दिव्य जीवन को कृपादान ही माना गया। फलतः उस अतीत में अव्यक्त रूप से आवश्यकता-अनावश्यकता का दो तरफा दृष्टिकोण उपस्थित था। इसके अनुसार दिव्य जीवन संबंधी बातें विश्वास की दृष्टि से ही प्रामाणिक हो सकती हैं, जब कि मानव स्वभाव शुद्ध बुद्धि के लिए बोधगम्य हैं। बाद में क्रमशः दो दृष्टिकोणों का स्पष्ट रूप से पृथक्करण किया गया; इसके फलस्वरूप धर्म-और दर्शनशास्त्र का विभाजन भी उत्पन्न हुआ। यदि ईसाई दर्शन के ऐतिहासिक विकास में धर्मशास्त्र से दर्शनशास्त्र अलग किया गया, और यदि इस पृथक्करण का एक सैद्धांतिक कारण भी है, अर्थात् 'कृपा' और

'स्वभाव' का प्रभेद वर्तमान है, तो ईसाई धर्मशास्त्र को छोड़कर केवल ईसाई दर्शन-शास्त्र का प्रतिपादन करना असंगत नहीं है। सचमुच शताब्दियों तक दोनों अभिन्न ही रहे; फिर भी उस समय भी भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों का अभाव नहीं था।

अंत में एक और बात।

आशा है कि हमने संतोषजनक रूप से यह दिखाया है कि ईसाई विचारधारा में धर्म और दर्शनशास्त्र का प्रभेद स्वभाव और स्वभावोपरि के प्रभेद पर आधारित है। लेकिन किसी बात का स्पष्टीकरण उसी बात के प्रमाण से भिन्न है। इस पुस्तक के अंतिम अध्याय में हम देखेंगे कि किस प्रकार ईसाई दर्शन दिव्य जीवन की संभावना को प्रमाणित करता है।

उपसंहार

जिस पूर्वाचार्य-युग का वर्णन हम कर चुके हैं, वह ईसाई दर्शन की दृष्टि से संधि-काल कहा जा सकता है। पूर्ववर्ती युग, जो पहली शताब्दी ईस्वी में समाप्त हुआ, बाइबिल-रचना की अवधि था। यह कहना मिथ्या नहीं होगा कि बाइबिल में दर्शनशास्त्र का अभाव है; यद्यपि दार्शनिक निहितार्थ उसमें अनुपलब्ध नहीं हैं, तथापि वे सिर्फ अव्यक्त रूप से ही मिलते हैं। परवर्ती युग में, जो 9वीं शताब्दी से शुरू होता है, मध्यकालीन ईसाई दर्शन-शास्त्र का पूरा विकास मिलेगा। प्रस्तुत अध्याय में हमने यह देखा कि किस प्रकार इन दो युगों के बीच में ईसाई दर्शन उत्पन्न हुआ और पूर्वाचार्यों को बाइबिल में निहित समस्याओं का समाधान करना पड़ा। इस प्रकार विशेषकर 4थी और 5वीं शताब्दी के धर्मशास्त्रीय वाद-विवाद के संदर्भ में सैद्धांतिक धर्मशास्त्र प्रारंभ हुआ। लेकिन धर्मशास्त्र के निर्माण के लिए पूर्वाचार्यों ने यूनानी दर्शन-शास्त्र की सहायता ली। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि ईसाई दर्शन के वास्तव में दो पृथक् स्रोत हैं: पहला, बाइबिल ग्रंथ; दूसरा, यूनानी विचारधारा। इसके अतिरिक्त ये दो धाराएं बिलकुल भिन्न-भिन्न संस्कृतियों इब्रानी और यूनानी में से बह निकलीं।

इस तथ्य का एक परिणाम ईसाई दर्शन में पहलुओं की विविधता है। वास्तव में ईसाई दर्शन को शामी और यूनानी विचारधाराओं का संगम माना जा सकता है। अनुषंगतः इससे ईसाई दृष्टिकोण की उदारता भी स्पष्ट है, जो गैर-ईसाई दर्शन को स्वीकृति दे सकी। लेकिन इस तथ्य में एक और महत्त्व का निष्कर्ष निहित है। अध्याय के तीसरे परिच्छेद में हमने ईसाई दर्शन में धर्म और दर्शन के स्पष्ट प्रभेद की ओर संकेत किया है। इस ऐतिहासिक तथ्य का सैद्धांतिक आधार भी दिखाया गया है, अर्थात् दिव्य जीवन और मानव स्वभाव का आधारभूत प्रभेद। अब, इसके अतिरिक्त उपर्युक्त बात के फलस्वरूप धर्म और दर्शनशास्त्र के प्रभेद का सांस्कृतिक कारण भी दिखाई पड़ता है। ईसाई दर्शन के द्विविध स्रोत में ही यह प्रभेद निहित था। कारण, ईसाई दर्शन का धार्मिक पहलू उसे एक अ-दार्शनिक परंपरा से मिला था, अर्थात् बाइबिल-संस्कृति से। दूसरी ओर उसका दार्शनिक

दृष्टिकोण उसे एक अ-धार्मिक विचारधारा से प्राप्त हुआ था, अर्थात् यूनानी संस्कृति से। इस द्विपक्षीय उत्पत्ति के परिणामस्वरूप ईसाई विचारधारा के विकास में धर्म और दर्शन-शास्त्र का पृथक्करण अनिवार्य ही था। अन्य विचारधाराओं में धर्म और दर्शनशास्त्र का प्रभेद इतना स्पष्ट नहीं किया गया, जितना ईसाई विचारधारा में मिलता है। इसके फलस्वरूप पूर्णतया धर्मनिरपेक्ष दर्शन की उत्पत्ति भी उस वातावरण में हो सकी।

ईसाई दर्शन की इस द्विविध उत्पत्ति से अनेक प्रश्न उठते हैं। पहला 'ईसाई दर्शन' की समस्या है। दोनों के प्रभेद के बावजूद धर्म का दर्शन पर प्रभाव अनिवार्य ही है, विशेषकर इसलिए क्योंकि ईसाई दर्शन का विकास धर्मशास्त्र के संदर्भ में हुआ। फलतः इस विषय में संदेह हो सकता है कि जिस दर्शनशास्त्र पर धर्म का इतना प्रभाव पड़ा, वह सही अर्थ में 'दार्शनिक' कहा जा सकता है। दूसरे शब्दों में, यदि ईसाई दर्शन वास्तव में ईसाई है, तो क्या वह साथ ही दर्शन भी हो सकता है ? या इसके विपरीत, यदि वह वास्तव में दार्शनिक है, तो क्या वह ईसाई, अर्थात् किसी धर्म विशेष का दर्शन हो सकता है ? इस प्रश्न का समाधान इतिहास का वर्णन करने के बाद एक विशेष परिच्छेद में[14] दिया जाएगा। दूसरा प्रश्न यह है : क्या तथाकथित 'ईसाई दर्शन' बाइबिल के अनुकूल है ? कारण उसका दार्शनिक दृष्टि-कोण उसे दूसरी संस्कृति से प्राप्त हुआ, जो एकदम धर्मनिरपेक्ष है, अर्थात् यूनानी दर्शन से। ऐसा तो हो सकता है कि इस पराते प्रभाव के परिणामस्वरूप शुद्ध ईसाई धर्म या बाइबिल की दृष्टि विकृति हुई हो। इस बात का अनुसंधान आगे भिन्न-भिन्न सिद्धांतों के संदर्भ में करना पड़ेगा। पुस्तक के दूसरे भाग में विविध प्रश्नों के अवसर पर हम इस समस्या का संतोषजनक समाधान देने की कोशिश करेंगे।

---

14. देखें, अध्याय 5, परिच्छेद 3।

अध्याय 4

मध्यकालीन ईसाई दर्शन-शास्त्र

भूमिका

चौथे अध्याय का विषय है मध्यकालीन ईसाई दर्शन-शास्त्र का इतिहास। प्रस्तुत अवधि की काल सीमाएं नवीं शताब्दी से लेकर सोलहवीं शताब्दी तक निर्धारित की जाती है। फिर ऐतिहासिक वर्णन से बढ़कर निम्नलिखित बातें ध्यान देने योग्य हैं, पहली, धर्म और दर्शनशास्त्र का क्रमिक प्रभेद; दूसरी, पूर्ववर्ती यूनानी दर्शन का मध्यकालीन ईसाई दर्शन पर प्रभाव। यहां हम इन दो बातों का कुछ विस्तार से स्पष्टीकरण करेंगे। इस अध्याय में जिन आठ विचारकों का प्रतिपादन किया गया है, वे सभी दार्शनिक मात्र नहीं, धर्मशास्त्री भी हैं। उनका दर्शन इस अर्थ में सर्वांगपूर्ण कहा जा सकता है कि इसमें बाइबिल संबंधी विषयों और शुद्ध बौद्धिक प्रश्नों दोनों की चर्चा मिलती है। साथ ही इसमें दोनों दृष्टिकोणों का सम्मिश्रण नहीं है। इसके विपरीत धर्मशास्त्रीय और दार्शनिक प्रणाली एवं विषयों का प्रभेद क्रमशः अधिक स्पष्ट हो गया है। दोनों के पारस्परिक संबंध के विषय में मतभेद होते हुए भी, मध्यकालीन विचारक कम से कम अव्यक्त रूप से धर्म और दर्शनशास्त्र का प्रभेद स्वीकार करते थे। इसलिए, इन विचारकों का धर्मशास्त्रीय विचार छोड़कर, केवल उनका दर्शन प्रतिपादित करना निरर्थक प्रयास नहीं है, जब तक हम यह ध्यान में रखें कि उनका दर्शन धर्मशास्त्र के परिप्रेक्ष्य में विकसित किया गया है।

दूसरी बात यूनानी दर्शन के प्रभाव के विषय में है। सामान्य रूप से यह प्रभाव दो तरफा हुआ, अर्थात् नव-अफलातूनवाद का और अरस्तू का (384–322 ई. पूर्व)। हमारे दृष्टिकोण से पूर्वोक्त विचारधारा का अधिक प्रभावशाली विचारक, प्लोतीनुस (203–279 ई.) से बढ़कर, प्रोक्लुस (410–485 ई.) ही था। उल्लेखनीय बात है कि अरस्तू से पूर्व ही इन दो दार्शनिकों का प्रभाव प्रारंभिक ईसाई दर्शन पर पड़ा था। मध्यकालीन ईसाई विचारकों को सिर्फ तेरहवीं शताब्दी में अरस्तूवाद की जानकारी प्राप्त हुई। ईसाई दर्शन के निर्माण में बाईबिल के अतिरिक्त यूनानी दर्शनशास्त्र का योगदान भी बहुत महत्त्वपूर्ण था: धर्मशास्त्र का विकास करने के लिए ईसाई विचारकों ने यूनानी दर्शनशास्त्र का प्रयोग किया; साथ ही उन्होंने इसका विकास और परिवर्तन भी किया। इस पराये दर्शन की प्राप्ति के फलस्वरूप धर्म और दर्शन-शास्त्र का पृथककरण होना भी अनिवार्य था। कारण, यूनानी दर्शन

स्वयं ही पूर्णरूप से बौद्धिक था, धार्मिक नहीं। इस विभिन्न प्रभावों के परिणामस्वरूप एक मौलिक दर्शनशास्त्र प्रादुर्भूत हुआ। उसे किस अर्थ में "ईसाई" दर्शनशास्त्र कहा जा सकता है, यह बात अगले अध्याय में स्पष्ट की जाएगी।

अब संक्षेप में उक्त अवधि का विभाजन प्रस्तुत किया जाएगा, सामान्य ऐतिहासिक दृष्टिकोण से नहीं, बल्कि दर्शनशास्त्र के इतिहास की दृष्टि से। तीसरे अध्याय में हम देख चुके हैं कि संत औगुस्तीन ने अपने विचार के प्रतिपादन में नव-अफलातूनवाद को अपनाया था। इस विचारधारा का प्रभाव दियोनिसियुस अरेओपागीता की मध्यस्थता द्वारा परवर्ती ईसाई दर्शन पर पड़ा। चार्ल्स महान् के सांस्कृतिक पुनर्जागरण के समय (9वीं शती) स्कोतुस एरिउजेना ने सर्वप्रथम इस ढंग का पूर्णतया विकसित दर्शन प्रस्तुत किया। स्कोलावाद का प्रारंभ संत असेलम के समय से (11–12वीं सदी) हुआ। 13वीं शताब्दी इसका स्वर्णयुग थी जब कि संत बोनावेतूरा औगुस्तीनवाद के प्रतिनिधि थे। संत थोमस ने अरस्तूवाद को भी स्वीकार किया। संत स्कोतुस ने दोनों विचारधाराओं का सामंजस्य स्थापित करने का प्रयत्न किया 19वीं शताब्दी के पुनर्जामिरण के समय ओखैम से लेकर स्कोलावाद की अवनति शुरू हुई, समाप्ति नहीं 16 वीं सदी में ही सुआरेस ने अपना मौलिक स्कोलावादी दर्शनशास्त्र का निर्माण किया। स्पष्टतया पूर्वोक्त विचारकों की सूची चयनात्मक ही है। अतः मध्यकाल के सिर्फ सर्वाधिक प्रसिद्ध प्रतिनिधियों को ही प्रस्तुत किया जाएगा। फिर, न केवल इन विचारकों के धर्मशास्त्र की कोई चर्चा नहीं होगी, अपितु मध्यकालीन रहस्यवादियों का भी उल्लेख नहीं किया जा सकता है। कारण, प्रस्तुत पुस्तक का विषय ईसाई धर्मशास्त्र मात्र है; फलतः इन धार्मिक लेखकों के विषय में हमें मौन रहना पड़ता है। इस अध्याय और अगले अध्याय का मूलस्रोत कॉपलस्टन का सुप्रसिद्ध "दर्शन-शास्त्र का इतिहास"[3] है।

I–मध्यकाल के प्रारंभ में ईसाई दर्शन

(क) जॉन स्कोतुस एरिउजेना (810–870 ई० लगभग)

चार्ल्स महान् से प्रेरित पुनर्जागरण के समय हमें मध्ययुग का पहला सुव्यवस्थित दर्शन मिलता है जबकि संत औगुस्तीन जैसा प्रस्तुत विचारक भी ईसाई दर्शन और नव-अफलातूनवाद का सामंजस्य स्थापित करने का प्रयास करता है। छद्म-दियोनिसियुस व प्रभाव भी जॉन स्कोतुस पर अवश्य ही पड़ा होगा : उन्होंने पूर्वोक्त की रचनाओं का न तो केवल यूनानी से लातीनी अनुवाद किया अपितु इनपर भाष्य

1. Scholasticism,
2. जैसे तौलर, एकार्त सूसो. रायल्कब्रुक।
3. F. Copleston, A History of Philosophy, Vols. I—IX, Burnf, Oates & Washbourne, Search Press, London 1946–1975,

भी लिखे। उनके "स्कोतुस" उपनाम का अर्थ यह नहीं कि वह स्कॉटलैंड-निवासी थे; वास्तव में वह आयरिश वंश के थे, जैसे उनका दूसरा उपनाम "एरिउजेना" (अर्थात् "सरिन" से उत्पन्न) बोध कराता है। वे फ्रांस में भी क्रियाशील थे। उनकी सबसे महत्त्वपूर्ण रचना "प्रकृति-वर्गीकरण" नाम से मिलती है।

प्रकृति की परिभाषा इस प्रकार है; "सदसत् की संपूर्णता सदसत् का अर्थ भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों से भिन्न-भिन्न है। ज्ञानशास्त्रीय दृष्टि से सत् का तात्पर्य है : जो कुछ प्रत्यक्ष या बुद्धि का विषय हो सकता है; असत् का, जो बुद्धि से परे है। फिर, धर्म-शास्त्रीय दृष्टि से असत् का तात्पर्य है आदि-पाप से विकृत मानव स्वभाव; इसके विपरीत सत् है पतन से मुक्त मानव। इससे स्पष्ट है कि एरिउजेना के दर्शन मे धर्मशास्त्र के विषय भी शामिल हैं "प्रकृति" नामक सदसत् की संपूर्णता का विभाजन निम्नलिखित है पहला वर्ग है असृष्ट सृष्टिकर्ता का। दूसरे और तीसरे वर्ग में दो प्रकार के सृष्ट तत्त्व शामिल हैं, अर्थात् वे तत्त्व जो सृष्ट होते हुए भी सर्जक है, और इसके विपरीत वे सृष्ट तत्त्व जो स्वयं सर्जक नहीं है। चौथे वर्ग का तत्त्व पहले के समान असृष्ट है, पर उसके विपरीत अ-सर्जक भी सृष्टि करने वाला नहीं। उपर्युक्त वर्गीकरण से यह संदेह उत्पन्न हो सकता है कि एरिउजेना प्रच्छन्न अद्वैतवादी तो नही है ? कारण, एक ही "प्रकृति" का उपवर्ग होकर पहले वर्ग का असृष्ट सृष्टिकर्त्ता दूसरे और तीसरे वर्ग के सृष्ट तत्त्वों से अभिन्न ही प्रतीत होता है। इस समस्या का समाधान करने की कसौटी होगी। एरिउजेना का सृष्टिवाद के विषय में विचार।

एरिउजेना स्वयं यह प्रश्न उठाते हैं, क्या परमेश्वर को वास्तव में सृष्टिकर्त्ता कहा जा सकता है ? सकारात्मक उत्तर के विरुद्ध दो आपत्तियां उठायी जा सकती हैं। पहली इस प्रकार है : यदि परमेश्वर सृष्टिकर्त्ता होता, तो वह सृष्टि की उत्पत्ति से पूर्व ही अस्तित्व रखता। इसका निष्कर्ष यही होता कि परमेश्वर न तो केवल काल-क्रम में अस्तित्व रखता, अपितु सृष्टि भी परमेश्वर का स्वाभाविक लक्षण न होकर गौण ही होती। कारण, सृष्टि समय विशेष पर ही घटित होती। इस कठिनता से बचने के लिए एरिउजेना को स्वीकार करना पड़ा कि सृष्टिकार्य दोनों हैं : सृष्टिकर्त्ता की नित्य क्रिया और दिव्य स्वभाव से अभिन्न लक्षण। फिर, सृष्टि-कर्त्ता की धारणा के विरुद्ध दूसरी आपत्ति यह है कि प्रवृत्ति स्वरूप होने के कारण कोई भी क्रिया परमेश्वर से असंगत ही है। इसके उत्तर में एरिउजेना का कहना है कि सृष्टिकर्त्ता सृष्ट तत्त्वों का कर्त्ता नहीं, उनका सारतत्त्व ही है। उपर्युक्त सिद्धात "शून्य से सृष्टि" का विरोधी प्रतीत हो सकता। 'शून्य से' का तात्पर्य यह है कि सृष्टि परमेश्वर का अंश जैसा नहीं है। एरिउजेना का वास्तविक मत उनके ईश-ज्ञान विषयक सिद्धांत से स्पष्ट किया जा सकता है। उनके लिए छद्म दियोनिसियुस का दो तरफा मार्ग स्वीकार्य है, नकारात्मक भी और सकारात्मक भी। प्रथमोक्त के अनुसार परमेश्वर के विषय में व्यवहारिक अर्थ में "क्रिया" का निषेध करना है,

उक्तरोक्त के अनुसार परमेश्वर पर "क्रिया" का आरोप तो किया जा सकता है, लेकिन लाक्षणिक अर्थ में ही । इसी अर्थ में एरिउजेना सृष्टि की "क्रिया" निर्विकार परमेश्वर के संदर्भ में भी स्वीकार कर सकते हैं ।

प्रकृति के दूसरे वर्ग में वे आद्यरूप या आदर्श शामिल हैं, जिनके अनुसार तीसरे वर्ग के तत्त्वों की सृष्टि होगी । इसलिए दूसरे वर्ग के तत्त्व दोनों हैं : सृष्ट भी और सर्जक भी । अपने सृष्टिवाद के प्रतिपादन के लिए एरिउजेना ने औगुस्तीन से उस आदर्श-कारण का सिद्धांत प्राप्त किया है । फिर भी, उन्होंने शुद्ध सृष्टिवाद को प्रस्तुत किया है, इसमें कुछ संदेह हो सकता है । एरिउजेना के अनुसार दूसरे वर्ग के आदर्शों से तीसरे वर्ग के तत्त्वों की उत्पत्ति माना प्रसरण के रूप में हुई । फिर, आदर्श तत्त्व स्वयं ही सृष्टिकर्त्ता से प्रसारित हुए, जिसके फलस्वरूप पूर्ण सृष्टि परमेश्वर से प्रसरण जैसी प्रतीत होती है । एरिउजेना के शब्दों में सृष्टिकर्त्ता" सब तत्त्वों की सृष्टि करता है, सब तत्त्वों में सृष्ट किया गया है, सब (सृष्ट) तत्त्व ही है ।"[4] इस द्वयर्थक कथन की सही व्याख्या थोड़ी देर बाद दी जाएगी; इसके पहले एरिउजेना में प्रस्तुत "शून्य से सृष्टि" की व्याख्या का प्रतिपादन करें । "शून्य से" का अर्थ ऐसा नहीं हो सकता है कि किसी निराकार, अव्यक्त, भौतिक पदार्थ से सृष्टि उत्पन्न होती, बल्कि सृष्ट होने वाले तत्त्वों के पूर्वाभाव में ही उन्हें सृष्टिकर्त्ता की ओर से अस्तित्व प्राप्त हुआ । "शून्य से" का तात्पर्य यह भी हो सकता है कि अव्यक्त तत्त्वों की अभिव्यक्ति हुई । इसी अर्थ में उपर्युक्त कथन स्वीकार्य है : अर्थात् सृष्टिकर्त्ता सृष्टि में शाब्दिक अर्थ में सृष्ट नहीं, बल्कि व्यक्त मात्र हो जाता है । संक्षेप में सृष्टि, सृष्टिकर्त्ता का आविर्भाव ही है । एरिउजेना के सृष्टिवाद-संबंधी एक दूसरे सूक्ष्म कथन के अनुसार सृष्टिकर्त्ता के "बाहर" कोई तत्त्व सृष्ट नहीं किया जाता है । इसका तात्पर्य यह तो नहीं कि सृष्टि परमेश्वर का अंश ही होती है ; एरिउजेना के विचार में सृष्ट और असृष्ट वर्गों का प्रभेद स्पष्ट रूप से बना रहता है । उपर्युक्त कथन में "बाहर" का कोई भौतिक अर्थ नहीं है; अतः इसका तात्पर्य यह है कि जब तक सृष्टिकार्य जारी रहता है, तब तक सृष्टि भी बनी रहती है । सृष्टिकर्त्ता के "बाहर" से बढ़कर यह कहना उपयुक्त होगा कि उसके अभाव में सृष्टि नहीं बनी रह सकती है । परमेश्वर के प्रसंग मे "क्रिया" शब्द को अस्वीकार करने के फलस्वरूप एरिउजेना को यह कहना पड़ा कि परमेश्वर ही सृष्टि का सारतत्त्व है; फलतः सृष्टि किसी प्रकार से आधारस्वरूप परमेश्वर "बाहर" अर्थात् वियुक्त, नहीं हो सकती है ।

जिस प्रकार नव-अफलातूनवाद का प्रभाव प्रसरण-सिद्धांत में स्पष्ट है, उसी प्रकार प्रलय के विषय में भी । सृष्टि तत्त्वों की इस प्रतिलोम गति के फलस्वरूप परमेश्वर न केवल सृष्टि का आदि है, बल्कि उसका अंत भी है । मध्यावस्था में

4, कॉपलस्टन में "प्रकृति-वर्गीकरण" (3,4) से उद्धृत ।

संपूर्ण सृष्टि की प्रवृत्ति अपने मूलकारण की ओर है एरिउजेना इस बात पर बल देते हैं कि ईश-प्राप्ति में भी मानव का अस्तित्त्व पृथक् बना रहता है, जैसे—ज्वाला में लोहे का पिंड। इससे स्पष्ट है कि उनके दर्शन में सृष्ट एवं असृष्ट का प्रभेद मूल-भूत ही है। अंत-स्वरूप परमेश्वर तो चौथे वर्ग का तत्त्व होकर पहले वर्ग के आदि-स्वरूप परमेश्वर के सदृश असृष्ट ही है। इसके विपरीत वह सृष्टि करने वाला तत्त्व नहीं है, यद्यपि सृष्टिकर्त्ता से अभिन्न है। पहले और चौथे वर्ग का तत्त्व तो एक ही परमेश्वर है।

(ख) संत अंसेल्म (1033–1109)

कहा जा सकता है कि इस विचारक से सही अर्थ में स्कोलावाद प्रारंभ हुआ। उनका जन्म इटली में हुआ था, बाद में वह संत बेनेदिक्त धर्म-संघ[5] के मठाध्यक्ष और इंगलैंड में कैंटर्बरी के महाधर्माध्यक्ष बने। ध्यान देने योग्य बात है कि मध्ययुगीन सांस्कृतिक विकास को धर्मसंघों की ओर से बहुत योगदान मिला। धर्मशास्त्र और दर्शनशास्त्र के पारस्परिक संबंध के विषय में संत अंसेल्म का विचार उल्लेखनीय है। इस संदर्भ में उनका यह कथन काफी प्रसिद्ध है, : "मैं इस उद्देश्य से ज्ञान की प्राप्ति नहीं करना चाहता हूं कि मैं विश्वास कर सकूं; बल्कि मैं इसलिए विश्वास करता हूं कि मैं ज्ञान भी प्राप्त कर सकूं"[6]। अंसेल्म के दृष्टिकोण से धर्म दर्शन के लिए बाधा नहीं हो सकता है; इसके विपरीत दार्शनिक अनुसंधान को धार्मिक विश्वास से ही प्रोत्साहन मिलता है। फिर, बुद्धि की अपेक्षा विश्वास को प्राथमिकता मिलती है। कारण, जबकि बौद्धिक ज्ञान विश्वास प्राप्त करने का आधार नहीं हो सकता है, विश्वास के प्रभाव से बुद्धि और दूरदर्शी बन जाती है। इस दृष्टिकोण के अनुसार अंसेल्म धर्मशास्त्र और दर्शनशास्त्र की पृथक्ता भी स्थापित कर सकते हैं। जिस ज्ञान की प्राप्ति बुद्धि से ही हो सकती है, वह दर्शन का क्षेत्र है; इसके विपरीत जो ज्ञान बुद्धि की क्षमता से परे है, वह विश्वास का विषय होकर धर्मशास्त्र का क्षेत्र है। लेकिन, रहस्यमय होते हुए भी धर्मसिद्धांत बुद्धिविरोधी नहीं हैं। वास्तव में अंसेल्म के अनुसार यथासंभव धर्मसिद्धान्तों का बौद्धिक ज्ञान प्राप्त करना विश्वासी का कर्त्तव्य है, यद्यपि अंततः उनके मर्म का बुद्धि-विवेक से परे रहना अनिवार्य है।

उपर्युक्त प्रभेद के बल पर संत अंसेल्म को धर्मशास्त्र से पृथक् दार्शनिक ईश-शास्त्र का प्रवर्तक माना जा सकता है। ईश्वर के अस्तित्व की सिद्धि के लिए उन्होंने दो प्रकार के प्रमाण प्रस्तुत किये हैं। इनमें से पहला "एकालाप"[7] नामक

---

5. मध्ययुगीन धर्मसंघों के नाम उनके भिन्न-भिन्न प्रवर्त्तकों के अनुसार रखे जाते हैं, जैसे संत बेनेदिक्त, संत फ्रांसिस, संत दोमिनिक।
6. कॉपलस्टन में "अभिवादन" ग्रंथ से उद्धृत :
7. **Monologium.**

रचना में मिलता है, जिसमें विचारक मानो अपने आपसे विचार-विमर्श करता है। उसका तर्क इस प्रकार है : हम भिन्न-भिन्न तत्त्वों की कम या अधिक श्रेष्ठता के विषय में निर्णय किया करते हैं। इसके अनुसार शुभ या प्रज्ञा जैसी विशेषताओं का सोपान भी स्थापित किया जा सकता है। इस सोपान में एक परम शुभ या प्रज्ञा का होना भी आवश्यक है। फिर, इस उत्तम तत्त्व का अस्तित्त्व इससे प्रमाणित है कि अवर विशेषताएं उसी की सहभागी होती हैं। यहां हम तर्कसंगति का प्रश्न छोड़कर सिर्फ तत्त्व सोपान और परम तत्त्व में सहभागिता के सिद्धांतों में अपलातून-वाद के प्रभाव पर पाठक का ध्यान आकर्षित करना चाहते हैं।

पूर्वोक्त प्रमाण कार्य-कारण न्याय पर निर्भर होकर अनुभवोत्तर कहा जा सकता है; इसके विपरीत निम्नलिखित प्रमाण प्रागनुभव ही है। वह "अभिवादन"[8] नामक रचना में मिलता है, जिसमें अंसेलम परमेश्वर को संबोधित करते हुए अपने विचार का प्रतिपादन करते हैं। "परमेश्वर" प्रत्यय एक ऐसे तत्त्व की धारणा है जिससे महान् और किसी तत्त्व की धारणा नहीं की जा सकती है। फिर, परमेश्वर यदि वास्तव में अस्तित्त्व नहीं रखता, तो उससे महान् एक और तत्त्व की धारणा की जा सकती थी, अर्थात् एक ऐसे तत्त्व की जो कल्पित परमेश्वर के बिलकुल सदृश होने के अतिरिक्त उसके विपरीत वास्तविक भी हो। वास्तव में अस्तित्व रखना तो विचार में ही उपलब्ध होने से महत्त्व का है। फलतः यदि उपर्युक्त परमेश्वर की धारणा सही है, तो परमेश्वर का अस्तित्व भी है। अंसेलम के जीवन-काल से ही उनके प्रमाण की आलोचना की गई। उनके सह-मठवासी गौनीलो ने यह आपत्ति उठायी, अर्थात् सर्वश्रेष्ठ द्वीप की कल्पना मात्र से यह निष्कर्ष नहीं निकलता है कि इसका वास्तविक अस्तित्व भी है। इसके खंडन के रूप में अंसेलम ठीक ही दोनों धारणाओं की भिन्नता स्पष्ट करते हैं। द्वीप-धारणा के विपरीत ईश-धारणा में ही अस्तित्व का लक्षण निहित है। कारण, परमेश्वर में विशेषताओं की संपूर्णता विद्यमान होने के फलस्वरूप उसमें अास्तित्ब भी उपलब्ध होना आवश्यक है। बाद में संत थोमस अंसेल्म का प्रमाण इसलिए अस्वीकार करते हैं क्योंकि मात्र मानसिक धारणा से तत्त्व की वास्तविकता का अनुमान नहीं किया जा सकता है। फिर भी, संत अंसेल्म का प्रमाण देकार्त और लाइबनित्स तक प्रभावशील बना रहा। आज तक कांत की आलोचना के बावजूद भी इसका बौद्धिकवादी मन पर आकर्षण समाप्त नहीं हुआ।

II. तेरहवीं शताब्दी का स्कोलावादी दर्शन

क–संत बोनावेंतूरा (1221–1274) :

स्कोलावाद के स्वर्णयुग के पहले महान् प्रतिनिधि संत बोनावेंतूरा थे।

---

8. **Proslogium.**

उनका जन्म इटली में हुआ था; संत फ्रांसिस के धर्मसंघ के सदस्य होकर वे बाद में इसके परमाध्यक्ष भी बने। उस युग में पैरिस या ऑक्सफर्ड जैसे महान् विश्व-विद्यालयों का उदय हुआ। जिस समय बोनावेंतूरा पैरिस में प्राध्यापक थे, वहां के धर्मशास्त्र-विभाग में नव-आविष्कृत अरस्तू-वाद प्रभावशील होने लगा। औगुस्तीनी परंपरा के अनुयायी होकर संत बोनावेंतूरा ने इस "नवीन" दर्शन का विरोध किया, साथ ही इसके अनेक सिद्धांत भी स्वीकार किये। उनकी रचनाएं मुख्यतः धर्मशास्त्र और रहस्यवाद से संबंधित हैं, जैसे "मानस का परमेश्वर की ओर यात्रामार्ग।" फिर भी, इनमें दार्शनिक चिंतन भी मिलता है। बोनावेंतूरा धर्म और दर्शन शास्त्र का प्रभेद स्वीकार करते हैं, भिन्न-भिन्न प्रणाली और विषय-वस्तु के दृष्टिकोण से। दर्शन-शास्त्र की पृथक्ता के बावजूद बोनावेंतूरा इसे धर्म-शास्त्र के अभाव में न तो केवल अपूर्ण, अपितु भ्रमात्मक भी मानते हैं। उदाहरणार्थ, दार्शनिक यद्यपि परमेश्वर की एकता सिद्ध कर सकता है, लेकिन त्रियेक परमेश्वर के विषय में अनभिज्ञ ही है। धर्म के प्रभाव से ही दार्शनिक को संपूर्ण सत्य प्राप्त करने की क्षमता मिलती है। विश्वास का बुद्धि पर यह प्रभाव किस प्रकार होता है ? किसी प्रमाण के अभाव में भी मात्र विश्वास के बल पर बुद्धि सत्य को स्वीकार कर सकती है। फिर, विश्वास के प्रबोधन से बुद्धि भ्रम से भी दूर रहेगी। किन्तु शुद्ध बौद्धिक तर्क में धर्म-सिद्धांत का हस्तक्षेप होना अनुचित है। धर्म और दर्शन का उपर्युक्त प्रभेद करने पर भी बोनावेंतूरा अपने दर्शन को धर्मशास्त्रीय परिदृश्य में प्रस्तुत कर मुख्यतः एक धर्मशास्त्री हैं।

ईश-शास्त्र और सृष्टिवाद।

बोनावेंतूरा से प्रस्तुत ईशास्तित्व के प्रमाण अनुमान-स्वरूप हैं। उनकी दृष्टि से पराधीन तत्त्व किसी स्वाधीन तत्त्व की ओर संकेत करता है, या विकारी तत्त्व निर्विकार की ओर। फिर, ऐसे तत्त्व से जिसके लिए आस्तित्त्व रखना संभव मात्र है, एक ऐसे तत्त्व का अनुमान किया जा सकता है जिसके लिए आस्तित्व रखना आवश्यक ही है। बोनावेंतूरा के पूर्वोक्त प्रमाणों में शब्दावली तक अरस्तू का प्रभाव प्रत्यक्ष है। भौतिक जगत् पर आश्रित इस तर्क की अपेक्षा आत्मज्ञान से प्रमाण महत्त्व का है। इस संदर्भ में बोनावेंतूरा दो बातों का दावा करते हैं पहली, परमेश्वर की धारणा सब मनुष्यों को जन्मसिद्ध होने के फलस्वरूप एक असंदिग्ध प्रत्यय ही है। फिर भी, यदि वास्तव में ईश-धारणा असंदिग्ध होती, तो नास्तिक ईश्वर को कैसे अस्वीकार कर सकता है ? बोनावेंतूरा का उत्तर इस प्रकार है : ईश-धारणा सभी को व्यक्त रूप से ज्ञात नहीं, बल्कि मात्र अव्यक्त रूप से। उनका दूसरा सिद्धांत यह है कि इस अव्यक्त ज्ञान की अभिव्यक्ति आत्मा पर चिंतन से ही, बिना बाहरी तत्त्वों पर विचार किए, पैदा की जा सकती है। इसलिए सब मनुष्यों को ईश-ज्ञान प्राप्य है। आत्म-ज्ञान से ईश-ज्ञान की उत्पत्ति संभव होना इस प्रकार सिद्ध किया जाता है : अपने स्वभाव से प्रेरित होकर मानव परम आनंद को प्राप्त

करने की अभिलाषा करता है। फिर, अभिलाषा की क्रिया में इसके विषय का ज्ञान भी निहित है। कारण विषय-ज्ञान के अभाव में इसकी अभिलाषा भी नहीं हो सकती। फलतः अपनी स्वाभाविक प्रवृत्ति पर चिंतन करने से ही मानव को इसके विषय का, अर्थात् परमेश्वर का, ज्ञान भी प्राप्त होगा। फिर, आत्मज्ञान इस बात पर निर्भर है कि आत्मा स्वभाव से बोधगम्य भी है और अपने आप में अंतर्यामी भी। इसके अतिरिक्त परमेश्वर न केवल अधिक बोधगम्य है, अपितु मानव आत्मा में भी है और घनिष्ठ रूप से अंतर्यामी हैं। फलतः अपने आप पर चिंतन करने के परिणामस्वरूप आत्मा को ईश-ज्ञान प्राप्त होना आवश्यक है।

सृष्टिवाद के संदर्भ में स्कोलावादियों के बीच यह समस्या छिड़ गई कि सृष्टि अनादि काल से है या बाइबिल-कथन के अनुसार सृष्टि से ही कालगणना प्रारम्भ हुई? बोनावेंतूरा के मतानुसार विश्व का अनादि कालक्रम से अस्तित्व रखना पूर्णतया असंभव है। कारण, कालक्रम यदि आदि छोर से असीम होता, तो प्रतिदिन इस असीम क्रम से और कुछ समय जोड़ा जाता। परंतु असीम तत्त्व को बढ़ाना असंभव ही है। फलतः अनादि काल से सृष्टि नहीं हुई। फिर, अनंत कालक्रम को पार करना असंभव भी है। सृष्टि यदि अनादि काल से होती, तो आज तक कैसे पहुंच सकती? इसके लिए सृष्टि को एक असीम कालक्रम पार करना पड़ता। संत बोनावेंतूरा के विपरीत संत थोमस मानते थे कि अनादि काल से सृष्टि हुई, दर्शन मात्र के आधार पर इसका खंडन नहीं किया जा सकता है। उन्होंने किस प्रकार अनादि काल सिद्धांत और सृष्टिवाद का समन्वय किया, उसे बाद में स्पष्ट किया जाएगा। इनके विरुद्ध बोनाबेंतूरा ने "अनादि सृष्टि" को एक स्वेतः विरोधी धारणा मानकर इस प्रकार इसका खंडन किया। सृष्टि की उत्पत्ति "शून्य से" हुई। फिर, बोनावेंतूरा के अनुसार, "शून्य से" की व्याख्या है। शून्य की अवस्था के पश्चात्। फलतः, यदि सृष्टि के पहले शून्य ही था, तो स्पष्टतः अनादि काल से सृष्टि नहीं हुई। अब इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि बोनावेंतूरा के समान "शून्य से" की कालिक अर्थ में व्याख्या करना अनिवार्य नहीं है।

तत्त्वमीमांसा और ज्ञानशास्त्र

अरस्तूवाद का विरोध करने पर भी बोनावेंतूरा ने उसमें प्रचलित इस सिद्धांत को अपनाया जिसके अनुसार तत्त्वों का ढांचा दो अवयवों से निमित्त है, आकार और उपादान से। थोमसवाद के विपरीत बोनावेंतूरा आकार-उपादान का सिद्धांत न तो केवल भौतिक तत्त्वों में, बल्कि आध्यात्मिक तत्त्वों में भी प्रयोज्य मानते हैं। तदनुसार आकार-अवयव दो प्रकार का हो सकता है: प्रथमोक्त तत्त्वों का भौतिक आकार होता है, उतरोक्तों का आध्यात्मिक। उपादान-अवयव भी भिन्न-भिन्न है। भौतिक आकार का उपादान इसमें तात्त्विक विकार का आधार है; आध्यात्मिक आकार में उपादान ऐसे विकार का कारण नहीं हो सकता है। दोनों का उपादान इस पहलू से अभिन्न है कि उपादान और आकार के संयोग से ही एक

वास्तविक तत्त्व उत्पन्न होता है। इसके विपरीत पृथक्-पृथक् अवयवों की स्थिति में आकार या उपादान को वास्तविक तत्त्व नहीं माना जा सकता है। तथाकथित "व्यष्टि-करण" समस्या का बोनावेंतूरा को अपना समाधान भी है। प्रश्न है किस अवयव के आधार पर एक ही जाति के भिन्न-भिन्न व्यष्टि हो सकते हैं? तत्त्व के उपादान से व्यष्टिकरण नहीं हो सकता है : सब तत्त्वों में तो उपादान अभिन्न ही है; फलतः वह व्यष्टि-भेद का कारण नहीं हो सकता है। (कहने का तात्पर्य है कि भौतिक तत्त्वों में उपादान एक ही प्रकार का है, आध्यात्मिक तत्त्वों में एक दूसरे प्रकार का; फिर, सहजातिक तत्त्व या तो भौतिक या आध्यात्मिक जाति के व्यष्टि हैं)। दूसरी ओर से आकार भी व्यष्टि-प्रभेद का कारण नहीं हो सकता है। आकार के प्रभाव से तो इसी आकार की जाति के अभिन्न तत्त्व उत्पन्न होते हैं। सहजातिक तत्त्वों का आकार, एक ही प्रकार का होकर, इसी जाति के भिन्न-भिन्न व्यष्टियों का कारण नहीं हो सकता है। बोनावेंतूरा से प्रस्तुत इस संदेह का समाधान यह है कि न तो पृथक् उपादान से, न पृथक् आकार से भी, बल्कि दोनों के संयोग से ही एक ही जाति के भिन्न-भिन्न व्यष्टियों की उत्पत्ति होती है। इसके विपरीत संत थौमस का मत था कि उपादान से ही व्यष्टिकरण होता है।

मानव तत्त्व में आत्मा शरीर का आकार-अवयव मानी जाती है; आत्मा-स्वरूप आकार के अतिरिक्त शरीर उपादान-अवयव से भी बना हुआ है। दूसरी ओर शरीर का आकार-स्वरूप आत्मा स्वयं ही अपने आकार और उपादान अवयवों से संश्लिष्ट है। फलतः मानव तत्त्व में दो आकार विद्यमान हैं: आत्मा—स्वरूप शरीर का आकार और आत्मा का अपना आकार। अनेक आकार के इस सिद्धांत के विपरीत संत थोमस एक तत्त्व में केवल एक आकार को ही मानते हैं। कारण, दुगुने आकार (और दुगुने उपादान) से ऐसा लगता है कि तत्त्व की एकता भंग की जाती है। बोनावेंतूरा के दृष्टिकोण से आत्मा की अमरता सहज ही बोधगम्य है। यदि शरीर के अतिरिक्त आत्मा का अपना आकार और उपादान है, तो वह शरीर के अभाव में भी पृथक् तत्त्व के रूप में बनी रह सकती है। इस मात्र आध्यात्मिक अमरता के अतिरिक्त शारीरिक पुनरुत्थान की व्याख्या भी बोनावेंतूरा के अनुसार इससे मिलती है कि आत्मा में शरीर का आकार होने की प्रवृत्ति निहित है। इसके फलस्वरूप मरणशील शरीर को त्याग देने के पश्चात् अमर आत्मा की अभिलाषा पुनर्जीवित शरीर पुनः प्राप्त करने की होगी। इस प्रकार का तर्क धर्मशास्त्र में दर्शन का प्रयोग करने का एक कमजोर-सा उदाहरण है। आत्मा की अमरता सिद्ध करने के लिए बोनावेंतूरा यह प्रमाण भी प्रस्तुत करते हैं। आत्मा को परम आनंद प्राप्त करने की स्वाभाविक अभिलाषा है; फिर, जब तक मृत्यु की आशंका रहे, शुद्ध आनंद असंभव होगा; इसलिए आत्मा का स्वभावतः अमर होना अनिवार्य है।

ज्ञानशास्त्र के संदर्भ में बोनावेंतूरा पर अरस्तूवाद का प्रभाव स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ता है। इसके अनुसार भौतिक विषयों के इंद्रियों पर प्रभाव के फलस्वरूप

इनमें विषय की भौतिक प्रतिमा उत्पन्न होती है। फिर, उत्तरोक्त के चेतना की क्षमता पर प्रभाव के फलस्वरूप विषय का प्रत्यक्ष ज्ञान पैदा होता है। अंत में, बुद्धि से अमूर्तीकरण के फलस्वरूप सामान्य प्रत्ययों का बौद्धिक ज्ञान प्राप्त होता है। शुद्ध दर्शनशास्त्र को अपूर्ण मानकर बोनावेंतूरा उपर्युक्त सिद्धांत को यह कहकर पूर्ण करते हैं कि सृष्टिकर्त्ता की अंतर्यामिता के फलस्वरूप इंद्रिय-विषय सांसारिक ज्ञान के विषय मात्र नहीं हैं, वे परमेश्वर की ओर संकेत भी करते हैं। फिर, बोनावेंतूरा अरस्तू के ज्ञानशास्त्र से औगुस्तीन का प्रबोधन-सिद्धांत संयुक्त करते हैं। निर्विकार विषय और भ्रमातीत बुद्धि की अनुपस्थिति में नित्य सत्य की प्राप्ति नहीं हो सकती है। फिर भी, प्रबोधन के परिणामस्वरूप विषय अपने मूलकारण, अर्थात् निर्विकार परमेश्वर के संबंध में दिखाई पड़ता है, और बुद्धि को नित्य सत्य प्राप्त करने की क्षमता भी मिलती है।

ख–अक्वीनो के संत थोमस (1224 या 1274)

संत थोमस की चर्चा करने के पहले उनके गुरु, संत अलबर्ट महान् (1206–1280) के विषय में कुछ कहना अनुचित नहीं होगा। वह जन्म से जर्मनी थे। फिर वह पैरिस-विश्वविद्यालय में प्राध्यापक होकर थोमस के शिक्षक बने। दोनों संत दोमिनिक धर्म-संघ के सदस्य थे। गुरु का देहांत चेले के पश्चात् ही हुआ। स्कोलावाद में अरस्तू-दर्शन का अंगीकरण अल्बर्ट महान् से प्रारंभ हुआ। अरस्तूवादी स्कोलावाद का विस्तार करने वाले संत थोमस ही थे। अपने धर्मशास्त्रीय और दार्शनिक लेखों के अतिरिक्त अल्बर्ट ने भौतिक जगत् के संबंध में भी अनेक ग्रंथ लिखे, जैसे "जीवजन्तुओं के विषय में ग्रंथ", "वनस्पति संबंधी ग्रंथ।" वह धर्म और दर्शनशास्त्र के प्रभेद पर बल दिया करते थे। उनकी मान्यता थी कि ईशशास्त्र धर्मशास्त्र की भी और दर्शनशास्त्र की भी शाखा हो सकता है। धर्मशास्त्रीय संदर्भ में उसके प्रयोग के अतिरिक्त वह दर्शनशास्त्र के स्वतंत्र अनुशीलन को भी महत्त्व की बात मानते थे।

संत थोमस का जन्म इटली में हुआ था। अपने जीवनकाल में वह क्रमश: पैरिस, रोम और फिर पैरिस में प्राध्यापक थे। उन्हें ईसाई दर्शन का महान् आचार्य माना जाता है; विद्वान् होने के अतिरिक्त वह रहस्यवादी भी थे। उन्होंने बाइबिल-ग्रंथ और अरस्तू की रचनाओं, दोनों पर भाष्य लिखे। उनके शुद्ध दार्शनिक प्रबन्धों में निम्नलिखित विख्यात हैं: "सत्ता और स्वभाव", "सत्य", "आत्मा" और "अशुभ" विषयक भिन्न-भिन्न ग्रंथ। उनकी सब से प्रसिद्ध रचना "धर्मशास्त्र सारांश" है[9]; इसमें सम्पूर्ण दर्शनशास्त्र की समस्याएं भी उठाई गई हैं। थोमसवाद के मुख्य सिद्धान्तों का प्रतिपादन करने के पहले यहाँ हम उसके सामान्य लक्षणों का वर्णन करेंगे।

---

9. लातीनी शीर्षक : **Summa Theologica.**

थोमसवाद के सामान्य लक्षण

थोमसवादी दर्शन की जितनी सुव्यवस्थित संरचना की गई, परवर्ती दर्शनों में से किसी का भी उतना सुसंगत ढांचा नहीं बना था। यह सच है कि इसमें भी दर्शनशास्त्र का धर्मशास्त्र से पृथक् प्रतिपादन नहीं किया गया है; फिर भी उसका निर्माण बौद्धिक आधार पर ही किया गया है। थोमसवादी दर्शन की विशेषता को यदि हम अभिव्यक्त करना चाहे, तो उसे "सत्ता-वाद" कहा जा सकता है, अर्थात् साधारण यथार्थवाद की अपेक्षा उसका अस्तित्व की समस्या से ही सम्बन्ध है। सत्तावाद की विशेषता पूर्ववर्ती दर्शनों की तुलना में स्पष्ट की जा सकती है। अफ्लातूनवादी आदर्श-प्रत्ययों से सम्बन्धित होकर तत्त्वों के स्वभाव पर ही, उनकी वास्तविकता पर नहीं, चिंतन करता था। उसके प्रत्ययवाद का विरोध करते हुए भी, अरस्तू का यथार्थवाद भौतिक जगत् की उत्पत्ति, व्यवस्था और विकास मात्र की चर्चा कर अस्तित्व-समस्या तक नहीं पहुंच सका। यह संत थोमस का गौरव है कि उन्होंने पश्चिम दर्शनशास्त्र के इतिहास में सब से पहले अस्तित्व का प्रश्न उठाकर उसका समाधान भी किया : सत्ता में उनकी सहभागिता का सिद्धान्त सृष्ट तत्त्वों के अस्तित्व को समझाता है; उसके विपरीत सृष्टिकर्ता को स्वभाव से ही सत् प्राप्त है।

अपने गुरु अल्बर्ट महान् के समान संत थोमस भी धर्म और दर्शन-शास्त्र के प्रभेद पर बल देते हैं। दर्शनशास्त्र में उसी को सत्य माना जाता है जिसकी प्राप्ति बौद्धिक तर्क के फलस्वरूप हुई; इसके विपरीत धर्मशास्त्र सत्य का बौद्धिक स्पष्टीकरण मात्र देकर, उसकी प्राप्ति नहीं कर सकता है, क्योंकि धर्मशास्त्र में सत्य का स्रोत प्रकाशना है, उसे विश्वास द्वारा ही ग्रहण किया जाता है। फिर भी अनेक सत्य बुद्धि और विश्वास से भी प्राप्त किये जा सकते हैं। उदाहरणार्थ, परमेश्वर का अस्तित्व यद्यपि बौद्धिक अन्वेषण का परिणाम हो सकता है, तथापि प्रकाशना का विषय भी माना गया है; कारण, परमेश्वर मानव का अंतिम लक्ष्य है, और लक्ष्य-सम्बन्धी ज्ञान के अभाव में उसकी प्राप्ति नहीं हो सकती है। वस्तुतः परमेश्वर का अस्तित्व बोधगम्य ही है। फिर भी, जन्मसिद्ध दुर्बलता के कारण मानव बुद्धि भ्रमशील है। फलतः अंतिम लक्ष्य की प्राप्ति निश्चित करने के लिए परमेश्वर ने अपने अस्तित्व को, बौद्धिक अन्वेषण के विषय के अतिरिक्त, प्रकाशना का विषय भी बनाया। इसलिए ईश-अस्तित्व धर्मशास्त्र और दर्शनशास्त्र, दोनों का विषय हो सकता है। दर्शनशास्त्र इस सीमा तक स्वतन्त्र है कि बुद्धि प्रकाशना के अभाव में भी सत्य की प्राप्ति कर सकती है। अरस्तूवाद के अभिग्रहण के कारण संत थोमस ने दर्शनशास्त्र की प्रामाणिकता के विषय में अपनी दृढ़ धारणा स्पष्ट की है। फिर भी, प्रकाशना के अभाव में त्रियेक परमेश्वर जैसे अनेक सत्यों को प्राप्त करने के लिए मानव बुद्धि की अपर्याप्तता के कारण संत थोमस धर्मशास्त्र से दर्शनशास्त्र को गौण ही समझते हैं।

जिस प्रकार संत औगुस्तीन ने अफ्लातूनवाद और ईसाई दर्शन का समन्वय किया था, उसी प्रकार संत थोमस ने अरस्तूवाद और ईसाई दृष्टिकोण का सामंजस्य स्थापित किया। संत थोमस ने अरस्तूवाद को इसलिए स्वीकार किया कि वह उन्हें एक तर्कसंगत दर्शन लगता था। उसे अपनाकर उन्होंने अरस्तूवाद का विस्तार भी किया और उसे ईसाई परिप्रेक्ष्य के अनुकूल बनाया। इस बात को अनेक उदाहरणों द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है। "अंतःशक्ति" का सिद्धान्त अरस्तू का एक प्रसिद्ध आविष्कार था, जिसकी सहायता से वह पारमेनिदेस द्वारा प्रस्तुत सत्-असत् की समस्या हल कर सके थे। अरस्तू से प्राप्त आकार-उपादान के संदर्भ के अतिरिक्त संत थोमस ने अंतःशक्ति का प्रयोग अपने 'सत्ता-स्वभाव' सिद्धान्त के विषय में भी किया। फिर, अरस्तू तथाकथित "निवृत्त प्रवर्त्तक"[9ए] या "अचल चालक" को परिवर्तनीय तत्त्वों का उद्देश्य-कारण मात्र मानते थे। सृष्टिवाद के संदर्भ में इस धारणा को स्वीकार कर संत थोमस ने निवृत्त प्रवर्त्तक को सृष्टि के निमित्त कारण के रूप में भी प्रस्तुत किया। फिर, धर्मशास्त्रीय संदर्भ में अरस्तूवादी सिद्धान्त का प्रयोग पुनरुत्थान के विषय में भी मिलता है। अरस्तू के अनुसार यदि आत्मा को शरीर का आकार-अवयव माना जा सकता है, तो आत्मा की अमरता में शरीर का पुनरुत्थान भी निहित है : अमर आत्मा पुनर्जीवित शरीर के अभाव में एक अपूर्ण तत्त्व ही रहेगी।

ईसाई दर्शन ने पुनः आविष्कृत अरस्तूवाद पर इस प्रकार अपना प्रभाव अवश्य ही डाला; इसके विपरीत अरस्तूवाद से ईसाई दर्शन भी प्रभावित हुआ। कारण, थोमसवादियों को यह स्वीकार करना पड़ा कि अरस्तूवाद जैसा शुद्ध बौद्धिक दर्शन धर्मशास्त्र के अभाव में भी पूर्णतया तर्कसंगत और सुव्यवस्थित दर्शन ही है। फलतः इससे यह निष्कर्ष निकालना अनिवार्य था कि दर्शनशास्त्र को धर्मशास्त्र से स्वतन्त्र होना चाहिए। संत थोमस ने यद्यपि अरस्तूवादी दर्शन और ईसाई धर्मशास्त्र मे सामंजस्य स्थापित किया, लेकिन उन्हीं से दर्शनशास्त्र और धर्मशास्त्र का पृथक्करण भी प्रारम्भ हुआ। संत थोमस से एक ऐसी प्रक्रिया शुरू हुई जिसकी समाप्ति आधुनिक काल के पूर्णतया स्वाधीन दर्शनशास्त्र में मिलती है। इस तरह अरस्तूवाद को अपनाने से संत थोमस अवश्य ही एक बौद्धिक दर्शन की स्थापना कर सके, लेकिन विचारणीय यह है कि थोमसवाद को **दर्शन** मानने के अतिरिक्त क्या उसे **ईसाई** दर्शन भी कहा जा सकता है? इस प्रश्न का उत्तर है ईसाई धर्म-सिद्धान्तों के अनुकूल होकर थोमसवाद दोनों है, बौद्धिक भी और ईसाई दृष्टिकोण को ग्राह्य भी। इस अर्थ में हम थोमसवाद को एक ईसाई दर्शन कह सकते हैं।

तत्त्व-मीमांसा

थोमसवाद निस्संदेह एक ईश-केन्द्रित दर्शन है; लेकिन ईश-अस्तित्व का

9ए. Unmoved Mover (of the World);

प्रमाण सृष्ट तत्वों पर आधारित होकर सामान्य तत्त्व-मीमांसा के सिद्धान्तों का प्रयोग करता है। फलतः ईश-शास्त्र के पहले थोमसवादी तत्त्वमीमांसा को प्रस्तुत करना उचित होगा। आइए, इसकी व्याख्या भौतिक तत्त्वों के अध्ययन से शुरू करें। यह प्रत्यक्षतः स्पष्ट है कि भौतिक तत्त्व परिवर्तनशील हैं; उदाहरणार्थ, पौधा बढ़ता है, गाड़ी चलती है, इत्यादि। यद्यपि इन उदाहरणों मे परिमाण या दिक् की दृष्टि से परिवर्तन है, तो भी एक पौधा ही बना रहता है या गाड़ी एक गाड़ी ही। इस अवलोकन के आधार पर भौतिक तत्त्व में द्रव्य और गुणों का प्रभेद करना पड़ता है : पहला निर्विकार, दूसरे परिवर्तनशील दिखाई पड़ते है। अरस्तू के दश-वर्ग सिद्धान्त के अनुसार संत थोमस एक द्रव्य के अतिरिक्त नौ गुणों को स्वीकार करते हैं। पूर्वोक्त गुण-परिवर्तन के सिवाय स्वयं द्रव्य का परिवर्तन भी हो सकता है। जब किसी प्राणी की मृत्यु होती है, तो जीव अपने विरोधी, अर्थात् निर्जीव तत्त्व में बदलता है। फिर भी इन दोनों का एक सामान्य अवयव भी होना आवश्यक है, क्योंकि निर्जीव तत्त्व जीव का ही दूसरा रूप प्रतीत होता है, इससे बिलकुल पृथक् तत्त्व नहीं कहा जा सकता। जो कुत्ता जीवित था, **वही** कुत्ता मृत है। जो अवयव इस परिवर्तन की दो अवस्थाओं में अभिन्न है, उसे "उपादान" कहा जाता है; जिस अवयव का परिवर्तन हुआ वह "आकार" कहलाता है। द्रव्य-परिवर्तन में एक ही उपादान भिन्न-भिन्न आकारों को प्राप्त करता है। स्वभाव से अनिर्धारित होकर उपादान निर्धारित आकार की प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील है। यही है अरस्तू द्वारा प्रतिपादित थोमसवाद का "आकार-उपादान" का सिद्धान्त।[10] ध्यान देने योग्य बात है कि आकार और उपादान स्वयं तत्त्व नहीं हैं, भौतिक तत्त्व के अवयव मात्र हैं। दूसरे शब्दों में वे पृथक्-पृथक् अस्तित्व नहीं रखते हैं; केवल इन दोनों के संयोग से ही संश्लिष्ट तत्त्व वास्तविक हो सकता है। इससे स्पष्ट है कि अरस्तू के समान संत थोमस भी अफलातूनी प्रत्ययवाद अस्वीकार करते हैं : पृथक् आदर्श होने के विपरीत आकार भौतिक तत्त्व में ही वास्तविक हो सकता है। उपादान के प्रभाव से तत्त्व का सामान्य आकार या स्वभाव व्यष्टिगत हो जाता है। इसलिए उपादान व्यष्टिकरण का आधार कहा जाता है।

उनके तत्त्वमीमांसात्मक ढांचे के आधार पर संत थोमस सम्पूर्ण तत्त्वों का निम्नलिखित सुव्यवस्थित तारतम्य को प्रस्तुत करते हैं। निम्नतम सोपान पर भौतिक तत्त्व मिलते हैं, जो भौतिक आकार और उपादान से संश्लिष्ट हैं। इन्हीं के समान मानव का उपादान अवयव भी है, लेकिन इनके विपरीत मानव आकार उसका आत्मिक तत्त्व ही है। मानव से उच्चतर श्रेणी का तत्त्व देवदूतों को माना जाता है : मानव के विपरीत उनका शुद्ध आत्मिक आकार भौतिक उपादान से कोई सम्बन्ध नहीं रखता है। सर्वोत्तम तत्त्व परमेश्वर ही है : शुद्ध आत्मा होकर वह

10. Hylomorphism या Matter-and-Form Theory

देवदूतों के विपरीत सृष्ट नहीं, असृष्टं सृष्टिकर्ता है । "स्वभाव-अस्तित्व"[11] प्रभेद के दृष्टिकोण से भी परमेश्वर सम्पूर्ण सृष्टि से भिन्न है । अस्तित्व-अवयव के अतिरिक्त सृष्ट तत्त्वों का स्वभाव-अवयव भी है । फिर, भौतिक तत्त्वों का स्वभाव स्वयं आकार और उपादान से संश्लिष्ट है । आत्मिक तत्त्वों का स्वभाव उनके आकार से अभिन्न है । परमेश्वर में सब प्रकार के संयोग का अभाव है : आत्मिक होने के कारण उसमें कोई उपादान नहीं हो सकता है; लेकिन इसके अतिरिक्त दिव्य स्वभाव भी अस्तित्व से अभिन्न है । दूसरे शब्दों मे, दिव्य स्वभाव में उसका अस्तित्व निहित है । अतः स्वभाव से ही परमेश्वर अस्तित्व रखता है; एक शब्द में, वह अनिवार्य रूप से अस्तित्व रखता है । निरपेक्ष तत्त्व के विपरीत अन्य संपूर्ण तत्त्वों का अस्तित्व सापेक्ष ही है : उन्हें अपने स्वभाव से नहीं, सृष्टिकर्त्ता से अस्तित्व मिलता है । आकार-उपादान और स्वभाव-अस्तित्व का संयोग, दोनों किसी तीसरे बिलकुल सामान्य अवयव-द्वैत का उदाहरण हैं; अर्थात् "अंतः शक्ति" और "सिद्धि"[12] का । इन दोनों का पारस्परिक संबंध क्रमशः ग्रहणशीलता या क्षमता और प्राप्ति या पूर्ति का है । संत थोमस की मौलिकता इसमें है कि उन्होंने इस अरस्तूवादी प्रभेद का अपने स्वभाव-अस्तित्व सिद्धांत के प्रसंग में प्रयोग किया है ।

ईश-शास्त्र

संत थोमस ईश-अस्तित्व को "पंच-मार्ग" प्रमाण द्वारा सिद्ध करते हैं । **पहला** मार्ग या प्रमाण परिवर्तन से प्रारंभ होता है, इसलिए एक प्रत्यक्ष-तथ्य पर निर्भर है । थोमसवादी तत्त्वमीमांसा के अनुसार परिवर्तन के फलस्वरूप जो तत्त्व "अंतःशक्ति" या संभावना मात्र की स्थिति में था, वही "सिद्धि" या वास्तविकता की प्राप्ति करता है; उदाहरणार्थ जिस बीज में विकसित होने की क्षमता थी, वह पौधा बन जाता है । फिर सिद्धांत के अनुसार अंतःशक्ति से सिद्धि की स्थिति केवल किसी दूसरे सिद्धि-प्राप्त कारण के प्रभाव से उत्पन्न हो सकती है । बीज के उदाहरण में पौधा सूर्य की ऊर्जा के प्रभाव से अंकुरित हो सकता है । अब, यदि इस कारण का भी परिवर्तन हुआ, तो परिवर्तन के दृष्टिकोण से वह स्वयं किसी और कारण का कार्य है । इस कारण, कार्यक्रम में अनवस्था नहीं हो सकती है । फलतः एक ऐसे कारण तक पहुंचना अनिवार्य है, जो स्वयं किसी कारण के अधीन नहीं हो । स्वयं अकारण होकर वह तत्त्व दूसरे तत्त्वों के परिवर्तन का मूल-कारण है । अरस्तू के अनुसार संत थोमस इस परमेश्वर-स्वरूप मूलकारण को "निवृत्त प्रवर्त्तक" कहते हैं । दूसरा प्रमाण पहले के सदृश है; इसका दृष्टिकोण निमित्त-कारण का है । कोई तत्त्व अपनी उत्पत्ति का कारण नहीं हो सकता है; नहीं तो कार्य के रूप में उत्पन्न होने के पहले ही वह कारण के रूप में अस्तित्व रखता । यदि कारण की

---

11. Essence and Existence.
12. Potency and Act.

भी उत्पत्ति हुई, तो फिर एक और कारण की आवश्यकता होगी। इस अनुक्रम में भी अनवस्था नहीं हो सकती है; इसलिए फिर एक अकारण मूलकारण पर पहुंचना है, जो परमेश्वर ही है। पहले और दूसरे प्रमाण के समान तीसरा भी किसी प्रत्यक्ष घटना से आरंभ होता है; अर्थात् भौतिक तत्त्वों की उत्पत्ति और उनका विनाश। इससे स्पष्ट है कि इस प्रकार के तत्त्व आवश्यक रूप से अस्तित्व नहीं रखते हैं, बल्कि सापेक्ष मात्र हैं। इसलिए, जो तत्त्व अस्तित्व के दृष्टिकोण से सापेक्ष हैं, वे अपने आप पर नहीं, किसी दूसरे तत्त्व पर निर्भर है। इस प्रकार अंत में एक निरपेक्ष तत्त्व को स्वीकार करना पड़ेगा, क्योंकि इस क्रमिक परतंत्रता की अनवस्था नहीं हो सकती है उल्लेखनीय बात है कि संत थोमस अनादि **कालिक** क्रम का निषेध नहीं करते हैं। लेकिन उनका दावा यह है कि सापेक्ष तत्त्वों का अनादि कालक्रम स्वयं ही सापेक्ष होगा, वह निरपेक्ष कभी नहीं हो सकता है। फलत: संपूर्ण सापेक्ष क्रम के लिए किसी निरपेक्ष तत्त्व की आवश्यकता होगी, जो निरपेक्ष होने के कारण सापेक्ष क्रम का पहला अवयब नहीं हो सकता है, बल्कि स्वयं क्रमातीत ही होगा।

चौथे प्रमाण के निर्माण के लिए संत थोमस अनेक अफ्लातूनी सिद्धांतों का प्रयोग करते हैं। प्रत्यक्षत: यह एक तथ्य है कि किसी भी गुण के उच्चतर और निम्नतर सोपान होते हैं। इस तथ्य पर हमारे तुलनात्मक निर्णय आधारित हैं, जैसे "यह फूल उससे अधिक या कम सुन्दर है"। गुणों का यह तारतम्य प्रत्येक गुण के वर्ग में किसी सर्वोत्तम सोपान की ओर संकेत करता है, जैसे सर्वश्रेष्ठ, सबसे सुन्दर, इत्यादि। फिर, अफ्लातूनी सिद्धांत के अनुसार भिन्न-भिन्न गुणों का सर्वोत्तम सोपान निम्नतर सोपानों का कारण या स्रोत माना जाता है। इसके अतिरिक्त सत्यम्, शिवम्, सुन्दरम् वस्तुत: गुणों का तादात्म्य है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि सब गुणों का उच्चतम स्रोत या कारण एक ही है, अर्थात् परमेश्वर। पांचवां प्रमाण परंपरागत सोद्देश्यता या आयोजन-युक्ति है। फिर यह अनुभव की बात है कि बुद्धि-रहित तत्त्व भी किसी उद्देश्य की प्राप्ति की ओर निर्दिष्ट प्रतीत होते हैं, लेकिन उद्देश्य-प्राप्ति की ओर निर्देशन में बुद्धि का प्रयोग निहित है। इसलिए एक ऐसे तत्त्व की आवश्यकता है, जो विश्व भर के सब तत्त्वों का नियंत्रण करता है। सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान होने के कारण वह नियंत्रण केवल परमेश्वर का ही हो सकता है। इन भिन्न-भिन्न परस्पर संपूरक मार्गों से संत थोमस ईश-अस्तित्व को प्रमाणित करते हैं।

थोमसवादी तत्वमीमांसा के अनुसार परमेश्वर में अस्तित्व और स्वभाव का तादात्म्य है, इसलिए ईश-अस्तित्व को प्रमाणित करने से हमें ईश-स्वभाव भी ज्ञात है। यह ईश-स्वभाव-विषयक सिद्धांत बाइबिल-कथन के अनुरूप है, अर्थात् "मैं (परमेश्वर) वही हूं"[13]। दूसरे शब्दों में ईश-तत्त्व की परिभाषा ईश-अस्तित्व में

13. निर्गमन-ग्रन्थ, 3. 14।

ही निहित है। क्या हम उसे अधिक स्पष्टता से निर्धारित कर सकते हैं? छद्म-दियोनिसियुस का निषेधात्मक मार्ग अपनाकर संत थोमस यह स्वीकार करते हैं कि "परमेश्वर क्या है"; इससे बढ़कर हमें यह मालूम है, कि "परमेश्वर क्या नहीं है"। ईश-स्वभाव के विषय में जो कथन भावात्मक प्रतीत होते हैं, वे वास्तव में निषेधात्मक ही हैं। उदाहरणार्थ, 'परमेश्वर एक है", इस कथन का तात्पर्य अनेकता का निषेध मात्र है। तिस पर भी, निषेध केवल अपूर्णता से संबंध रखता है। वास्तव में परमेश्वर के विषय में शरीरत्व का निषेध शरीरत्व की अपूर्णता के अभाव से बढ़कर इस तथ्य की अभिव्यक्ति है कि ईश-स्वभाव भौतिक स्वभाव से कहीं उच्चतर है। फिर, परमेश्वर के विषय में हमारी जानकारी निषेधात्मक विशेषताओं पर आश्रित है। इसके विपरीत सृष्ट तत्त्वों के विषय में हम अपने ज्ञान का भावात्मक विशेषताओं द्वारा स्पष्टीकरण करते हैं। उदाहरणार्थ, हम सामान्य प्राणी-प्रत्यय से बुद्धि की विशेषता को जोड़कर मानव की परिभाषा निर्मित्त करते हैं। अरस्तू से प्राप्त परम्परागत परिभाषा के अनुसार मानव "बुद्धि-सहित प्राणी" कहा जाता है।

निषेधात्मक मार्ग के अतिरिक्त संत थोमस भावात्मक मार्ग भी स्वीकार करते हैं। जब ',बुद्धिमान्", "शुभ" आदि प्रत्ययों का आरोपण परमेश्वर पर किया जाता है, तो इसका तात्पर्य निषेधात्मक मात्र नही है, मानों हम यह समझते कि परमेश्वर बुद्धि-रहित नहीं है, अशुभ नही है, बल्कि वास्तव में परमेश्वर को बुद्धि प्राप्त है, इत्यादि। यहां यह आपत्ति उठायी जा सकती है कि जिस विशेषता को सृष्ट तत्त्व पर आरोपित किया जाता है, उसका प्रयोग परमेश्वर के विषय में नहीं किया जा सकता है। संत थोमस का उत्तर यह है कि सृष्टिवाद के अनुसार सृष्ट तत्त्व सृष्टिकर्त्ता का प्रतिबिंब ही है। फलतः जो विशेषता सृष्ट तत्त्व की है, उसे सृष्टिकर्त्ता में भी विद्यमान होना आवश्यक है। इसलिए **भावात्मक** रूप से सृष्टि की विशेषताओं का सृष्टिकर्त्ता पर आरोपण किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त **निषेधात्मक** रूप से इन प्रत्ययों को इस अपूर्णता से वंचित करना पड़ेगा, जो सृष्ट विशेषता से संबंधित है।

अंत में परमेश्वर के विषय में शुद्ध विशेषता का विस्तार भी करना होगा, यह कहकर कि परमेश्वर उत्तम रूप से बुद्धिमान् या सर्वज्ञ है, इत्यादि। इसलिए ईश-स्वभाव संबंधी ज्ञान में ये तीन अवस्थाएं हैं, अर्थात् भावात्मक, निषेधात्मक और श्रेष्ठता-मूलक। इस परिप्रेक्षय में संत थोमस का "सादृश्य-सिद्धांत" सहज में बोधगम्य होगा। परमेश्वर के विषय में जिन प्रत्ययों का हम प्रयोग करते हैं, उनका तात्पर्य सृष्ट तत्त्वों पर आरोपण की तुलना में एकार्थक नहीं है: परमेश्वर को ठीक उसी प्रकार बुद्धिमान नहीं कहा जा सकता है जिस प्रकार मानव बुद्धिमान है। प्रत्यय का तात्पर्य द्वयर्थक भी नहीं है, वर्ना परमेश्वर और मानव के संदर्भ में "बुद्धिमान्" का तात्पर्य बिल्कुल भिन्न होता। न तो एकार्थक भी होकर इस प्रसंग में प्रत्यय "सदृश" होगा, अर्थात् परमेश्वर के विषय में इसका तात्पर्य पूर्ण रूप से

प्रयोज्य होगा, सृष्ट तत्त्वों के विषय में गौण या व्युत्पन्नार्थ के रूप में। कारण, यथार्थता की दृष्टि से जिस तत्त्व को प्रत्यय व्यक्त करता है, वह मुख्यतः सृष्टिकर्त्ता में, गौणतः सृष्टि में विद्यमान् है : परमेश्वर सभी तत्त्वों का स्रोत ही है। इसके विपरीत प्रत्यय की उत्पत्ति की दृष्टि से वह हमें पहले सृष्ट तत्त्वों से प्राप्त होता है, बाद में ही इसका आरोप परमेश्वर पर किया जाता है। कारण, सृष्टि के आधार पर ही हम ईश-स्वभाव का अनुमान कर सकते हैं, संसार की स्थिति में इसके साक्षात् दर्शन नहीं कर सकते हैं।

मानव-शास्त्र।

मानव ढांचे के विषय में भी संत थोमस आकार-उपादन के सामान्य सिद्धांत का प्रयोग करते हैं। इसके अनुसार मानव आत्मा को उसके भौतिक उपादान का आकार माना जाता है। इस प्रकार संत थोमस देहात्म-द्वैत को अस्वीकार कर मानव की एकता पर बल देते हैं। इसके अतिरिक्त वह शरीर से आत्मा के संयोजन को आत्मा-स्वभाव से असंगत नहीं मानते हैं, बल्कि शरीर को आत्मा का संपूरक मानते हैं। इतना ही नही, थोमसवाद की दृष्टि से आत्मा को बौद्धिक क्रियाओं के लिए भी शरीर की आवश्यकता है। उदाहरणार्थ, सामान्य प्रत्ययों की प्राप्ति के लिए ज्ञानेन्द्रियों का सहयोग अनिवार्य है। एक शब्द में आत्मा के सिवाय शरीर को भी मानव का अंगभूत अवयव माना जाता है। शरीर से संयोजन किसी अशुभ का फल नहीं, आत्मा की भलाई के निमित्त ही है। आकार-स्वरूप आत्मा संपूर्ण मनोवैज्ञानिक शक्तियों का आधार है। थोमसवाद के अनुसार शक्तियों की श्रेणी इस प्रकार है अचेतन या जैविक स्तर पर पोषण, वृद्धि और प्रजनन की शक्तियां मिलती हैं। संवेदन स्तर पर, पांच बाह्येंद्रियों के अतिरिक्त चार आंतर इंद्रियाँ भी हैं, अर्थात् अंतःकरण, जो इंद्रिय-दत्तों को एक कर देता है, कल्पना, स्मृति और (भौतिक अर्थ में) अनुमान या आकलन। फिर संवेदन के स्तर पर, गति और भौतिक प्रवृत्ति की शक्ति भी है। बौद्धिक स्तर पर बुद्धि और संकल्प मिलते हैं। ध्यान देने योग्य बात है कि जैविक और संवेदनशील शक्तियों के विपरीत, जो आत्मा को शरीर से संयोजन के परिणाम-स्वरूप ही प्राप्त हैं, बौद्धिकता और संकल्प आत्मा के आत्मिक स्वभाव में ही निहित हैं। फलतः उच्चतर स्तर की शक्तियां शारीरिक अंगों का प्रयोग करते हुए भी भौतिक अवयवों से स्वतन्त्र ही हैं।

यह देखकर कि आत्मा शरीर से कितना घनिष्ठ संबंध रखती है, हम आत्मा की अमरता के विषय में संदेह कर सकते हैं। क्या शरीर का नाश होने पर आत्मा का अस्तित्व बना रह सकता है ? आत्मा की अमरता को सिद्ध करने के लिए संत थोमस आत्मा की क्रिया से उसके अस्तित्व की शर्तों का अनुमान करते हैं। लेकिन यह स्पष्ट है कि बुद्धि और संकल्प की शक्तियां शारीरिक अंगों का प्रयोग करने पर भी, भौतिकता से स्वाधीन ही हैं : अमूर्त चिंतन इंद्रियों का अतिक्रमण करता है; संकल्प भौतिक परिस्थितियों से स्वतन्त्र है। इसलिए यदि आत्मा की क्रियाएं

भौतिकता से स्वाधीन हैं, तो आत्मा का स्वभाव भी अभौतिक होगा । अतः उसका अस्तित्व उसके शरीर से संयोग पर निर्भर नहीं हो सकता है । इसलिए शरीर के नष्ट होने के पश्चात् भी आत्मा का अस्तित्व बना रहेगा । संत थोमस द्वारा प्रस्तुत ज्ञान शास्त्र और नीतिशास्त्र का प्रतिपादन विस्तार से पुस्तक के दूसरे भाग में किया जाएगा । फिर भी संकल्प के विषय में यहां एक दो बातें कहना अनुचित नहीं होगा । संत थोमस के अनुसार सामान्य रूप से संकल्प का विषय शुभ ही है । मानव के लिए शुभ ईश-दर्शन में निहित है । इस अंतिम लक्ष्य की प्राप्ति मानव अपने स्वभाव से ही चाहता है, फलतः संकल्प परम आनंद की ओर अनिवार्य रूप से आकर्षित होकर इस दृष्टि से स्वतन्त्र नहीं कहा जा सकता है । संकल्प की स्वतन्त्रता केवल उन परिमित तत्त्वों के विषय में हो सकती है, जो अन्तिम लक्ष्य की प्राप्ति के साधन हैं । अतः मानव सृष्ट तत्त्वों के प्रति तो स्वतंत्र है, किन्तु ईश-प्राप्ति की अभिलाषा के प्रति परतंत्र ।

ग—जॉन डंस स्कोतुस (1265–1308) ।

जैसा "स्कोतुस" नाम से स्पष्ट है, जॉन डंस स्कॉटलैंड-निवासी थे । "डंस" उनका कुलनाम है । संत फ्रांसिस धर्म-संघ का सदस्य होकर, वह ऑक्सफर्ड, पैरिस और कोलोन में भी प्राध्यापक रहे । उनकी मुख्य रचनाएं पेत्रुस लोंबार्द्स के "पूर्वाचार्यों के विचार"[14] नामक ग्रंथ पर दो भाष्य हैं—"ऑक्सफर्ड की कृति" और पैरिस का भाष्य' । उन्हें "सूक्ष्माचार्य" कहकर समकालीन स्कोलावादियों ने स्कोतुसवाद की विशेषता बताई । औगुस्तीनी परंपरा के प्रतिनिधि होते हुए भी स्कोतुस अरस्तूवाद को स्वीकार करते थे । साथ ही वह मौलिक और रचनात्मक विचारक भी थे : बोनावेंतूरा के अनुयायी होने पर भी स्कोतुस ने उनके प्रबोधन-सिद्धांत का खंडन किया; संत थोमस के अनुसार सत्तावाद स्वीकार कर उन्होंने उनके विरुद्ध सत्ता की एकार्थकता का समर्थन किया । स्कोतुसवाद यद्यपि मध्यकाल का अंतिम संश्लेषिक दर्शनशास्त्र था किन्तु साथ ही, इसमें ओखम का आलोचनात्मक विचार दिखाई पड़ता है ।

ज्ञानशास्त्र और तत्वमीमांसा

स्कोतुस के अनुसार मानव बुद्धि का उपयुक्त विषय है 'अपने स्वरूप में सत्ता' । इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि तत्त्वों की संपूर्णता बुद्धि का विषय हो सकती है । दूसरे शब्दों में, जो कुछ अस्तित्त्व रखता है, वह बोधगम्य भी है । फिर' उसके आत्मिक स्वभाव के बल पर बुद्धि का अपना विषय परमेश्वर ही है—वह तो असीम सत्ता या सत् ही है किन्तु, वर्तमान शारीरिक स्थिति में इंद्रियों पर निर्भर होकर' बुद्धि इंद्रियों के भौतिक विषयों से संबंध रखती है । स्कोतुस संत थोमस के विरुद्ध सत्ता को बुद्धि का विषय इसलिए मानते है, क्योंकि अन्यथा सत्तावादी

---

14. **Quattuor Libri Sententiarum** (लगभग 1150)

तत्वमीनांसा असंभव ही होती। आत्मज्ञान के विषय में भी स्कोतुस उपर्युक्त प्रभेद का प्रयौग करते हैं : यद्यपि स्वभाव से आत्मा को अपने आपका साक्षात् ज्ञान प्राप्य है, वह उसे शारीरिक स्थिति में प्राप्त नहीं है। इस बात में भी स्कोतुस संत थोमस से असहमत है।

तत्वमीमांसा का विषय है अपने स्वरूप में सत्ता, या अरस्तू की उक्ति के अनुसार : "सत्ता के स्वरूप में सत्ता"[15]। सत्ता के स्वलक्षण निम्नलिखित हैं : सत्ता एक है, सत्य और शुभ भी। इन तीनों के विषय में स्कोतुस एकार्थकता का सिद्धांत मानते हैं, अर्थात् इनका परम तत्त्व और अपरम तत्त्व, दोनों पर आरोपण किया जा सकता हैं। उदाहरणार्थ, न तो केवल सृष्ट तत्त्व को सत् या शुभ कहा जा सकता है, अपितु परमेश्वर को भी। स्कोतुस संत थोमस के विरुद्ध अपना एकार्थकता का सिद्धांत इस तर्क द्वारा सिद्ध करते हैं। तत्त्वमीमांसा का विषय सत् आदि प्रत्यय हैं; फिर यदि सत् आदि प्रत्ययों का प्रयोग सृष्ट तत्त्वों मात्र तक सीमित होता, तो परमेश्वर के विषय में तत्त्वमीमांसा असंभव होती। फिर, साधारण प्रत्यय इंद्रिय-विषयों से व्युत्पन्न होकर, इंद्रिय-विषयों के ही बोधक हैं। फलत- इस प्रकार के विषयों का परमेश्वर जैसे अभौतिक तत्त्व के बारे में प्रयोग नहीं किया जा सकता है। इसलिए, परम तत्त्व के विषय में यदि ज्ञान संभव करना पड़े, तो इस प्रकार के प्रत्यय होने चाहिए जो दोनों, परम और अपरम तत्त्वों के लिए प्रयोज्य हों। वे एकार्थक प्रत्यय सत् आदि ही हैं।

सत् प्रत्यय के विषय में यह ध्यान देने योग्य बात है, कि किस अर्थ में उसे यथार्थता का बोधक कहा जा सकता है ? सत् प्रत्यय का एक अर्थ असत् का विपर्याय हो सकता है, अर्थात् वह जो शून्य के विपरीत अस्तित्व रखता है। चूंकि परम और अपरम तत्त्व दोनों अस्तित्व रखते हैं और तदनुसार शून्य से भिन्न हैं, इसलिए इन दोनों के विषय में इसी अर्थ में प्रयुक्त सत् का प्रत्यय एक यथार्थ स्थिति का बोध कराता है। इसके अतिरिक्त वास्तव में परम तत्त्व असीम रूप से अस्तित्व रखता है, जब कि अपरम तत्त्व केवल सीमित रूप में वस्तुतः सत् प्रत्यय की एकार्थकता इस शर्त से प्राप्त की जा सकती है, अर्थात् असीम या सीमित अस्तित्व की विशेषता को छोड़ने से। फिर भी, इसी पहलू से सत् प्रत्यय किसी यथार्थ स्थिति का बोधक नहीं हो सकता है, क्योंकि वास्तविक अस्तित्व या तो असीम है या सीमित है, वह इस विशेषता से रहित नहीं मिलता है। फिर, सत्ता आदि प्रत्ययों के अलावा बुद्धिमत्ता या प्रज्ञा जैसी प्रत्ययों की दशा क्या है ? प्रज्ञा या बुद्धिमत्ता के प्रत्यय पूर्णतया द्वयर्थक नहीं हो सकते हैं; नहीं तो अपरम प्रज्ञा के उदाहरण से परम प्रज्ञा का अनुमान नहीं किया जा सकता। फिर, द्वयर्थक न होते हुए इस प्रकार के प्रत्यय एकार्थक भी नहीं हो सकते हैं। कारण, प्रज्ञा जिस सीमित रूप से सृष्ट तत्त्वों में

---

15. Being as being.

विद्यमान् है, उसी सीमित रूप से असीम तत्त्व में उपलब्ध नहीं हो सकती है। फलतः परमेश्वर पर प्रज्ञा प्रत्यय का आरोपण करने के लिए हमें इसे प्रज्ञा के स्वरूप में ही मानना पड़ेगा। इस प्रकार प्रज्ञा आदि प्रत्ययों का प्रयोग परम और अपरम तत्त्व के विषय में एक ही अर्थ में किया जा सकता है।

उपर्युक्त उदाहरणों से बढ़कर सूक्ष्माचार्य की सूक्ष्मता उनके अपने ढंग के प्रभेद से और अधिक स्पष्ट की जा सकती है। अन्य स्कोलावादियों के अनुसार प्रभेद या तो वास्तविक है, या मानसिक ही; इन दोनों के अतिरिक्त स्कोतुस ने एक तीसरे प्रभेद का आविष्कार किया। उनकी व्याख्या के अनुसार वास्तविक प्रभेद के अवयव भिन्न-भिन्न होकर वियोज्य भी हैं, कम से कम दिव्य सर्वशक्तिमत्ता के लिए, जैसे तत्त्व का आकार और उपादान। इसके विपरीत मानसिक प्रभेद के अवयव अभिन्न होकर अवियोज्य भी हैं। उदाहरणार्थ, "मानव" का प्रत्यय और इसकी परिभाषा, अर्थात् "बौद्धिक जीव", इन दोनों का तादात्म्य सर्वशक्तिमत्ता के लिए भी अवियोज्य है। स्कोतुस का तीसरे प्रकार का प्रभेद उपर्युक्त दोनों का संश्लेषण ही है : प्रथमोक्त के अनुसार भिन्न-भिन्न होते हुए भी, उत्तरोक्त के अनुसार उसके अवयव अवियोज्य ही हैं। इसका एक उदाहरण ईश-शास्त्र के प्रसंग में दिया जाएगा। उसके लक्षणों के आधार पर इस तीसरे प्रकार के प्रभेद का नाम "वास्तविक अवियोज्य प्रभेद"[16] रखा जा सकता है। : अवयवों की वास्तविक भिन्नता होते हुए भी उनका वियोजन नहीं किया जा सकता है।

स्कोतुस का व्यष्टिकरण-समस्या का अपना समाधान भी है। बोनावेंतूरा के अनुसार व्यष्टिकरण आकार और उपादान के संयोग से उत्पन्न होता है; जबकि संत थोमस के अनुसार उपादान मात्र से। स्कोतुस का मत है कि न तो उपादान, न आकार ही व्यष्टिकरण का आधार हो सकते हैं। उपादान तो अनिश्चित होने से व्यष्टि जैसी विशेषता का कारण हो ही नहीं सकता। आकार भी इसका कारण नहीं हो सकता : प्रश्न है कि आकार का ही व्यष्टिकरण कहां से उत्पन्न होता है? इसलिए आकार और उपादान के अतिरिक्त स्कोतुस को एक और अवयव स्वीकार करना पड़ता है, अर्थात् 'इदम्ता' माने तत्त्व का वह अवयव जो इसका व्यष्टिकरण करता है।

ईश-शास्त्र

परमेश्वर के स्वभाव का ज्ञान सत् आदि जैसे एकार्थक प्रत्ययों के आधार पर प्राप्त किया जा सकता है, या प्रज्ञा आदि जैसे अपूर्ण रूप से एकार्थक प्रत्ययों के बल पर। इन भिन्न-भिन्न प्रत्ययों के संयोजन के फलस्वरूप ईश-स्वभाव का संश्लिष्ट

---

16. लातीनी में : distinctio formalis o parte rei;
अंग्रेजी में objective formal distinction.

प्रतिरूप मिलता है। साक्षात् दर्शन से उत्पन्न न होकर इस प्रकार का ज्ञान अपूर्ण ही होना अनिवार्य है। ईश-स्वभाव संबंधी सब से उपयुक्त लक्षण स्कोतुस 'असीम सत्ता की धारणा' को मानते हैं। उसे इस तर्क द्वारा सिद्ध किया जा सकता है परमेश्वर मानव का अंतिम लक्ष्य है; फिर मानव-संकल्प का लक्ष्य सीमित विषयों के परे है; इसलिए, परमेश्वर को असीम होना आवश्यक है। असीम सत्ता से ईश-स्वभाव के अन्य लक्षणों का अनुमान भी किया जा सकता है उपर्युक्त ईश संबंधी तत्त्वमीमांसात्मक ज्ञान गौण ही है : इस दृष्टिकोण से त्रियेक परमेश्वर के स्वरूप के विषय में कोई ज्ञान प्राप्य नहीं है।

ईशास्तित्व का प्रमाण स्कोतुस सापेक्ष तत्त्व से आवश्यक तत्त्व के अनुमान के आधार पर स्थापित करते हैं। आवश्यक तत्त्व के विपरीत सापेक्ष तत्त्व वही है जो आवश्यक रूप से अस्तित्व नहीं रखता है। सापेक्षता का तथ्य तत्त्वों के उत्पन्न और नष्ट हो जाने से स्पष्ट है : यदि वे आवश्यक रूप से अस्तित्व रखते तो उनका अभाव नहीं हो सकता। अपने आप से उत्पन्न न होकर सापेक्ष तत्त्वों को किसी दूसरे कारण से अस्तित्व प्राप्त करना अनिवार्य है। उल्लेनीय बात है कि स्कोतुस संत थोमस के विपरीत कारण-कार्य क्रम की अनवस्था असंभव नहीं मानते हैं। इस स्थिति में तो सापेक्ष कार्य के लिए किसी पूर्ववर्ती कारण की कमी कभी नहीं होगी। फिर भी, सापेक्ष कारणों का अनंत क्रम उनके अस्तित्व की पर्याप्त व्याख्या नहीं हो सकता है। कारण, सापेक्ष तत्त्वों का क्रम, अनंत होते हुए भी, स्वयं ही सापेक्ष बना रहता है। सापेक्ष तत्त्वों के इस क्रम के लिए एक ऐसे तत्त्व की आवश्यकता है, जो इस सापेक्ष क्रम के अंतर्गत न होकर अपने आपसे ही अस्तित्व रखता है। अस्तित्व रखता है। अस्तित्व के लिए किसी पर भी निर्भर न होकर वह एक निरपेक्ष या आवश्यक तत्त्व होगा। वह आवश्यक तत्त्व स्वरूप, सापेक्ष तत्त्वों की संपूर्णता का कारण परमेश्वर ही है। इससे यह निष्कर्ष भी निकलता है कि सृष्टि अनिवार्य रूप से नहीं उत्पन्न हुई; नहीं तो सृष्ट तत्त्वों का अस्तित्व सापेक्ष नहीं होता; कारण, जिसे आवश्यक रूप से अस्तित्व प्राप्त हुआ, उसे अस्तित्व के दृष्टिकोण से सापेक्ष कहना असंगत होगा। इस बात पर भी ध्यान देना उचित होगा कि स्कोतुस द्वारा प्रस्तुत "शून्य से" की व्याख्या है : उसकी उत्पत्ति के पहले सृष्ट होने वाले कार्य का पूर्ण पूर्वाभाव। स्पष्टतः कार्य का अभाव सृष्टिकर्त्ता-स्वरूप-कारण के अभाव से भिन्न है।

मानव-शास्त्र

मानव ढांचे के संदर्भ में स्कोतुस का एक विशेष सिद्धांत मिलता है, अर्थात् एक ही तत्त्व में अनेक आकारों की संभावना। स्कोतुस के अनुसार मानव में कम से कम इन दो आकारों का प्रभेद करना पड़ता है : शरीर का आकार और आत्मा स्वरूप आकार। इन दो आकारों की भिन्नता मानव क्रियाओं की विविधता पर

आश्रित है। **फिर भी, आकारों की अनेकता होते हुए भी मानव आत्मा मूलतः एक ही** हैं : उद्‌भिज्ज, संवेदी, बौद्धिक क्रियाएं क्रमशः इन तीन प्रकार की "आत्माओं" से उत्पन्न नहीं होती हैं, इसके विपरीत एक ही आत्मा भिन्न-भिन्न क्रियाओं में क्रियाशील है। स्कोतुस मानव-आत्मा की एकता की रक्षा अपने "वास्तविक अवियोज्य प्रभेद" की सहायता से कर सकते हैं। भिन्न-भिन्न होने पर भी मानव की क्रियाएं एक ही आत्मा से उत्पन्न होकर अवियोज्य ही है। थोमसवाद की तुलना में स्कोतुसवाद की एक और विशेषता यह है कि इसमें बुद्धि को नहीं, संकल्प को ही प्रधानता मिलती है। तद्‌नुसार परमानन्द की प्राप्ति परमेश्वर के बौद्धिक दर्शनों में नहीं, वरन् उसके साथ प्रेमस्वरूप एकाकार होने में ही निहित है। स्कोतुस संकल्प की स्वतंत्रता पर बहुत बल देते हैं। अपने स्वभाव से मानव शुभ की ओर प्रवृत्त होता है। फिर भी, अपनी स्वतन्त्रता के बल पर मानव को या तो शुभ या अशुभ चुनने की क्षमता है। शुभ को स्वीकार करते हुए भी मानव स्वतंत्र संकल्प से ही ऐसा करता है, स्वाभाविक आकर्षण के वश होकर नहीं। स्कोतुस की मान्यता है कि आत्मा अमर है, यद्यपि इसे निश्चित रूप से प्रमाणित नहीं किया जा सकता है। संत थोमस द्वारा प्रस्तुत प्रमाण क्रिया में भौतिक इंद्रियों से आत्मा की स्वाधीनता के बल पर अस्तित्व के दृष्टिकोण से भी आत्मा की नश्वर शरीर से स्वाधीनता का अनुमान करता है। इसके विरुद्ध स्कोतुस यह आपत्ति उठाते हैं कि अनुचित रूप से क्रिया और अस्तित्व का तादात्म्य मान लिया जाता है। बोनावेंतूरा के अनुसार अमरता इस प्रकार सिद्ध की जा सकती है, कि वह मानव की स्वाभाविक अभिलाषा का विषय है। फिर, अमरता के अभाव में स्वाभाविक अभिलाषा निरर्थक प्रतीत होती। स्कोतुस इस प्रमाण में आत्माश्रय-दोष पहचानते हैं, अभिलाषा को तभी "स्वाभाविक" कहा जा सकता है, जब उसकी प्राप्ति, अर्थात् अमरता का संभव होना प्रमाणित हो। फिर भी, अमरता प्रमेय ही है, प्रमाण का आधार नहीं।

III—उत्तर-मध्यकालीन और पुनर्जागरण का स्कोलावाद

क—ऑखैम (1290–1349)।

ऑखैम से लेकर स्कोलावादी परम्परा की अवनति शुरू हुई; इस कथन का अर्थ यह नहीं कि इस युग में भी सुव्यवस्थित दर्शनों का अभाव था, बल्कि तत्त्व-मीमांसा के विषय में संदेह होने लगा। इस आलोचनात्मक दृष्टिकोण की उत्पत्ति 11 वीं और 12 वीं शताब्दी में प्रचलित "सामान्य प्रत्ययों" के विषय में वाद-विवाद से हुई थी। इस पुराने "नामवाद" को पुनर्जीवित करने से ऑखैम परवर्ती तत्वमीमांसा की समीक्षा के प्रवर्त्तक हुए। इंगलैड के ऑखैम नामक स्थान में जन्म लेकर विलियम संत फ्रांसिस धर्म-संघ के सदस्य बने। रोम के धार्मिक अधिकारियों ने उनके अनेक सिद्धांतों को भ्रांतिपूर्ण मानकर उन्हें अस्वीकार किया। इनके विरुद्ध जर्मन सम्राट का पक्ष लेने के फलस्वरूप ऑखैम का जर्मनी में निर्वासन हुआ।

दार्शनिक दृष्टि से उनकी तर्कशास्त्रीय रचनाएं महत्त्व की हैं। उनमें सबसे प्रसिद्ध है : "संपूर्ण तर्कशास्त्र का सारांश"।

तर्कशास्त्र और ज्ञानशास्त्र

ऑखैम का तर्कशास्त्र काफी प्रगतिशील है, यहां तक कि उसकी तुलना समकालीन तर्कशास्त्र से की जा सकती है। उदाहरणार्थ, वे शब्द और प्रत्यय का स्पष्ट प्रभेद करते हैं : जबकि 'शब्द' भिन्न-भिन्न भाषाओं में भिन्न-भिन्न होकर कृत्रिम प्रतीक मात्र है, इसके विपरीत 'प्रत्यय' सब मनुष्यों के लिए समान होकर स्वाभाविक प्रतीक प्रतीत होता है। प्रत्ययों का प्रभेद भी किया जा सकता है। प्राथमिक अभिप्राय के प्रत्यय वस्तु संबंधी प्रतीक हैं; द्वितीय अभिप्राय के प्रत्यय एक दूसरे प्रत्यय से संबंध रखते हैं, जो स्वयं वस्तु-संबंधी प्रत्यय हैं। उपर्युक्त प्रभेद के अनुसार विज्ञान भी दो प्रकार का हो सकता है : प्रथमोक्त वर्ग के प्रत्यय विषयक विज्ञान वास्तविक स्वभाव का है; उत्तरोक्त प्रत्यय विषयक विज्ञान बौद्धिक स्वरूप का।

सामान्य प्रत्ययों के तात्त्विक अभिप्राय के विषय में थोमसवाद का सिद्धांत काफी संतुलित था। वह आदर्श-प्रत्ययों की यथार्थता को अस्वीकार कर, सामान्य प्रत्ययों का यथार्थ आधार ही मानता है, अर्थात् व्यष्टियों का सामान्य स्वभाव। ऑखैम का 'नामवाद' इस आपेक्षिक यथार्थतावाद की आलोचना करता है। सामान्य प्रत्यय तो विशिष्ट तत्त्वों या व्यष्टियों का ही बोध कराते हैं। फिर भी, केवल व्यष्टि-स्वरूप तत्त्व अस्तित्व रखते हैं। यदि थोमसवाद के अनुसार सामान्य प्रत्ययों की भी यथार्थता होती, तो वास्तविक तत्त्व दोनों होते : व्यष्टि-स्वरूप भी और सामान्य भी, जो विरोधात्मक होगा। फलतः, ऑखैम के अनुसार तत्त्वों में सामान्य प्रत्ययों की आधार-भूत यथार्थता तक नहीं है, बौद्धिक क्रिया के अतिरिक्त वे कोई अस्तित्व नहीं रखते हैं। सामान्य प्रत्ययों की उत्पत्ति केवल व्यष्टि-स्वरूप तत्त्वों की समानता से हो सकती है, उनके किसी कल्पित **सामान्य स्वभाव** से नहीं। तत्त्वमीमांसा के खंडन के साथ-साथ ऑखैम उस ईश-शास्त्रीय सिद्धांत को भी अस्वीकार करते हैं जिसके अनुसार सामान्य प्रत्ययों का आधार दिव्य मानस में उपस्थित आदर्श-प्रत्यय होता है। ऑखैम मानते हैं कि सृष्ट होने वाले तत्त्वों के इस प्रकार के आदर्श सृष्टि-कर्त्ता की सर्वशक्तिमत्ता को सीमित करते हैं। उपर्युक्त उदाहरण से स्पष्ट है कि ऑखैम से प्रस्तुत तर्कशास्त्रीय सिद्धांतों का तत्त्वमीमांसा और ईश-शास्त्र पर भी प्रभाव पड़ता है।

ऑखैम इस बात पर भी बल देते हैं कि निगमन का प्रयोग करते हुए भी विज्ञान को अनुभवजन्य होना चाहिए, प्रागनुभव नहीं। इस सिद्धांत का ज्ञानशास्त्रीय आधार ऑखैम की ओर से जन्मसिद्ध प्रत्ययों की अस्वीकृति है। तत्त्वों के प्रत्यक्ष ज्ञान से ही उनके अस्तित्व या विशेषताओं का ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है।

ऑखैम का अनुभववाद उनके ईश-शास्त्र से भी सम्बन्ध रखता है। वे मानते हैं कि सृष्टि सृष्टिकर्त्ता के बिलकुल स्वतन्त्र निर्णय से उत्पन्न हुई। इस स्वतन्त्र निर्णय के फलस्वरूप जगत् की व्यवस्था पूर्णतया सोपाधिक होती है। इसलिए, जगत् की विशेषताओं का ज्ञान सामान्य प्रत्ययों से निगमन के आधार पर नहीं, बल्कि अवलोकन और परीक्षण से ही मिल सकता है।

दर्शन-शास्त्र के इतिहास में ऑखैम अपने "लाघव-सिद्धांत" के कारण भी प्रसिद्ध है। सामान्य रूप से इसका प्रतिपादन इस प्रकार किया जा सकता है: भाषा-प्रयोग को भ्रांतिपूर्ण होना अनिवार्य है, यदि प्रयुक्त भिन्न-भिन्न प्रत्ययों के अनुसार यथार्थता में भी भिन्न-भिन्न तत्त्वों को माना जाता है। उनके शब्दों में: "आवश्यकता के बिना ही तत्त्वों की संख्या बढ़ानी नहीं चाहिए"। इसके आधार पर ऑखैम 'सम्बन्ध' को सम्बन्धित तत्त्वों के अतिरिक्त एक और तत्त्व मानने से इनकार कर, उसे इनका एक पहलू ही मानते हैं। फिर, भौतिक तत्त्वों के परिवर्तन की व्याख्या में जितने प्रत्ययों का प्रयोग है, उससे उतने वास्तविक तत्त्वों का भी अनुमान नहीं करना चाहिए; या, देश-काल की धारणा के प्रसंग में, उसे देश या काल में स्थित तत्त्वों से एक पृथक् तत्त्व नहीं माना जा सकता है। वास्तव में काल परिवर्तनशील तत्त्वों का पहलू मात्र है।

ईश-शास्त्र

विज्ञान की उपर्युक्त अनुभवात्मक धारणा के अनुसार ऑखैम जन्मसिद्ध प्रत्ययों को अस्वीकार कर सत्ता का प्रत्यय भी अनुभवजन्य मानते हैं। थोमसवाद के विरुद्ध वे सत्ता प्रत्यय की एकार्थकता का मंडन करते हैं। इस दावे का तात्पर्य यह नही मानो सृष्ट और असृष्ट तत्त्व दोनों किसी सामान्य सत्ता में सहभागी होते, जो कि एक सत्तावादी दृष्टि होती। ऑखैम द्वारा प्रस्तुत सत्ता की एकार्थकता का अभिप्राय केवल इतना ही प्रतीत होता है कि, अस्तित्व के दृष्टिकोण से सत्ता प्रत्यय का प्रयोग दोनों के विषय मे किया जा सकता है, सृष्ट तत्त्वों के लिए भी और असृष्ट तत्त्व के लिए भी। सत्ता की इस एकार्थकता के बावजूद सृष्ट और असृष्ट तत्त्व न तो द्रव्य, न गुणों के दृष्टिकोण से समान हैं। एकार्थकता का एक दूसरा अर्थ संकोच यह है कि सत्ता प्रत्यय सृष्टिकर्त्ता के विषय में प्रयोज्य होते हुए भी, इस प्रत्यय मात्र के आधार पर ईशास्तित्व का अनुमान नहीं किया जा सकता है। दूसरे शब्दों में, इस संदर्भ में ऑखैम शुद्ध निगमनिक प्रमाण को अस्वीकार करते हैं।

परम्परागत ईशास्तित्व के लिए कारण-कार्य के प्रमाण के विषय में ऑखैम की आलोचना यह है कि कार्य के तथ्य से तो एक कारण का अनुमान किया जा सकता है, लेकिन यह नहीं दिखाया जा सकता है कि एक निश्चित तत्त्व इस कार्य का कारण है। ऊपर हमने देखा है कि स्कोतुस कारण-कार्य का अनंत क्रम असम्भव नहीं मानते हैं। इसके विपरीत ऑखैम का मत है कि इस अनन्त और सापेक्ष क्रम का एक आवश्यक कारण होना अनिवार्य नहीं है। ऑखैम का अपना प्रमाण सृष्ट

तत्त्वों की वर्तमान स्थिति पर आश्रित है, कारण-कार्य के कालिक क्रम पर नहीं। उसके अनुसार वर्तमान जगत् का अस्तित्व आत्मनिर्भर नहीं है; इसलिए उसे किसी दूसरे तत्त्व पर निर्भर होना आवश्यक है, जो स्वयं या तो आत्मनिर्भर है या आत्म-निर्भर नहीं है। तो भी, **कालिक** उत्पत्ति के क्रम के विपरीत इस **वर्तमान** निर्भरता का अनुक्रम अनंत नहीं हो सकता हैं। कारण, अनंत क्रम की वर्तमान वास्तविकता ऑखैम को असंभव लगती है। फिर, वह अपना प्रमाण भी संतोषजनक नहीं मानते हैं : जो परमेश्वर इस वर्तमान जगत् का कारण सिद्ध किया जाता है, उसे किसी दूसरे जगत् का कारण होना अनिवार्य नहीं है। फलतः उसे एकमात्र परमेश्वर प्रमाणित नहीं किया गया है।

ऑखैम के मतानुसार ईशास्तित्व के अपमाणित होने के फलस्वरूप परमेश्वर के स्वभाव के विषय में भी प्रमाण नहीं मिल सकता है, इसलिए नित्य अनंत सर्वशक्तिमान् सृष्टिकर्त्ता स्वरूप परमेश्वर को अप्रमाणित रहना अनिवार्य है। सिर्फ उन गुणों को प्रमाणित किया जा सकता है, जो सत्ता से संबंध रखते हैं। सत्ता प्रत्यय तो एकार्थक होकर सृष्ट और असृष्ट दोनों तत्त्वों के लिए प्रयोज्य है। फलतः इस प्रकार के प्रमाण की सम्भावना है, अर्थात् जिन तत्त्वों को सत्ता प्राप्त है, उन्हें इस दृष्टिकोण से शुभ भी होना अनिवार्य है; कारण, सत्ता और शुभ का पारस्परिक सम्बन्ध है। परमेश्वर को सत्ता प्राप्त है, इसलिए शुभ प्रत्यय का परमेश्वर के विषय में भी प्रयोग किया जा सकता है। ऑखैम के इस आलोचनात्मक ईश-शास्त्र के परिणामस्वरूप दर्शन और धर्मशास्त्र का पृथक्करण उत्पन्न हुआ। कारण, जिस परमेश्वर पर विश्वास आश्रित है, यदि उसके विषय में तार्किक प्रमाण नहीं दिया जा सकता है, तो धर्मशास्त्र दर्शनशास्त्र से कोई सम्बन्ध नहीं रखता है। औगुस्तीन से संत थोमस तक इन दो शास्त्रों की एकता बनी रही थी; ऑखैम से इन दोनों की वियुक्ति बढ़ गई।

मानव और नीतिशास्त्र

ऑखैम का संदेहवाही भाव इसमें भी दिखाई पड़ता है कि उनके मतानुसार आत्मा का अभौतिक और अमर होना मात्र दर्शनशास्त्र द्वारा सिद्ध नहीं किया जा सकता। स्कोतुस के समान वह भी मानव ढांचे में आकारों की अनेकता स्वीकार करते हैं, अर्थात् अभौतिक एवं बौद्धिक आत्मा-स्वरूप आकार, भौतिक एवं संवेदनशील जीवात्मा-स्वरूप आकार और शरीर का आकार। ऑखैम इन तीनों का मानसिक मात्र नहीं, वास्तविक प्रभेद ही स्वीकार करते हैं, अतः वे स्पष्टतः मानव की एकता जोखिम में डालते हैं।

नीतिशास्त्र के सन्दर्भ में ऑखैम की मान्यता है कि मानव संकल्प अपने स्वभाव के बल पर उत्तम शुभ की ओर आकर्षित नहीं किया जाता है। फलतः मानव स्वभाव का नियम न होने के साथ ही शुभ नैतिक व्यवहार का मानदण्ड भी

नहीं हो सकता है । इसके विपरीत नीतिशास्त्र केवल परमेश्वर की ओर से स्वैच्छिक निर्णय द्वारा निर्धारित है । यह "संकल्पवादी" सिद्धांत इस बात का परिणाम है कि ऑखैम परमेश्वर की स्वतन्त्रता पर बल देते हैं । ईश-स्वतन्त्रता ईश-मानस में स्थित किन्हीं ऐसे आदर्श-प्रत्ययों द्वारा सीमित नही है, जिनके सदृश मानव स्वभाव की सृष्टि हुई होती । फलतः मानव के लिए कोई "स्वभावगत धर्म" भी नहीं हो सकता है, जो उस आदर्श स्वभाव पर आश्रित होता । इस स्वाभाविक मानदण्ड के अभाव में नीतिशास्त्र को परमेश्वर के स्वतन्त्र निर्णय पर निर्भर होना आवश्यक है । व्यावहारिक परिस्थितियों में हमें इस मानदंड का ज्ञान शुभाशुभ सम्बन्धी "सही विवेक" द्वारा प्राप्त होता है ।

ख–फ्रांसिस सुआरेस (1548–1617) ।

ऑखैम से सुआरेस तक दो शताब्दियों के युग में स्कोलावादी भाष्यकारों और विचारकों का अभाव नहीं रहा । फिर भी, सुआरेस के अतिरिक्त इस युग के ईसाई दर्शन में दूसरा कोई मौलिक दार्शनिक नही मिलता है । वे स्पेन-निवासी थे तथा हाल ही स्थापित 'येसुसमाज' नामक धर्म-संघ के सदस्य थे । जीवन भर वे दर्शन-शास्त्र, फिर धर्मशास्त्र के प्राध्यापक रहे । धर्मशास्त्र और कानून-दर्शन संबंधी रचनाओं के अलावा उन्होंने पहला सम्पूर्ण स्कोलावादी दर्शन का प्रतिपादन "तत्त्वमीमांसात्मक विचार-विमर्श"[17] ग्रंथ में किया । उनका दार्शनिक मानव-शास्त्र "आत्मा-विषयक प्रबन्ध" में मिलता है । वह दर्शनशास्त्र के अध्ययन को धर्मशास्त्र की अनिवार्य भूमिका मानकर, दोनों का सामंजस्य स्थापित करने की कोशिश करते थे ।

स्कोलावाद की परम्परा के अनुसार सुआरेस भी तत्त्वमीमांसा का विषय "सत्ता के स्वरूप में सत्ता" मानते हैं । फिर, इस विषय का अभिप्राय प्रत्यय मात्र न होकर, इसमें यथार्थ सत्ता ही निहित है और उसके मुख्य विभाजन भी, जैसे असीम या सीमित सत्ता, द्रव्य और गुण, अभौतिक एवं भौतिक तत्त्व । सब प्रकार के तत्त्व यद्यपि तत्त्वमीमांसा के विषय हैं, फिर भी, उनका विवेचन सिर्फ सत्ता के दृष्टिकोण से किया जाता है । वास्तव में विविध तत्त्वों की सत्ता उनके द्रव्यत्व से अभिन्न ही है । फिर, भिन्न-भिन्न तत्त्वों का द्रव्य या तो असीम या सीमित है, और इसके फलस्वरूप यथार्थ सत्ता भी विविध स्वरूप की है । तिसपर भी, इस दृष्टिकोण से सब तत्त्व समान ही हैं, अर्थात् वे सभी अस्तित्व या सत्ता रखते हैं । इस समानता के बावजूद सुआरेस सत्ता प्रत्यय की एकार्थकता अस्वीकार करते हैं । कारण, जब सत्ता प्रत्यय को असीम या सीमित तत्त्वों पर आरोपित किया जाता है, तो "असीम" या "सीमित" विशेषता को सत्ता प्रत्यय से जोड़े जाने की आवश्यकता नहीं है;

---

17. **Disputationes Metaphysicae.**

इसलिए, सुआरेस के अनुसार, ये और दूसरी विशेषताएं भी सत्ता प्रत्यय में ही निहित हैं। फलतः सत्ता प्रत्यय का अभिप्राय एकार्थक नहीं, सादृश्यात्मक ही है। इस सत्ता अभिप्राय सम्बन्धी सिद्धांत के अतिरिक्त सुआरेस सत्ता के इन तीन मौलिक लक्षणों को भी स्वीकारते हैं। सत्ता "एक" है, अर्थात् अविभाज्य स्वरूप की; "सत्य" अर्थात् दिव्य मानस में स्थित आदर्श के अनुरूप; और "शुभ" भी। इन लक्षणों को भी सत्ता प्रत्यय से जोड़ा नहीं जा सकता है। वे तो इसमें ही निहित हैं।

थोमसवाद में प्रचलित ईशास्तित्व का यह प्रमाण सुआरेस के लिए अस्वीकार्य है, जो भौतिक तत्त्वों के परिवर्तन के आधार पर अभौतिक कारण को सिद्ध करना चाहता है। इसके विपरीत वह तत्त्वों के परिवर्तन पर नहीं, उनके अस्तित्व पर ही अपना प्रमाण आधारित करते हैं। कोई तत्त्व या तो उत्पन्न हुआ है, या उत्पन्न नहीं हुआ है, तीसरा विकल्प नहीं हो सकता है। फिर, सभी उत्पन्न हुए नहीं हो सकते है; कारण, जिस तत्त्व से कोई अन्य तत्त्व उत्पन्न हुआ, वह या तो स्वयं ही उत्पन्न हुआ है या अन्य तत्त्व से। फिर, अस्तित्व के दृष्टिकोण से निर्भरता की अनवस्था नहीं हो सकती है। इसलिए एक ऐसे तत्त्व पर पहुंचना पड़ेगा, जो स्वयं ही उत्पन्न हुआ हो और वह तत्त्व सृष्टिकर्त्ता परमेश्वर ही है।

उपसंहार

इस चौथे अध्याय से यह निष्कर्ष निकलता है कि ईसाई दर्शन के निर्माण में यूनानी दर्शन का बहुत योगदान रहा। धर्मशास्त्र के क्षेत्र में ईसाई विश्वास के सिद्धांतों का बौद्धिक प्रतिपादन करने के लिए विचारक यूनानी दर्शनशास्त्र का प्रयोग किया करते थे। **धर्मशास्त्र** की बात छोड़कर हमें यह तथ्य स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ता है कि मध्यकाल का ईसाई **दर्शनशास्त्र** भी द्विविध स्रोत से उत्पन्न हुआ, अर्थात् बाईबिल परंपरा से भी और यूनानी दर्शन से भी। उपसंहार के रूप में हम फिर इस द्विविध प्रभाव का एक दो उदाहरण प्रस्तुत करेंगे।

पहला उदाहरण इस बात का है कि बाइबिल से लिए हुए विषयों का विस्तार यूनानी दर्शन के सिद्धांतों की सहायता से किया जाता है। बाइबिल के अनुसार परमेश्वर सम्पूर्ण सृष्टि का एकमात्र स्रोत है। सृष्टिवाद के दार्शनिक प्रतिपादन में अफ्लातूनी आदर्शों का इस प्रकार प्रयोग किया जाता है मानो वे सृष्टिकर्त्ता के मानस में स्थित होकर सृष्ट होने वाले तत्त्वों के आदर्श हों। फिर, बाइबिल इस बात पर बहुत बल देती है कि सम्पूर्ण सृष्टि के किसी तत्त्व की भी सृष्टिकर्त्ता से तुलना नहीं की जा सकती है। अरस्तू से प्राप्त सत्ता प्रत्यय की सहायता से संत थोमस इस असमता की इस प्रकार व्याख्या करते हैं, जब कि सृष्ट तत्त्वों में अस्तित्व और स्वभाव का **प्रभेद** है, परमेश्वर में ही दोनों का **तादात्म्य** है।

उपर्युक्त उदाहरणों में धार्मिक स्रोत से लिये हुए विषयों का विस्तार

दार्शनिक रूप से किया जाता है। इसके विपरीत शुद्ध दार्शनिक विषय भी धार्मिक परिप्रेक्ष्य में विकसित किये जा सकते हैं, ईशास्तित्व के लिए प्रमाण का उदाहरण लीजिए। अरस्तू का ',निवृत्त प्रवर्तक" का सिद्धांत कारण-कार्य के प्रमाण पर आश्रित है। लेकिन बाइबिल के सृष्टिकर्त्ता के विपरीत वह वास्तव में लोकातीत नहीं कहा जा सकता है। अरस्तू से प्रमाण का प्रकार अपनाकर संत थोमस उसे इस तरह बदलते हैं कि इसका परिणाम लोकातीत तत्त्व भी है। औगुस्तीन का प्रबोधन का सिद्धांत भी अफ्लातूनवाद को ईसाई परिदृश्य के अनुकूल बनाता है। मानव को आदर्श-प्रत्ययों की स्मृति नहीं होती है; उनका ज्ञान उसे दिव्य प्रबोधन के परिणामस्वरूप मिलता है; क्योंकि ईसाई परिप्रेक्ष्य में आदर्श-प्रत्यय दिव्य मानस में ही स्थित है।

यूनानी दर्शन के प्रभाव से ईसाई विचार का न केवल विकास हुआ, बल्कि उसकी विकृति भी हुई। कदाचित् यह विकृति कल्पित ही है, जैसे "निवृत्त प्रवर्तक" के उदाहरण में। अनेक लोगों को ऐसा लगता है मानो इस धारणा से सृष्टिकर्त्ता परमेश्वर की तुलना नहीं की जा सकती है। सृष्टिकर्त्ता ने प्रेम से प्रेरित होकर सृष्टि की; इसलिए उसमें निवृत्ति, अर्थात् मनोभाव का अभाव, नहीं हो सकती है। इन आलोचकों को यह याद रखना उचित होगा कि अरस्तू का "निवृत्त प्रवर्तक" प्रेम से ही तत्त्वों को आकर्षित करता है। इसके विपरीत अमरता की व्याख्या में यूनानी प्रभाव के फलस्वरूप ईसाई विचार की विकृति वास्तविक ही है। बाइबिल के दृष्टिकोण से सम्पूर्ण मानव की मृत्यु होती है और सम्पूर्ण मानव का पुनरुत्थान भी। यूनानी दर्शन आत्मा को अमर समझकर भौतिक शरीर को ही मरणशील मानता है। मानव ढांचे में इस द्वैतवाद को अपनाने के फलस्वरूप ईसाई दर्शन पुनरुत्थान की धारणा को शारीरिक पुनरुत्थान तक सीमित करने लगा : आत्मा को, अमर होने से मृत्यु से पुनरुत्थान की आवश्यकता नहीं थी। इस असामंजस्य का स्रोत शायद इसमें है कि पुनरुत्थान की धारणा सही अर्थ में धार्मिक विश्वास का विषय है। इस समस्या का विवेचन दूसरे सैद्धांतिक भाग में किया जाएगा।

अन्त में यह ध्यान देने योग्य बात है कि ईसाई धर्म यूनानी दर्शन को अपनाने में समर्थ सिद्ध हुआ। अगले अध्याय में यह प्रश्न पर विचार किया जाएगा कि ईसाई धर्म का आधुनिक दर्शन से भी सामंजस्य किया जा सकता है।

अध्याय 5

आधुनिक और समकालीन ईसाई दर्शन-शास्त्र

भूमिका

चौथे अध्याय में हम देख चुके हैं मध्यकाल में किस प्रकार धर्मशास्त्र और दर्शनशास्त्र का वियोजन उत्पन्न हुआ। जिसके परिणामस्वरूप आधुनिक काल के प्रारम्भ में दर्शनशास्त्र को पूर्ण स्वतंत्रता प्राप्त हुई। इन परिस्थितियों में ऐसा लगता था कि अब ईसाई दर्शन की संभावना तक नहीं रहेगी। कारण, पूर्ववर्ती युग का ईसाई दर्शन व्यक्त रूप से धर्म के परिप्रेक्ष्य में विकसित किया गया था जबकि समकालीन युग का दृष्टिकोण बिलकुल धर्मनिरपेक्ष है। इसके अतिरिक्त 15 वीं शताब्दी से स्कोलावाद की अवनति होने लगी थी और उसका पुनरुत्थान सिर्फ 20 वीं शताब्दी में ही हुआ होगा। इन परिस्थितियों में अनिवार्य रूप से प्रश्न उठता है; क्या ईसाई दर्शन की परंपरा भंग हुई हो गई? या 'क्या आधुनिक काल का दर्शन पूर्ण रूप से अ-धार्मिक बन गया है?' सच पूछा जाय तो आधुनिक दर्शनशास्त्र के मुख्य प्रतिनिधि भी मूलभूत ईसाई विचारों से प्रभावित रहे है। परमेश्वर, मानव और जगत् संबंधी उनकी मौलिक धारणाएं स्पष्ट रूप से न केवल बाइबिल परंपरा से, अपितु अनेक उदाहरणों में स्कोलावाद से भी प्रभावित हुई हैं। इस बात का निर्देशन हम इस अध्याय के पहले भाग में देकार्त, बार्कले, कांत और हेगल के उदाहरण में प्रस्तुत करेंगे।

उपर्युक्त दार्शनिकों के अतिरिक्त आधुनिक युग में ऐसे विचारक भी मिलते हैं जिन्हें स्पष्टतया ईसाई दर्शन का प्रतिनिधि कहा जा सकता है। उन्होंने पिछड़े स्कोलावाद से स्वतन्त्र किन्तु समकालीन दर्शन से प्रभावित अपने मौलिक दर्शन की स्थापना की पास्कल और मलब्रांच दो ऐसे ही विचारक हैं जिन्होंने 17 वीं शताब्दी के बुद्धिवादी नवीन दर्शन का या तो विरोध प्रकार 17 वीं शताब्दी के बुद्धिवाद के संदर्भ में दो ऐसे ईसाई दार्शनिक किया या उसका ईसाई दृष्टिकोण से सामंजस्य स्थापित किया। फिर, 19वीं शताब्दी की अनुभववादी परंपरा में न्यूमैन ने अपने मौलिक ईसाई दर्शन का प्रतिपादन किया। उनके समकालीन दार्शनिक किर्कगार्द अपने गहन विचार प्रस्तुत करने के फलस्वरूप परवर्ती अस्तित्ववाद के अग्रदूत सिद्ध हुए। 20 वीं शताब्दी में अनेक पहलुओं की दृष्टि से ईसाई दर्शन का पुनर्जागरण

हुआ । व्यक्त रूप से ईसाई दर्शन की सम्भावना का प्रश्न उठाकर बलांदेल ने (और कम मात्रा में लाबेर्थौन्येर ने भी) विस्तृत रूप से अपने मौलिक ईसाई दर्शन का निर्माण किया । 'ईसाई व्यक्तिवाद' लाबेर्थौन्येर और मून्येर द्वारा प्रस्तुत किया गया । नव-स्कोलावाद के असंख्य प्रतिनिधियों में से मारितें और मारेशल सब से प्रसिद्ध माने जा सकते हैं । पूर्वोक्त विचारक परंपरागत ढंग से थोमसवाद का प्रतिपादन करते हैं; जबकि उत्तरोक्त उसका समीक्षात्मक दर्शन से सामंजस्य स्थापित करते हैं । हाल में मार्सैल ने अस्तित्ववाद के उपर्युक्त प्रवर्त्तक की भांति इस दर्शन को फिर ईसाई दृष्टिकोण से प्रस्तुत किया है । दूसरी ओर तैयार दि शार्ढें ने आधुनिक विज्ञान और ईसाई दर्शन का समन्वय किया ।

1931 में फ्रांस के दार्शनिकों में इस समस्या के विषय में चर्चा छिड़ने लगी : 'क्या वास्तव में एक ऐसे दर्शन की संभावना है जो "दर्शन" और "ईसाई" दोनों कहला सके ?' पूर्ववर्ती ऐतिहासिक विकास पर चिंतन करने से हमें मध्यकालीन दर्शन तो अवश्य ही ईसाई प्रतीत होगा, पर क्या यह वास्तव में दर्शनशास्त्र भी है ? इसके विपरीत आधुनिक और समकालीन दर्शन निस्संदेह शुद्ध दर्शन है, पर उसमें ईसाई दर्शन का अभाव प्रतीत हो सकता है । अध्याय के तीसरे अनुच्छेद में 1931 के वाद-विवाद का प्रतिपादन करने के बाद हम इस प्रश्न पर वर्तमान ईसाई विचारकों का मत प्रस्तुत करेंगे । धर्म और दर्शनशास्त्र की पारस्परिक स्वतन्त्रता पर बल देने के साथ-साथ वे धर्म का दर्शन पर प्रभाव भी स्वीकार करते हैं । अन्त में संपूर्ण अध्याय से निम्नलिखित निष्कर्ष निकाले जा सकेंगे : पहला, ईसाई दर्शन मध्यकालीन तथ्य मात्र नहीं है । दूसरा, ईसाई दर्शन की परंपरा में स्कोलावाद के अतिरिक्त अन्य मौलिक और नवीन दृष्टिकोण भी प्रचलित हैं । तीसरा और मुख्य रूप से जिस प्रकार मध्यकालीन ईसाई दर्शन ने यूनानी दर्शन को अपनाया, ठीक उसी प्रकार ईसाई दर्शन आधुनिक और समकालीन दर्शन का भी स्वांगीकरण कर सका है ।

I आधुनिक दर्शनशास्त्र पर ईसाई दृष्टिकोण का प्रभाव

क—देकार्त (1596–1650) ।

यहां हमारा उद्देश्य आधुनिक दार्शनिकों का विस्तार से वर्णन करना नहीं है । हम केवल अपने इस सिद्धांत का प्रमाण देना चाहते हैं कि इन "शुद्ध" विचारकों पर भी ईसाई विचारधारा का प्रभाव अवश्य ही पड़ा है । देकार्त के उदाहरण में हम उनकी परमेश्वर की धारणा पर विशेष ध्यान देंगे । अपने "तीसरे चिंतन" में देकार्त निभ्रन्ति ईश्वर का प्रमाण इसलिए आवश्यक मानते हैं ताकि "स्पष्ट और निश्चित प्रत्ययों" का सिद्धांत सिद्ध किया जा सके । प्रमाण बाहरी जगत् पर आधारित नहीं हो सकता है : भौतिक जगत् तो स्वयं ही स्पष्ट और निश्चित प्रत्ययों का विषय है; इसलिए देकार्त संत थोमस का दृष्टिकोण अस्वीकार कर

अपने प्रमाण को शुद्ध बुद्धिवादी आधार पर प्रस्तुत करते हैं। फिर, परमेश्वर का प्रत्यय, अर्थात् एक ऐसा अपरिमित तत्त्व जो स्वयं विचारक का और विचारक के अतिरिक्त संपूर्ण अन्य तत्त्वों का भी सृष्टिकर्त्ता है, स्पष्ट रूप से परिमित विचारक द्वारा रचित नहीं हो सकता है। देकार्त के तर्क से कोई निष्कर्ष निकालने की आवश्यकता नहीं है; हमारे दृष्टिकोण से इसके निहितार्थों को अभिव्यक्त करना अधिक महत्त्व का होगा। देकार्त अपने निर्णयों के फलस्वरूप सभी बातों के विषय में संदेह करते हुए भी, निर्विवाद रूप से यह स्वीकार करते हैं कि परमेश्वर-प्रत्यय का अर्थ है, 'संपूर्ण तत्त्वों का सृष्टिकर्त्ता, जो विचारक से बिलकुल भिन्न है, यहां तक कि विचारक परमेश्वर प्रत्यय की रचना करने तक में असमर्थ हैं।' प्रश्न है कि बुद्धिवादी देकार्त की यह धारणा उनकी ईसाई पृष्ठभूमि से प्राप्त नही हुई, तो कहां से ?

"तीसरे चिंतन" में देकार्त ईशास्तित्व का एक दूसरा प्रमाण भी प्रस्तुत करते हैं। मानव का स्वयंभू होना निरर्थक है। कारण, यदि मानव अपने अस्तित्व का आधार होता, तो वह "संपूर्ण तत्त्व" अर्थात् परमेश्वर-प्रत्यय का स्रोत भी होता और तदनुसार स्वयं भी संपूर्ण होता। फिर, अपने आप की सृष्टि करने की क्षमता प्राप्त हुए अस्तित्व के संरक्षण से अभिन्न ही है, लेकिन मानव अपने अस्तित्व की रक्षा करने में असमर्थ प्रतीत होता है; इसलिए मानव अपने से भिन्न कारण पर निर्भर है; परंतु पराधीन कारणों की अनवस्था नहीं हो सकती है। इसके अतिरिक्त अस्तित्व का वर्तमान संरक्षण भूतपूर्व सृष्टि की अपेक्षा महत्त्वपूर्ण है, इसलिए सृष्टिकर्त्ता परमेश्वर को स्वीकार करना अनिवार्य है। देकार्त का प्रमाण निर्णायिक हो या नहीं, यह एक दूसरी बात है; किन्तु उनके विचार पर थोमसवाद का प्रभाव एक निर्विवाद तथ्य है। देकार्त यद्यपि संत थोमस के विपरीत अपने प्रमाण का आधार बाह्य जगत् को नहीं, विचारक को ही मानते है, लेकिन ठीक संत थोमस के समान कार्य-कारण प्रमाण का वे प्रयोग भी करते हैं। फिर, अस्तित्व में संरक्षण का सृष्टिकार्य से संबंध स्कोलावाद की एक विशेष धारणा भी है। इसलिए देकार्त पर स्कोलावादी प्रभाव को अस्वीकार करना ऐतिहासिक दृष्टिकोण से असंगत होगा। इसके अतिरिक्त उपर्युक्त दो युक्तियों में देकार्त "संपूर्ण तत्त्व" का प्रत्यय इसलिए एक जन्मसिद्ध प्रत्यय मानते हैं कि सृष्टिकर्त्ता ने इसे मानव की बुद्धि पर अंकित किया है। इस सिद्धांत की प्राप्ति देकार्त को बाइबिल से हुई जिसके अनुसार मानस सृष्टिकर्त्ता का प्रतिरूप ही है।

अपने "पांचवें चिंतन" में देकार्त बुद्धिवादी ढंग से "प्रत्यय-सत्ता युक्ति" का प्रतिपादन करते हैं। इसका मूलसिद्धांत यह है कि जो कुछ स्पष्ट रूप से किसी प्रत्यय का एक गुण दिखाई पड़ता है, उसे उसका **वास्तविक गुण** होना भी अनिवार्य है। इस तरह स्पष्टतया 'अस्तित्व' दिव्य स्वभाव का एक गुण मालूम पड़ता है। दिव्य स्वभाव में तो सभी गुणों की संपूर्णता निहित है, जिनमें से एक अस्तित्व भी

है। इस युक्ति में हम सहज में दिव्य अस्तित्व और स्वभाव का तादात्म्य पहचान सकते हैं, जिसे थोमसवादी सत्तावाद का एक मूलसिद्धांत माना जा सकता है। अतः देकार्त के उदाहरण में न केवल ईसाई विचारधारा का प्रभाव स्पष्ट है, वरन् स्कोलावाद के अनेक सिद्धांत भी समाविष्ट अवश्य ही, देकार्त से एक नवीन दर्शन का प्रारंभ हुआ; किन्तु इससे पूर्ववर्ती परंपरा की समाप्ति नहीं हुई।

ख–बार्कले (1685–1753)

इस आयरिश धर्माध्यक्ष का संवृतिवाद काफी प्रसिद्ध है, फिर भी यहां इस सिद्धांत का वास्तविक अभिप्राय संक्षेप में निर्धारित करना अनुचित नहीं होगा। बार्कले का उद्देश्य भौतिक तत्त्वों के अस्तित्व का निषेध करना नहीं है, बल्कि भौतिक अस्तित्व संबंधी कथनों का सही अर्थ निर्धारित करना है। उनके अनुसार किसी भौतिक तत्त्व बिना प्रत्यक्ष का विषय हुए अस्तित्व रखना निरर्थक ही होता, इसलिए उनके सुप्रसिद्ध कथन के अनुसार भौतिक तत्त्वों का अस्तित्व उनके प्रत्यक्ष का विषय होने में ही निहित है।[1] बार्कले का यह सिद्धांत निस्संदेह बहुतों को आश्चर्य-जनक प्रतीत होगा। स्वयं बार्कले का दृढ़ विश्वास था कि संवृतिवाद न केवल ईश्वरवाद का, वरन् ईसाई धर्म का भी आधार है। इसके विपरीत वह मानते थे कि भौतिक द्रव्य की स्वीकृति से अनीश्वरवाद की निस्सृति अनिवार्य है। उनके तर्क निम्नलिखित है: एक ओर भौतिक द्रव्य, अर्थात् गुणों का अदृश्य आधार स्वीकार नहीं किया जा सकता है; दूसरी ओर सामान्य अनुभव के विषय मानव बुद्धि पर इस प्रकार निर्भर नहीं है जिस प्रकार स्वप्न के विषय। अनुसंगत. इससे स्पष्ट है कि बार्कले के अनुसार भौतिक अस्तित्व मानसिक बात मात्र नहीं हैं; वे तो जागृत और स्वप्नावस्था का प्रभेद प्रकट करते हैं। फलतः मानव मन के अतिरिक्त एक दिव्य मन की आवश्यकता है, जिसपर भौतिक तत्त्वों का अस्तित्व आश्रित है। मानव मन तो अपर्याप्त है, लेकिन किसी प्रत्यक्ष-विषयी के अभाव में भौतिक अस्तित्व भी निरर्थक है। स्पष्ट रूप से सांवृतिक प्रत्ययवाद का प्रतिपादन करने में बार्कले का दृष्टिकोण धार्मिक है; और वास्तव में ईसाई धर्म पर ही उनका दृढ़ विश्वास था।

उपर्युक्त बात को ईशास्तित्व के लिए एक प्रमाण माना जा सकता है; परमेश्वर के स्वभाव के संदर्भ में भी बार्कले अज्ञेयवाद का सामना करते हैं। वह प्रत्ययों की द्वयर्थकता का सिद्धांत अस्वीकार कर स्कोलावादी "सादृश्य का सिद्धांत" अपनाते हैं। इसके अनुसार जिन प्रत्ययों का सृष्ट तत्त्वों के विषय में प्रयोग होता है, उनका परम तत्त्व पर भी आरोपण किया जा सकता है, बशर्ते इनमें से अपूर्णता निकाल दी जाय। इस विषय में बार्कले संत थोमस और सुआरेस का

---

1. esse est percipi.

अनुसरण करते हैं। वह परंपरागत सृष्टिवाद को भी अपने संवृतिवाद के अनुकूल बनाते है। भौतिक तत्त्व, जहां तक दिव्य ज्ञान के विषय हैं, नित्य रूप से अस्तित्व रखते है; जहां तक मानव प्रत्यक्ष के विषय हैं, वे सापेक्ष रूप से ही अस्तित्व रखते हैं। जब कि सृष्टि से पहले भौतिक तत्त्व केवल सृष्टिकर्त्ता के लिए ज्ञान-विषय थे, सृष्टि के परिणामस्वरूप वे मानव के लिए भी प्रत्यक्ष के विषय बन जाते हैं। सृष्टि से पहले भौतिक तत्त्वों का दिव्य मन का विषय होने का सिद्धांत औगुस्तीन के दिव्य आदर्शों से भिन्न नहीं है। फलतः अनुभववाद के परिप्रेक्ष्य में ईसाई दर्शन के अनेक मौलिक सिद्धांत बरकरार रहते हैं : इस निष्कर्ष को अस्वीकार करना कठिन होगा।

ग–कांत (17.4–1804)

समीक्षात्मक दार्शनिक होते हुए भी कांत ईसाई दर्शन से प्रभावित हुए। इसका प्रमाण हम उनकी अमरता और परमेश्वर की धारणा के संदर्भ में प्रस्तुत करेंगे। कांत अमरता को मात्र व्यावहारिक बुद्धि का विषय मानते हैं, शुद्ध बुद्धि का नहीं। एक प्रमाण इसप्रकार है : सद्गुण आवश्यक रूप से सुख का कारण होना चाहिए; फिर भी, अनुभव से हमें मालूम पड़ता है कि इन दोनों का अपवाद रहित कारण-कार्य का सम्बन्ध नहीं है; इसलिए फलदाता परमेश्वर के अलावा अमरता का अभ्युपगम भी स्वीकार करना पड़ता है। अमरता का एक दूसरा प्रमाण भी दिया जा सकता है। व्यावहारिक बुद्धि का आदेश है कि हम सद्गुण को अर्थात् संकल्प और नैतिक नियम का समन्वय प्राप्त करने का प्रयत्न करें। फिर, चूंकि संसार में एकमात्र जीवन की अवधि में सद्गुण की प्राप्ति नहीं की जा सकती है, बल्कि उस आदर्श की ओर निरंतर प्रगति मात्र हो सकती है, इसलिए अमरता को स्वीकार करना अनिवार्य है। यदि हम इस तर्क के निहितार्थ पर ध्यान दें, तो यह स्पष्ट होगा कि इस विषय में कांत पर ईसाई परंपरा का प्रभाव अवश्य ही पड़ा है। सबसे पहले अपने शुद्ध बुद्धि के अज्ञेयवाद के बावजूद कांत परंपरागत अमरता विश्वास को बचाना एक वांछनीय बात मानते हैं। फिर, वह अमरता को सदाचार के पुरस्कार की शर्त समझकर, इसे नैतिकता के दृष्टिकोण से देखते हैं। उल्लेखनीय बात है कि वह एकमात्र जीवन को अपर्याप्त मानने पर भी पुनर्जन्म जैसी परिकल्पना को नहीं, बल्कि एक ही जीवन की बाद में अमरता का सिद्धांत स्वीकार करते हैं। अन्त में उनके अनुसार अमरता का अभिप्राय है : अनन्य व्यक्ति का अनन्त अस्तित्व। स्पष्टतया, जिस अमरता को कांत सिद्ध करना चाहते हैं, उसकी धारणा उन्हें ईसाई पृष्ठभूमि से ही मिली।

कांत की परमेश्वर की धारणा के विश्लेषण से यही निष्कर्ष निकलेगा। कांत के अनुसार सद्गुण सुख का कारण तभी होगा, जब परमेश्वर का अस्तित्व स्वीकारा जाय। सुख तो इसमें निहित है कि सम्पूर्ण प्रकृति व्यक्ति के अनुकूल

रहे। लेकिन व्यक्ति मात्र का सम्पूर्ण प्रकृति पर अधिकार नहीं हो सकता है। ईश-अस्तित्व की आवश्यकता से बढ़कर कांत द्वारा प्रस्तुत ईश-स्वभाव की परिभाषा महत्त्व की है। परमेश्वर न केवल सम्पूर्ण संसार का कारण है, वरन् उससे भिन्न भी है। इसके अलावा फलदाता होने के लिए ईश्वर-स्वरूप मूलकारण को बुद्धिमान् होना भी आवश्यक है। मूल रूप से इस प्रकार की धारणा ईसाई परमेश्वर के प्रत्यय से भिन्न नहीं है। इसी प्रकार मरणोपरांत प्रकाशित अपनी रचना[2] में भी कांत परमेश्वर-प्रत्यय की परिभाषा इस प्रकार देते हैं : "परमेश्वर जगत् की कोई आत्मा नहीं है; उसे दोनों मानना चाहिए : सब तत्त्वों का मूलकारण और व्यक्ति-स्वरूप परम तत्त्व"। इस प्रकार परिभाषित तत्त्व का अस्तित्व भी कांत इस रचना में स्वीकार करते है : 'निरपेक्ष नियोग के अनुसार मानव को अपना कर्तव्य परमेश्वर की ओर से एक आदेश मानना चाहिए'। निस्संदेह कांत के अनेक मूलसिद्धांत ईसाई दृष्टिकोण से अस्वीकार्य हैं, विशेष रूप से उनकी यह मान्यता कि ईश्वर, अमरता और नीतिशास्त्र जैसी मूल धारणाएं शुद्ध बुद्धि का नहीं, सिर्फ व्यावहारिक बुद्धि का विषय हो सकती हैं। फिर भी, उपर्युक्त बातों के अलावा कांत ईसाई दृष्टिकोण का विरोध नहीं करते हैं। यह इससे स्पष्ट है कि—जैसा हम बाद में देखेंगे—कि मारेशल समीक्षात्मक दर्शन और थोमसवाद का सामंजस्य स्थापित कर सके।

घ–हेगल (1770–1831)।

हेगल पर भी ईसाई विचारधारा का प्रभाव पड़ा, इस बात का उदाहरण हम उनके धर्म-दर्शन के प्रसंग में प्रस्तुत करेंगे। वस्तुतः हेगल धार्मिक चेतना को कला और दर्शन के बीच निरपेक्ष तत्त्व समझने का एक मध्यवर्ती उपाय मात्र मानते हैं। धर्म तो दर्शन के विपरीत परम तत्त्व को शुद्ध प्रत्ययों द्वारा नहीं, प्रतीकात्मक प्रत्ययों द्वारा ही अभिव्यक्त करता है। फिर भी परतत्त्व-प्रत्यय का विषय धार्मिक चेतना और दार्शनिक मन, दोनों के लिए एक ही है। ध्यान देने योग्य बात है कि इस संदर्भ में धार्मिक चेतना का अभिप्राय ईसाई धार्मिक चेतना ही है। इसके अतिरिक्त, अनेक पहलुओं से हेगल के परमेश्वर-सम्बन्धी विचार संत थोमस के दृष्टिकोण से दूर नहीं हैं। उन्हीं के समान हेगल भी परमेश्वर को सत्ता ही मानते हैं। वह परम्परागत ईशास्तित्व के प्रमाणों को भी स्वीकार करते हैं : जो अव्यक्त रूप से धार्मिक विश्वास की प्रक्रिया है, उसे परम्परागत प्रमाण अभिव्यक्त ही करते हैं। फिर, जगत्-कारण-युक्ति को जो परिमित सत्ता के आधार पर अपरिमित सत्ता का निगमन करती है, हेगल अपने सत्ता-प्रत्यय के दृष्टिकोण से बोधगम्य समझते हैं। हेगल के अनुसार तो सत्ता-प्रत्यय दोनों ही है : परिमित

---

2. **Opus Postumum.**

और अपरिमित। हमारा तात्पर्य यह नहीं है कि हेगल ने संत थोमस का सत्तावाद अपनाया; फिर भी, पूर्वोक्त (हेगल) पर उत्तरोक्त का प्रभाव कल्पित नहीं है।

हेगल द्वारा प्रस्तुत धार्मिक चेतना की तीन अवस्थाएं लीजिए : सामान्य, विशेष और व्यक्तिगत अवस्था। सामान्य में, परमेश्वर अपने अपरिमित अस्तित्व में दिखाई पड़ता है; विशेष में, मानव परमेश्वर के सामने अपने पापी स्वभाव का अनुभव करता है; तथा व्यक्तिगत अवस्था में, मुक्ति के फलस्वरूप परमेश्वर और मानव की एकता पुनर्स्थापित हो जाती है। उपर्युक्त अवस्थाओं में व्यक्तिगत धार्मिक चेतना के विकास के अतिरिक्त विश्व-धर्मों का ऐतिहासिक अनुक्रम भी दिखाई पड़ता है। तदनुसार हेगल प्रथम अवस्था का उदाहरण ब्राह्मणवाद को मानते हैं, द्वितीय का यहूदी धर्म और तृतीय का ईसाई धर्म। अन्तिम को हेगल उत्तम धर्म भी कहते हैं। इस कारण बहुतों को हेगल अवश्य ही पक्षपाती प्रतीत होंगे। जो बात हमारे दृष्टिकोण से महत्त्व की है, वह यह कि निरपेक्ष प्रत्ययवाद में भी ईसाई धर्म प्रभावशाली दिखाई पड़ता है।

धर्म के विपरीत दर्शन परमेश्वर सम्बन्धी सत्य को शुद्ध बौद्धिक प्रत्ययों के माध्यम द्वारा अभिव्यक्त करता है। फलतः धर्मशास्त्र की आकस्मिक घटनाओं के स्थान पर दर्शनशास्त्र तथ्यों का तार्किक अनुक्रम प्रस्तुत करता है। उदाहरणार्थ, दर्शन में सृष्टि-कार्य परम तत्त्व की ओर से अनिवार्य अभिव्यक्ति माना जाता है, न कि स्वतन्त्र निर्णय के फलस्वरूप उत्पन्न सापेक्ष घटना मात्र। इस प्रतिपादन-प्रभेद के बावजूद दर्शन धर्म को असत्य प्रमाणित नही करता है। हेगल के दृष्टिकोण से परम धर्म–ईसाई धर्म–और परम दर्शन–निरपेक्ष प्रत्ययवाद–दोनों अपने-अपने ढंग से सत्य का प्रतिपादन करते हैं। इससे हमारे इस दावे की पुष्टि होती है, कि हेगल-दर्शन में ईसाई विचारधारा लुप्त नहीं हुई। अवश्य ही हेगल ईसाई धर्म-सिद्धांतों की व्याख्या देते हुए उनकी विकृति भी प्रस्तुत करते हैं, जैसे सृष्टिवाद के उदाहरण में; परन्तु देकार्त, बार्कले या कांत की तरह उनमें भी निर्विवाद रूप से ईसाई दर्शन का प्रभाव दृष्टिगोचर है। अब हम उन आधुनिक विचारकों की चर्चा करें जिन्हें अखंड ईसाई परम्परा का प्रतिनिधि कहा जा सकता है।

II. ईसाई दर्शन के प्रतिनिधि

क–बुद्धिवादी युग के दो धार्मिक विचारक

पास्कल (फ्रांस; 1623–1662)

अन्य समकालीन बुद्धिवादियों की तरह ही पास्कल को विज्ञान और गणित में रुचि थी; उन्होंने इस क्षेत्र में अनेक आविष्कारों को भी जन्म दिया। अपने धार्मिक मानस-परिवर्तन के पश्चात् वह धर्मशास्त्र के प्रश्नों पर ध्यान देने लगे। अपनी "विचार"[3] नामक अपूर्ण रचना में उन्होंने नास्तिकों और लापरवाह ईसाईयों

---

3. **Pens'ees.**

के लिए ईसाई धर्म के मंडन की रूपरेखा प्रस्तुत की है। पास्कल वास्तव में एक धार्मिक विचारक हैं जो विशेष रूप से मानव के परमेश्वर से सम्बन्ध पर बल देते हैं। सही अर्थ में उन्हें एक ईसाई दार्शनिक कहा जा सकता है : उनको ईसाई विश्वास से ही विचार-निर्माण की प्रेरणा मिली। ईसाई धर्म पास्कल के मानव और संसार-सम्बन्धी विचार का केन्द्र-बिन्दु है।

देकार्त के विपरीत, पास्कल निगमन-तर्क को दर्शनशास्त्र की उत्तम प्रणाली नहीं मानते हैं। तथाकथित "ज्यामितिक" प्रणाली भी अपने संकीर्ण क्षेत्र तक ही सीमित रहती है। वास्तव में बुद्धिवादी दृष्टिकोण अपने मूलसिद्धांतों को प्रमाणित नहीं कर सकता है; वे तो किसी दूसरे स्रोत, अर्थात् अंतर्बोध से उत्पन्न होते हैं। बौद्धिक विज्ञान में भी निगमन-बुद्धि को प्रयोग-प्रणाली की सहायता लेनी पड़ती है, लेकिन विशेष रूप से मानव का अंतिम लक्ष्य और नैतिक नियम निर्धारित करने में शुद्ध बुद्धि मानव दुर्बलता के कारण असमर्थ दिखाई पड़ती है। अतः तत्त्वमीमांसा में प्रस्तुत ईशास्तित्व के प्रमाण तर्कसंगत होते हुए भी नास्तिक को विश्वास देने के लिए अपर्याप्त हैं। इस प्रकार के प्रमाणों से मात्र जो देववाद[4] मिलता है, वह अनीश्वरवाद से कम अस्वीकार्य नहीं है। दार्शनिकों के अमूर्त परमेश्वर के विपरीत पास्कल "इब्राहिम, इसहाक और याकूब" अर्थात् बाइबिल के परमेश्वर को ही स्वीकार करते हैं। इन सब बातों से स्पष्ट है कि मात्र बुद्धि संतोषजनक नहीं हो सकती है। इसके अतिरिक्त हमें अंतर्दृष्टि की भी आवश्यकता है, जिसे पास्कल "हृदय" (या आत्मा) का ज्ञान कहते हैं। इससे ही विश्वासी या धार्मिक मनुष्य को परमेश्वर का प्रेम-सहित अवबोध मिल सकता है। तार्किक प्रमाण के अभाव में भी "हृदय" से मानव निश्चित रूप से सत्य प्राप्त कर सकता है। अपने धर्म-मंडन में पास्कल दोनों का प्रयोग करते हैं : बुद्धि का और अंतर्बोध (या उनकी शब्दावली में "हृदय") का।

पास्कल के धर्म-मंडन का एक प्रसिद्ध उदाहरण तथाकथित "बाजी-युक्ति" है। युक्ति इस प्रकार है : मान लीजिए कि धर्म की प्रमाणिकता सिद्ध न हो। इन परिस्थितियों में यदि हम धर्म को स्वीकार करें तो, हम सब कुछ प्राप्त करेंगे, खोयेंगे कुछ नहीं। इसके विपरीत, यदि हम धर्म को अस्वीकार करें तो हम सब कुछ खो देते हैं, प्राप्त कुछ नहीं कर पाते। पास्कल का तात्पर्य यह है कि परम-तत्त्व की तुलना में अन्य बातें नहीं के बराबर हैं। आस्तिक व्यक्ति को जगत् तो नहीं, वरन् परम तत्त्व अवश्य प्राप्त होगा; इसके विपरीत नास्तिक जगत् की शून्यता की प्राप्ति के लिए परम तत्त्व को दांव पर रखता है। निस्संदेह उपर्युक्त "युक्ति" को परमेश्वर का प्रमाण नहीं माना जा सकता है। पास्कल सिर्फ नास्तिक को यथार्थ प्रमाण स्वीकार करने के लिए तैयार करना चाहते हैं। उनकी मानव-

4. Deism.

धारणा भी उल्लेखनीय है। मनुष्य मानो दो चरम सीमाओं के बीच स्थित है : एक ओर अपरिमित तत्त्व, अर्थात् ब्रह्माण्ड; दूसरी ओर अत्यल्प तत्त्व, अर्थात् अणु है। उनकी तुलना में मनुष्य नगण्य प्रतीत होता है। वास्तव में इन दोनों से बढ़कर महत्त्व का मानव स्वयं है : उसी को तो विचार करने की क्षमता प्राप्त है। मानव का स्वभाव द्व्यर्थक भी है : एक ओर है मानव की दुर्दशा, अर्थात् पाप करने की प्रवृत्ति; दूसरी ओर है मानव की महत्ता, अर्थात् परमेश्वर को प्राप्त करने की क्षमता। दुर्बलता के ज्ञान बिना मानव अपने दिव्य लक्ष्य के कारण घमंडी होता; उधर अपनी महत्ता के ज्ञान बिना मानव पाप के कारण निराश होता। सिर्फ ईसा मसीह इस विप्रतिषेध का समाधान दे सकते हैं : वह तो दोनों ही हैं, दुर्बल मानव और महान् ईश्वर।

मलब्रांच (फ्रांस, 1638–1715)

पास्कल के विपरीत यह कैथोलिक पुरोहित देकार्त द्वारा प्रस्तुत गणित की प्रणाली को दर्शनशास्त्र के निर्माण के लिए उपयुक्त मानते हैं। बुद्धिवाद के अतिरिक्त उन पर संत औगुस्तीन की विचारधारा का भी प्रभाव पड़ा। मलब्रांच को इस अर्थ में एक ईसाई दार्शनिक कहा जा सकता है कि वह ईसाई धर्म के दृष्टिकोण से जगत् की व्याख्या करते हैं। उनके "अवसरवाद" और "दिव्य दर्शन" के सिद्धांत से स्पष्ट होगा कि मलबांच की तत्त्वमीमांसा ईश्वर केन्द्रित है : जैसे बार्कले अनुभववादी ढंग से ईसाई ईश्वरवाद का मंडन करते हैं, वैसे ही मलब्रांच बुद्धिवादी रीति से।

मलब्रांच परमेश्वर को ही सब घटनाओं का एकमात्र कारण मानते हैं; वह न केवल सम्पूर्ण तत्त्वों का सृष्टिकर्त्ता है, उनकी क्रियाओं का स्रोत भी है; इसलिए जो भौतिक कारण प्रतीत होते हैं, वे वास्तव में कारण नहीं, अवसर मात्र हैं; अर्थात् उनकी क्रियाशीलता परमेश्वर से निस्सृत होती है। उदाहरणार्थ, प्रतीति के विरुद्ध, मानव का संकल्प अपने निर्णय से बाहं नहीं हिला सकता है। मलब्रांच का यह कथन आश्चर्यजनक नहीं होगा यदि हम ध्यान में रखें कि देकार्त के मनः शारीरिक द्वैतवाद के अनुसार शरीर और आत्मा पृथक्-पृथक् द्रव्य होकर एक दूसरे पर कोई प्रभाव नहीं डाल सकते हैं। वास्तविक स्थिति यह है कि 'मेरे संकल्प के निर्णय के अवसर पर परमेश्वर ही मेरी बांह के हिलने का **कारण** बनता है'। तथाकथित कारण-कार्य का नियत सम्बन्ध परमेश्वर द्वारा स्थापित है। अतः, सामान्य रूप से, क–ख के अनुक्रम की व्याख्या इस प्रकार नहीं है, मानो क और इसके फलस्वरूप ख; बल्कि इस प्रकार है : **यदि** क मिलता है, तो परमेश्वर ही ख का कारण बनता है। इसलिए क के अवसर मात्र पर परमेश्वर ख के कारण के रूप में क्रियाशील होता है। परमेश्वर का अस्तित्व मलब्रांच प्रत्यय-सत्ता-युक्ति द्वारा प्रमाणित करते हैं। हमें अपरिमित तत्त्व का प्रत्यय प्राप्त है; लेकिन उस तत्त्व को

स्वयंभू होना आवश्यक है; कारण, अपरिमित तत्त्व का किसी दूसरे तत्त्व पर निर्भर होना स्वतःविरोधी होता। इस प्रमाण में भी देकार्त का प्रभाव स्पष्ट है।

मलब्रांच के अनुसार मानव बुद्धि भौतिक तत्त्वों के दर्शन परमेश्वर के साक्षात् ज्ञान में ही करती है। वह अपने सिद्धांत को संत औगुस्तीन द्वारा प्रस्तुत दिव्य प्रबोधन के अनुकूल समझते थे। मलब्रांच भौतिक तत्त्वों के विषय में दिव्य दर्शन को इसलिए आवश्यक मानते थे कि मानव बुद्धि रचनात्मक नहीं, ग्रहणशील ही है। अन्य सृष्ट तत्त्वों के समान बुद्धि भी अपने प्रत्ययों का कारण नहीं मानी जा सकती है। भौतिक तत्त्वों के आदर्श-प्रत्यय सृष्टिकर्त्ता के मानस में विद्यमान् हैं। फिर, सृष्टिकर्त्ता परमेश्वर मानव-बुद्धि का अंतर्यामी है, इसलिए उसी से मानव को भौतिक तत्त्वों के प्रत्यय प्राप्त होते हैं। उल्लेखनीय है कि मलब्रांच का दावा यह नहीं है कि हम ईश्वर-स्वभाव के ही दर्शन करते हैं, बल्कि उनके अनुसार हम केवल दिव्य स्वभाव में स्थित सृष्ट तत्त्वों के दर्शन करते हैं। भौतिक तत्त्वों के विपरीत हमें आत्मा का ज्ञान उपर्युक्त दिव्य दर्शन से प्राप्त नहीं है। चेतना के परिवर्तनों के आधार पर आत्मा के अस्तित्व और उसकी अमरता का निगमन किया जा सकता है। आत्मा के सम्बन्ध में मलब्रांच दिव्य दर्शन को इसलिए अनावश्यक मानते हैं कि चेतना के रूपान्तर असंदिग्ध तथ्य हैं। इसके विपरीत भौतिक तत्त्वों के विषय में संवेदन भ्रांतिपूर्ण प्रतीत होते हैं, इसलिए इनके सम्बन्ध में सत्य की प्राप्ति के लिए दिव्य दर्शन की आवश्यकता है। अतः कारण-सिद्धांत के समान मलब्रांच के ज्ञान-शास्त्र में भी परमेश्वर को प्राथमिकता मिलती है।

ख–19वीं शताब्दी के दो मौलिक विचारक

न्यूमैन (इंगलैंड, 1801–1890)

जॉन हेंरी कार्डिनल[5] न्यूमैन जन्म से एंग्लिकन संप्रदाय के सदस्य होकर भी गंभीर ऐतिहासिक अनुसंधान के फलस्वरूप बाद में कैथोलिक[6] बन गये। वह ऑक्सफर्ड विश्वविद्यालय के ख्यात विद्वान् थे। उन्होंने जिन दार्शनिक विचारों का प्रतिपादन किया, वे स्वतंत्र रूप से नहीं, धर्म-मंडन के संदर्भ में ही मिलते हैं। न्यूमैन द्वारा प्रस्तुत ईसाई धर्म के मंडन का अभिप्राय यह दिखाना है कि उसके धर्मसिद्धांत अतार्किक नहीं हैं। इसके अतिरिक्त ज्ञान के वर्णनात्मक विश्लेषण से उनके अनुसार यह दिखाई पड़ता है कि ईशास्तित्व की स्वीकृति ज्ञान की प्रवृत्ति का अंतिम परिणाम है। न्यूमैन परंपरागत स्कोलावाद से परिचित नहीं थे; लेकिन उन पर ब्रिटिश अनुभववाद का बहुत प्रभाव पड़ा।

---

5. "कार्डिनल" रोमन काथलिक कलीसिया का ऊंचे स्तर का एक पदाधिकारी है।
6. 16वीं शताब्दी से इंगलैंड में "एंग्लिकन" नामक संप्रदाय मुख्य ईसाई कलीसिया से पृथक् किया गया था।

अपने प्रसिद्ध "ऑक्सफर्ड विश्वविद्यालय उपदेशों" में न्यूमैन धार्मिक विश्वास सम्बन्धी समस्या उठाते हैं। ईशास्तित्व के विषय में हमें कोई अंतर्बोध प्राप्त नहीं है। इसके विपरीत वह हमें अनुमान से निष्कर्ष के रूप में ज्ञान है। इससे स्पष्ट है कि ईश्वर का विश्वास एक बौद्धिक क्रिया पर आधारित है। यह सच है कि उपर्युक्त बौद्धिक प्रक्रिया ज्ञाता की प्रवृत्तियों से प्रभावित होने के फलस्वरूप संदेहास्पद है, लेकिन क्या विश्वासहीनता को भी पूर्वाग्रहों से रहित कहा जा सकता है? सच पूछा जाय तो बुद्धि-क्रिया में भी पूर्वाग्रहों का अभाव नहीं है। उदाहरणार्थ, हम यह निर्विवाद रूप से स्वीकार करते हैं कि ज्ञानेंद्रियां विषयनिष्ठ ही हैं। शायद कोई यह आपत्ति उठाये कि हमारे स्वभाव से ही विवश होकर हमें इंद्रियों की विषय-निष्ठता को स्वीकार करना पड़ता है। इसके विपरीत, ईशास्तित्व मानने की कोई आवश्कता नहीं है। इस आपत्ति के विरुद्ध न्यूमैन इस बात का दावा करते हैं कि ईश्वर का विश्वास मानव के सद्-विवेक पर आश्रित है। फिर, अतिविवेक इंद्रियों के समान मानव स्वभाव का अंग ही है। अपनी "स्वीकृति का व्याकरण"[7] नामक रचना में न्यूमैन यही दावा करते हैं। किसी तर्कवाक्य को स्वीकार करने की शर्त यह है कि हमें उस वाक्य का बोध प्राप्त हो। यह बोध यदि तत्त्वों या व्यक्तियों से सम्बन्ध रखता है, तो उसे "वस्तु-सम्बन्धी" या "वास्तविक" कहा जा सकता है। यदि उसका सम्बन्ध प्रत्ययों मात्र से हो, तो वह "प्रत्यय-सम्वन्धी" बोध कहलाएगा। इस प्रभेद के अनुसार स्वीकृति भी दो प्रकार की होगी। "वस्तु-सम्बन्धी" स्वक्रृति "प्रत्यय-सम्बन्धी" स्वीकृति की अपेक्षा दृढ़ होकर आचरण पर ज्यादा प्रभाव डाल सकती है। अब प्रश्न उठता है: क्या ईश्वर की स्वीकृति "वास्तविक" स्क्रवीति कहला सकती है? ईश्वर के अंतर्बोध के अभाव में वह किसी व्यक्ति से सीधा सम्बन्ध नहीं रखती है। उस पर भी विश्वास एक असंदिग्ध तथ्य पर आधारित है, अर्थात् मानव का सद्-विवेक। इस तथ्य के आधार पर न्यूमैन ईश्वर-सम्बन्धी विश्वास का वास्तविक स्वीकृति होना इस प्रकार प्रदर्शित करते हैं:

जिस अंतर्विवेक की चर्चा है, उसका तात्पर्य है: सामान्य रूप से कर्तव्य का वह भाव जो स्वभाव से सब मनुष्यों को प्राप्त है। न्यूमैन के अनुसार इस कर्तव्य-भाव में एक ऐसे अधिकार का अवबोध निहित है, जो स्वयं मानव से परे प्रतीत होता है। नहीं तो इस अधिकार के अभाव में कर्तव्य का भाव कहां से होता? फिर, अंतर्विवेक नाना प्रकार के संवेगों से सम्बन्ध रखता है, जैसे आशा, भय, इत्यादि। इसके अतिरिक्त संवेग व्यक्ति के प्रति ही हो सकते हैं, निर्जीव व तत्त्वों के प्रति नहीं; इसलिए मानव से परे व्यक्ति-स्वरूप उस अधिकार में परमेश्वर को ही पहचाना जा सकता है। फलतः ईश्वर की स्वीकृति "प्रत्यय-सम्बन्धी" मात्र नहीं, "वास्तविक" ही है: वह तो अंतर्विवेक के माध्यम से व्यक्ति-स्वरूप परमेश्वर से ही सम्बन्ध

---

7. Grammar of Asseut.

रखती है। उपर्युक्त तर्क ईश्वर का उतना प्रमाण नहीं है, जितना ईश्वर की स्वीकृति का विश्लेषण है। अवश्य ही न्यूमैन को यह अज्ञात नहीं कि अंतर्विवेक जैसे तथ्यों से ईसाई धर्म का सत्य सिद्ध नहीं किया जा सकता है; अधिक से अधिक इनसे प्रायिकता ही मिलती है। फिर भी अनेक प्रायिकताओं के अभिसरण से एक निश्चित निष्कर्ष भी निकल सकता है। "वास्तविक" स्वीकृति होने के कारण ईसाई धर्म निगमन मात्र द्वारा प्रमाणित नहीं किया जा सकता है।

किर्कगार्द (डेन्मार्क 1813–1855)

सैद्धांतिक दर्शनशास्त्र, विशेषकर गेह्ल-प्रत्ययवाद के विरुद्ध अपने दर्शन का निर्माण कर किर्कगार्द समकालीन अस्तित्ववाद के प्रवर्तक हुए। पूर्ववर्ती दर्शन के विपरीत वह सामान्य स्वभाव पर नहीं, व्यष्टिगत अस्तित्व पर बल देने लगे। उनके अनुसार अस्तित्व इसमें निहित है कि मानव अपने स्वतन्त्र संकल्प से एक निश्चित उद्देश्य का, विशेष रूप से धार्मिक उद्देश्य का, चयन करे। अतः मानव ईश्वर से एकता को प्राप्त करने के लिए प्रयत्न करता है, परिमित तत्त्व की ओर से अपरिमित तत्त्व की अभिलाषा होती है। किर्कगार्द सैद्धांतिक दर्शन को ईसाई विश्वास की अभिव्यक्ति के लिए अपर्याप्त मानते हैं। तिस पर भी, उनकी ईसाई धर्म सम्बन्धी रचनाओं में अस्तित्ववादी दृष्टिकोण से दार्शनिक समस्याएं उठाई जाती हैं। वह डेन्मार्क राज्य कलीसिया का इसलिए सामना करते थे, क्योंकि उन्हें उसमें सिर्फ रुढ़िवाद दिखाई पड़ता था।

किर्कगार्द का एक उल्लेखनीय विचार यह है कि वह व्यष्टि को जन-समूह की अपेक्षा महत्त्वपूर्ण मानते हैं। कारण, व्यष्टि निरपेक्ष "तू" स्वरूप[8] परमेश्वर से सम्बन्ध स्थापित कर सकता है। किर्कगार्द के अनुसार उपर्युक्त व्यष्टि की धारणा ईसाई धर्म की एक विशेषता है। व्यक्तिगत होने के फलस्वरूप ईश्वर-मानव सम्बन्ध में दोनों की एकता होते हुए भी, पृथक्-पृथक् तत्त्वों का सम्बन्ध बना रहता है। गैर-ईसाई विचार-धाराओं में व्यष्टि सामान्य "एकम्" में विलीन हो जाता है—ऐसी किर्कगार्द की मान्यता है। फिर, व्यक्ति के विकास में इन तीन अवस्थाओं को पहचाना जा सकता है, अर्थात् संवेदनालंब नैतिक और धार्मिक अवस्था। पहली अवस्था में मानव पर इंद्रियों और संवेगों का शासन होता है, नैतिक नियमों का नहीं। इस प्रकार के जीवन का परिणाम सिर्फ निराश हो सकती है; आत्मसिद्धि स्वतन्त्र निर्णय द्वारा ही प्राप्त की जा सकती है। इस निर्णय के फलस्वरूप मानव पहली दशा त्यागकर, दूसरी अर्थात् नैतिक अवस्था में प्रवेश करता है। अब मानव सामान्य बुद्धि का आदेश स्वीकार कर नैतिक मानदण्ड का पालन करता है। फिर भी अपने पापी स्वभाव के कारण मानव को इस बात का अनुभव करना पड़ता है कि वह नैतिक नियम को पूरा नहीं कर सकता है। मानव तब तक इस समस्या

8. Absolute "Thou".

को हल नहीं कर सकेगा, जब तक वह इस बात को स्वीकार न करे कि 'मानव परमेश्वर के अधीन है। इस नये निर्णय के फलस्वरूप मानव तीसरी, अर्थात् धार्मिक अवस्था में पहुंचता है। साथ ही परमेश्वर की ओर से मानव को अपनी नैतिक असमर्थता पर विजयी होने के लिए सहायता मिलती है। फिर भी ईश-अस्तित्व, सैद्धांतिक प्रमाण का विषय न होकर, केवल विश्वास करने के निर्णय के फलस्वरूप स्वीकार किया जा सकता है। परन्तु जो बात विश्वास के अभाव में अनिश्चित-सी लगती थी, वह विश्वास के फलस्वरूप सिद्ध हो जाती है, क्योंकि धार्मिक अवस्था जीवन का शिखर ही है। अतः विश्वास आत्मसिद्धि का मूलभूत साधन है। ध्यान देने योग्य बात है कि विश्वास और पाप सम्बन्धी सिद्धांतों में किर्कगार्द पर प्रोटेस्टैंट[9] धर्मशास्त्र का बहुत प्रभाव पड़ा है।

ग—ईसाई दर्शन की समस्या और व्यक्तिवाद

ब्लोंदेल (फ्रांस 1861–1949)

ब्लोंदेल मुख्यतः अपनी "क्रिया"[10] नामक रचना के कारण दर्शनशास्त्र के इतिहास में विख्यात है। उनका दृष्टिकोण इसलिए मौलिक कहा जा सकता है कि वह मानव स्वभाव की गतिशीलता पर बल देते हैं। सन् 1931 में प्रचलित ईसाई दर्शन सम्बन्धी वाद-विवाद के प्रसंग में वह ईसाई दर्शन की संभावना पर ध्यान देने लगे। उनके अनुसार एक यथार्थ ईसाई दर्शन के निर्माण की आवश्यकता आज तक बनी हुई है। उनके विचार से पूर्ववर्ती प्रयत्न अपर्याप्त ही रहे हैं। ईसाई दर्शन की पहली शर्त यह है कि वह स्वतंत्र हो, नहीं तो उसको "दर्शन" का नाम तक नहीं दिया जा सकता है। वह "ईसाई" दर्शन तभी कहला सकेगा, यदि वह यह प्रदर्शित करे कि मानव आत्मनिर्भर नहीं है; फलतः मानव स्वभाव में अधिस्वाभाविक यथार्थता की प्रतीक्षा निहित है।

इस दृष्टिकोण से ब्लोंदेल पाश्चात्य दर्शनशास्त्र की व्याख्या करते हैं। वह स्कोलावाद को दो कारणों से अपर्याप्त मानते हैं। पहले, स्कोलावादी दर्शनशास्त्र धर्मशास्त्र के परिप्रेक्ष्य में प्रतिपादित होकर, स्वतंत्र नहीं, परतंत्र ही हैं। दूसरे धर्म का अधिस्वाभाविक सत्य दर्शन के बौद्धिक सत्य को सिर्फ बाहरी रूप से सीमित करता है। इसके विपरीत कांत का दर्शन स्वतंत्र और भीतरी दोनों रूपों में सीमित है। समीक्षात्मक दर्शन इसलिए आत्मसीमित कहा जा सकता है कि वह स्वयं ही तत्त्वमीमांसा के क्षेत्र में अपनी असमर्थता पहचानता है। परंतु ब्लोंदेल के अनुसार कांत के दर्शन में गतिशीलता पर कोई ध्यान नहीं दिया गया है। आदर्श दर्शन वही होगा जिसका केन्द्र स्वयं ज्ञाता हो, जो विषयीकेन्द्रित दर्शन हो। इसमें मानव

---

9. प्रोटेस्टैंट संप्रदाय 16वीं शताब्दी में मार्टिन लूथर के प्रभाव से उत्पन्न हुआ।
10. L' Action.

विचार और संकल्प-शक्ति पर इस प्रकार चिंतन किया जाएगा कि उनकी गतिशीलता मानव से परे परम तत्त्व की ओर अभिमुख प्रतीत हो जाय। दूसरे शब्दों में, विषयी पर चिंतन के फलस्वरूप उसके ज्ञान और कार्य का अन्तिम विषय परम तत्त्व ही दिखाई पड़ेगा। ध्यान देने योग्य बात है कि वह परम विषय मानव चेतना द्वारा रचित नहीं है; इसके विपरीत उस परम तत्त्व पर ही मानव चेतना निर्भर है।

ब्लोंदेल ने उपर्युक्त दर्शन का अपने क्रिया-दर्शन के रूप में निर्माण करने की कोशिश की है। "क्रिया" की परिभाषा है : मानव की वह आधारभूत गतिशीलता, जो अपने आपको विचारण और दूसरे कार्यों में अभिव्यक्त करती है। भिन्न-भिन्न संकल्प की क्रियाओं में एक ही मूलभूत संकल्प-शक्ति दिखाई पड़ती है, जो इन व्यष्टिगत क्रियाओं में सक्रिय होकर उनके विषयों से भी सीमित नहीं है। मानव की इस निरंतर अग्रसरता में एक ऐसे तत्त्व का अस्तित्व निहित है जो अन्य परिमित तत्त्वों से परे है। अब ये दो विकल्प हमारा सामना करते हैं : मानव या तो परम तत्त्व स्वरूप परमेश्वर को अपना अंतिम लक्ष्य माने, या उसके स्थान पर अपने आपको रखे। ब्लोंदेल ईश-अस्तित्व के लिए सैद्धांतिक प्रमाणों की संभावना तो मानते हैं, लेकिन उनके अनुसार परमेश्वर पर विश्वास केवल संकल्प के निर्णय द्वारा यथार्थ हो सकता है। जिस दर्शन की रूपरेखा ऊपर दी गई है, उसे "ईसाई" इस अर्थ में कहा जा सकता है कि वह परम तत्त्व के प्रति मानव की ग्रहणशीलता प्रदर्शित करता है। इसके अतिरिक्त वही दर्शन स्वयं में परम तत्त्व को प्राप्त करने के लिए असमर्थ प्रतीत होता है। फलतः उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि मानव को परमेश्वर की ओर से आत्म-दान की प्रतीक्षा करनी पड़ती है। इस प्रकार का दर्शन आत्मसीमित होकर अधिस्वाभाविक धर्म की आवश्यकता प्रमाणित करता है।

लाबेर्थोन्येर (फ्रांस, 1860–1932)

इस कैथोलिक पुरोहित ने धर्म-दर्शन के विषय में अनेक रचनाएं कीं। उनके जीवनकाल में धर्माधिकारियों ने उन रचनाओं के प्रकाशन का निषेध किया। लाबेर्थोन्येर पास्कल और ब्लोंदेल से प्रभावित हुए। वह अरस्तूवादी स्कोलावाद की उस धारणा का खंडन करते हैं जिसके अनुसार दर्शनशास्त्र ईसाई धर्म से पूर्णतया स्वतंत्र होकर धार्मिक सत्य का आधार माना जाता है। इसके विपरीत वह संत औगुस्तीन का दृष्टिकोण अपनाकर धर्म और दर्शनशास्त्र का पृथक्करण नहीं करते हैं। दूसरे शब्दों में, जबकि दर्शनशास्त्र मानव बुद्धि से निर्मित है, धर्मशास्त्र दिव्य प्रकाशना पर आधारित है : इस प्रकार के प्रतिरोध को लाबेर्थोन्येर अस्वीकार करते हैं। वह ईसाई धर्म को ही परम दर्शन मानते हैं; इसके अतिरिक्त और कोई यथार्थ दर्शन नहीं हो सकता।

लाबेर्थोन्येर द्वारा प्रस्तुत ईसाई दर्शन मानव जीवन को सार्थकता देने की चेष्टा करता है। भिन्न-भिन्न तत्त्वों के प्रयोग द्वारा मानव को आत्मसिद्धि प्राप्त करनी चाहिए। अवश्य ही भौतिक जगत् मानव स्वार्थ का विषय बन सकता है;

इससे कहीं अधिक अच्छा यह होगा यदि जगत् मानव के लिए चिंतन का विषय हो जाय। फिर, अन्य मनुष्यों के साथ मानव कर्तव्य-पालन के आधार पर एकता स्थापित कर सकता है। इस संदर्भ में लाबेर्थोन्येर व्यक्तिवाद पर काफी बल देते हैं। स्वेच्छा से आत्मत्याग करने के परिणामस्वरूप मानव अपने स्वार्थ पर विजय प्राप्त कर सकता है। फिर, सब को वैयक्तिक रूप से सामान्य आदर्शों की सेवा करनी चाहिए, लेकिन मानव-जाति एक ही परमेश्वर से उत्पन्न होकर उसी में अपना अंतिम लक्ष्य प्राप्त कर सकती है। इस प्रकार सामाजिक आत्मसिद्धि की समस्या केवल धार्मिक परिप्रेक्ष्य में हल की जा सकती है। इससे प्रतीत होता है कि लाबेर्थोन्येर का दर्शन जीवन से संबंधित प्रश्नों तक ही सीमित है।

मून्येर (फ्रांस, 1905–1950)

लाबेर्थोन्येर के अतिरिक्त ईसाई व्यक्तिवाद का एक दूसरे प्रतिपादक मून्येर हैं। आप सुप्रसिद्ध फ्रांसीसी पत्रिका, "चित्"[11] के संपादक थे मून्येर व्यक्तिवाद-विषयक अनेक रचनाओं के लेखक हैं। यह सच है कि व्यक्तिवाद समकालीन फ्रांसीसी दर्शन की एक सामान्य प्रवृत्ति रही है, जो अस्तित्वाद से भी संबंध रखती है; परन्तु मून्येर (और लाबेर्थोन्येर) का व्यक्तिवाद ईसाई परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत है। व्यक्तिवाद सैद्धांतिक "दर्शन" मात्र नहीं कहा जा सकता है, वह तो व्यक्तियों की रचनात्मक स्वतंत्रता पर बल देता है। इसके अलावा वह अपने आपको व्यावहारिक क्रिया के क्षेत्र में भी अभिव्यक्त करता है। मून्येर के अनुसार मानव पूर्णतया शारीरिक और पूर्णतया आत्मिक, दोनों है, न केवल शारीरिक या केवल आत्मिक (जैसे इसका स्वरूप क्रमशः भौतिकवाद और अध्यात्मवाद में ग्राह्य है)। द्वैतवाद सम्मत मानव सिद्धांत भी संतोषजनक नहीं है, क्योंकि इसमें शरीर और आत्मा एक दूसरे से पृथक् रहते हैं। फिर भौतिकवाद के विपरीत, जो मानव को प्रकृति से परतंत्र बनाता है, हमें प्रकृति को मानव के अनुकूल करना चाहिए। सर्वाधिकारवाद के विपरीत मानव को समाज का एक अंश मात्र नहीं माना जा सकता। फिर, व्यक्तिवाद व्यष्टिवाद से भिन्न है। जबकि व्यष्टि अहंकेंद्रिक है, व्यक्ति दूसरों से संबंधित है; और प्रत्येक मनुष्य समाज को अपना वैयक्तिक योगदान दे सकता है। मून्येर ने पूंजीवाद का सामना करके एक व्यक्तिवादी समाजवाद स्थापित करने की कोशिश की। फिर भी उनकी दृष्टि मात्र ऐहिक तत्त्वों तक सीमित नहीं थी बल्कि उनसे परे आध्यात्मिक और धार्मिक मूल्य पर भी गई।

घ—नव-थोमसवाद में दो प्रवृत्तियां

परम्परागत नव-थोमसवाद

!7वीं शताब्दी से लेकर परवर्ती शताब्दियों में स्कोलावाद की क्रमशः अवनति

---

11. **Esprit.**

हुई। 19वीं शताब्दी के अंत में पोप[12] लेओ त्रयोदश की ओर से स्कोलावाद के पुनर्जागरण को औपचारिक रूप से प्रेरणा मिली। उन्होंने ईसाई विद्वानों से अपील की कि वे संत थोमस की मूल रचनाओं का नये सिरे से अध्ययन करें तथा उनकी गहरी अंतर्दृष्टि का समकालीन विचारधाराओं से सामंजस्य स्थापित करें। इसके फलस्वरूप कैथोलिक दर्शन-विभागों में दार्शनिक शिक्षण का नवीकरण हुआ। परम्परागत नव-थोमसवाद के प्रतिष्ठित प्रतिपादकों में प्रथम आते हैं कार्डिनल मेरस्येर (बेल्जियम, 1851–1926) जिन्होंने अनुभववाद, प्रत्यक्षवाद और कांतवाद के विरुद्ध नव-थोमसवाद को विस्तार से प्रस्तुत किया तथा दूसरे हैं गरिगु-लाग्रांज (फ्रांस, 1877–1964), जिनकी "परमेश्वर; उसका अस्तित्व और स्वभाव" नामक रचना बहुत विख्यात है[13]।

मारितें (फ्रांस, 1882–1973)

थोमसवाद के पुनर्जागरण में सब से महत्त्वपूर्ण योगदान शायद इस फ्रांसीसी दर्शनशास्त्र के प्राध्यापक का है। नव-थोमसवाद की दूसरी समकालीन विचारधारा के विपरीत वह समीक्षात्मक रूप से ज्ञान-समस्या उठाने से इनकार करते हैं। इसलिए वह हमारे ज्ञान की विषयनिष्ठता को अविवाद्य ही मानते हैं। अपनी "ज्ञान की अवस्थाएं"[14] नामक रचना में वह ज्ञान-शाखाओं का तारतम्य प्रस्तुत करते हैं। विद्वानों का यह अनुक्रम जिस आधार पर आश्रित है, वह अरस्तू और संत थोमस से प्रस्तुत "अमूर्तीकरण के तीन सोपानों" का सिद्धांत है। भौतिक जगत् का विज्ञान अनुक्रम की निम्नतम अवस्था है, जिसमें हम गौण विशेषताओं की उपेक्षा कर तत्त्वों का केवल परिमाण और संख्या के दृष्टिकोण से अध्ययन करते हैं। फलतः, मारितें के अनुसार, भौतिक विज्ञान तत्त्वों की सत्ता तक नहीं पहुंच सकता है। इसके लिए एक दूसरे विज्ञान की आवश्यकता है, अर्थात् प्रकृति-दर्शन की। इस उच्चतर दृष्टिकोण से सत्ता का ज्ञान अवश्य ही प्रप्त किया जा सकता है। फिर भी जिस सत्ता की चर्चा यहां अपेक्षित है, वह परिवर्तनशील सत्ता मात्र है, शुद्ध सत्ता नहीं। सत्ता के स्वरूप में सत्ता सिर्फ तीसरे ज्ञान का विषय हो सकती है, अर्थात् तत्त्वमीमांसा का। वह तो गौण विशेषताओं, परिमाण और परिवर्तन को छोड़कर मात्र सत्ता और उसके स्व लक्षणों पर ध्यान देती है। स्पष्टतः, जिस तत्त्वमीमांसा को मारितें प्रधानता देते हैं, वह परंपरागत थोमसवाद ही है। यहां इसका प्रतिपादन करने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि उसके मूल-सिद्धांत संत थोमस सम्बन्धी परिच्छेद में दिए जा चुके हैं।

---

12. "पोप" या "संत पापा" काथलिक कलीसिया का परम अधिकारी माना जाता है
13. ग्रंथ-सूची को देखें।
14. **The Degrees of Knowledge.**

मारितें ने थोमसवादी दृष्टिकोण से सामाजिक और राजनीतिक दर्शन का भी निर्माण किया है। वह एक नयी सभ्यता की घोषणा करते हैं, जो मानव केंद्रित नहीं, ईश-केंद्रित होगी। इसमें यथार्थ भ्रातृत्व का आदर्श पूरा किया जाएगा; इसमें मानव-योग्यता और मानव-अधिकारों का आदर भी किया जाएगा। मानव जाति आध्यात्मिक स्वतन्त्रता प्राप्त करने का प्रयास करती है। शिक्षा का यह उद्देश्य होता चाहिए कि मानव में आंतरिक स्वतन्त्रता स्थापित की जाय। मारितें ने कला-दर्शन के विषय में भी लिखा है। उनका दृढ़ विश्वास था कि परंपरागत होते हुए भी नव-थोमसवाद आधुनिक दर्शन और विज्ञान की अंतर्दृष्टियों को आत्मसात् कर सकता है।

जीलसों (फ्रांस, 1884–1978)

स्कोलावाद के पुनर्जागरण के संदर्भ में जीलसों ने मध्यकालीन दर्शन के इतिहास क्षेत्र में महान् कार्य किया है। ऐतिहासिक रचनाओं के अतिरिक्त उन्होंने अपने दार्शनिक विचारों का भी वर्णन किया है। जीलसों को परंपरागत नव-थोमसवाद का प्रतिनिधि माना जा सकता है, क्योंकि वह भी मारितें के सदृश्य समीक्षात्मक दृष्टिकोण अस्वीकार करते हैं। उनके अनुसार स्वभाव-संबंधी दर्शन के विपरीत संत थोमस यथार्थ अस्तित्ववाद के प्रतिपादक हैं : उनकी तत्त्वमीमांसा तो सत्ता से ही संबंध रखती है। जैसे इस अध्याय के तीसरे भाग में स्पष्ट किया जाएगा जीलसों एक ऐसे ईसाई दर्शन का समर्थन करते हैं जो स्वतन्त्र होते हुए भी ईसाई धर्म-सिद्धांतों के बाहरी प्रभाव से निर्मित्त हुआ है।

समीक्षात्मक थोमसवाद

मारेशल बेल्जियम (1878–1944)

समकालीन थोमसवाद में दूसरी विचारधारा, अर्थात् समीक्षात्मक थोमसवाद के प्रवर्त्तक मारेशल हैं। उनका दृढ़ विश्वास था कि दार्शनिक को कांत की समीक्षात्मक प्रणाली अपनानी चाहिए। फिर भी समीक्षात्मक दर्शन का संशोधन करना पड़ता है, ताकि कांत के निषेध के विपरीत यथार्थ तत्त्वमीमांसा का निर्माण किया जा सके। इसके अलावा मारेशल इस बात का दावा करते हैं कि समीक्षात्मक दृष्टिकोण कम-से-कम अव्यक्त रूप से संत थोमस के मूल-सिद्धांतों में निहित है। उन्होंने अपना विचार पांच जिल्दों की इस रचना में प्रस्तुत किया है, जिसके शीर्षक का अनुवाद, अक्षरशः इस प्रकार है : "तत्वमीमांसा का प्रस्थान-बिंदु"[15] अर्थात् तत्त्वमीमांसा का निर्माण करने की भूमिका। शीर्षक का अर्थ स्पष्ट ही है : जब कि कांत के दृष्टिकोण से तत्वमीमांसा की सम्भावना तक नहीं हो सकती है, संशोधित समीक्षात्मक

---

15. **Le point de depart de la metaphysique.**

दृष्टिकोण से यथार्थ तत्त्वमीमांसा का प्रारम्भ हो सकता है। मारेशल के अनुसार बुद्धि की गतिशीलता संत थोमस का एक मूलभूत सिद्धान्त है। उसके आधार पर शुद्ध बुद्धि अनुभवातीत तत्त्वों के विषय में भी यथार्थ ज्ञान प्राप्त कर सकती है। वास्तव में बुद्धि की स्वाभाविक गतिशीलता ज्ञान-प्राप्ति का सबसे महत्त्वपूर्ण प्रागनुभव आधार है, लेकिन कांत ने इस पर कोई ध्यान नहीं दिया। ज्ञान के इस मूलभूत आधार से निहितार्थों को निकालकर मारेशल परम तत्त्व का अस्तितत्व भी प्रमाणित करते हैं। उनके अनुसार बुद्धि के प्रत्येक निर्णय में परम तत्त्व की स्वीकृति निहित है। इस पुस्तक के सैद्धांतिक विभाग में हम इस निगमन का विस्तार से वर्णन करेंगे। संक्षेप में, अपनी गतिशीलता के प्रभाव से बुद्धि भिन्न-भिन्न निर्णयों के परिमित विषयों से आगे बढ़कर एक अपरिमित तत्त्व की ओर अग्रसर प्रतीत होती है। यदि इस परम तत्त्व का अस्तित्व नहीं होता, तो साधारण ज्ञान की प्राप्ति असंभव ही होती। कारण, गति के लक्ष्य के अभाव में, गति को ही समाप्त होना अनिवार्य है। फिर भी, बुद्धि की गतिशीलता एक निर्विवाद तथ्य है। इससे परम तत्त्व का अस्तित्व संपूर्ण ज्ञान का मूलभूत प्रागनुभव आधार दिखाई पड़ता है। कांत के विपरीत ईश-अस्तित्व व्यावहारिक अभ्युप्राग मात्र नहीं, सैद्धांतिक आवश्यकता ही मालूम पड़ता है।

उपर्युक्त बातों से स्पष्ट है कि तथाकथित समीक्षात्मक थोमसवाद संशोधित समीक्षात्मक प्रणाली का प्रयोग करने से परंपरागत तत्त्वमीमांसा को पुनर्स्थापित करने की चेष्टा करता है। उसका उद्देश्य यह है: निर्विवाद आधार पर एक ऐसी तत्त्वमीमांसा को निर्मित करना जिसमें कोई धार्मिक या दार्शनिक पूर्वधारणा न हो। समीक्षात्मक दर्शन के उस "प्रस्थान-बिंदु" से वह अपने भिन्न-भिन्न सिद्धान्तों का निगमन करते हैं। परिणामतः उनके अनुसार दर्शन का तात्पर्य है: ज्ञाता का अपनी चेतन क्रियाओं पर चिंतन। मारेशल ने सिर्फ इस तत्त्वमीमांसा की नींव डाली है। उनसे प्रभावित होकर अनेक विचारकों ने इस समीक्षात्मक थोमसवाद का विस्तार किया है। उनमें जर्मन-भाषी इ, कोरेथ, जे. बी, लोत्स और के. सहनर प्रमुख हैं; अन्य हैं अंग्रेजी-भाषी बी. लोनर्गन और फ्रांसीसी-भाषी ऐ. मार्क और जे. दि. फिनाँत। दूसरे भाग में हम जिस ईसाई दर्शन का प्रतिपादन करेंगे, वह पूर्वोक्त विचारकों के लेखों पर आधारित होगा।

च– अस्तित्ववाद और विकासवाद

मार्सेल (फ्रांस, 1889–1973)

गाब्रिएल मार्सेल अस्तित्ववादी विचारधारा के एक ईसाई प्रतिनिधि हैं। वास्तव में उन्होंने अपने दार्शनिक अनुसंधान के फलस्वरूप ईसाई धर्म को स्वीकार किया। उसके अनुसार दर्शन का उद्देश्य है: मानव अनुभूति से तत्त्वमीमांसात्मक

निहितार्थ निकालना-विशेषकर मनुष्यों के पारस्परिक और उनके परमेश्वर से संबंधों का अर्थ स्पष्ट करना। मार्सेल का दर्शन प्रस्तुत करने में अनेक कठिनाइयां आती हैं। उसकी दृष्टि में दार्शनिक सिद्धान्त अविच्छेद्य रूप से उस अन्वेषण से संयुक्त है, जिससे वे प्राप्त किये जाते हैं, इसलिए हम केवल नये सिरे से अन्वेषण करने पर इन दार्शनिक सिद्धान्तों को अपना सकते हैं। दूसरे शब्दों में, सत्य की प्राप्ति पूर्णतः व्यक्तिगत बात है। फिर, मार्सेल अपने विचारों का सुव्यवस्थित रूप से प्रतिपादन नहीं करते हैं। यहां उनके सिर्फ एक-दो मूल विषयों को समझाया जा रहा है।

मार्सेल का कथन है कि आधुनिक दुनिया में वैयक्तिक मूल्यों का अभाव है, क्योंकि इसमें व्यक्तित्वलोप हुआ है। मानव व्यक्ति नहीं, व्यष्टि मात्र बन गया है। उसका अस्तित्व उसके व्यावहारिक व्यवसाय में ही निहित है, जैसे सामाजिक कार्य या आर्थिक क्रिया। दूसरे शब्दों में मानव अस्तित्व "समस्या" मात्र प्रतीत होता है, उसका "रहस्य" का पहलू अदृश्य हो गया है। मार्सेल समस्या और रहस्य का इस प्रकार प्रभेद करते हैं समस्या एक ऐसा प्रश्न है जिसका मानो, बाहर से समाधान किया जा सकता है, अर्थात् मानव स्वयं ही समस्या का अंश नहीं है। संक्षेप में, समस्या पूर्णतया विषयनिष्ठ है। इसके विपरीत रहस्य में व्यक्ति भी उलझा हुआ है, रहस्य मानव से ही संबंध रखता है। उदाहरणार्थ, मानव क्या है ? यह प्रश्न यदि एक समस्या मात्र समझाया जाय, तो इसका उत्तर होगा : मानव शरीर और आत्मा से संश्लिष्ट है। इस दृष्टिकोण से दोनों अवयवों को एक नहीं किया जा सकता है। कारण, इससे ऐसा प्रतीत होता है कि "मुझे एक शरीर प्राप्त है"। रहस्य की दृष्टि से प्रश्न का उत्तर होगा कि "मैं अपना शरीर ही हूं"[16] अर्थात् शरीर मानव तत्त्व का एक अविच्छिन्न पहलू है। इस प्रकार मानव की एकता विरोधाभास के रूप में अभिव्यक्त की जाती है।

समस्या-रहस्य प्रभेद का उपयोग हम प्रेम के विषय में भी कर सकते हैं। चिंतन से पहले हम प्रेम का अनुभव करते हैं। फिर, प्रेम को एक निर्वैयक्तिक समस्या मान कर हम उसकी परिभाषा कर सकते हैं, उसके लक्षणों को निर्धारित कर सकते हैं, इत्यादि। इस प्रथम स्तर के चिंतन के अतिरिक्त प्रेम द्वितीय स्तर के चिंतन का विषय भी हो सकता है। अब विचारक प्रेम की फिर प्रत्यक्ष अनुभूति करते हुए इसमें चिंतनपूर्वक विलीन हो जाता है : इसके परिणामस्वरूप प्रेम फिर एक व्यक्तिगत रहस्य बन जाता है। इस द्वितीय चिंतन की सहायता से ही दार्शनिक सत्ता के क्षेत्र में प्रवेश कर सकता है। अंतरवैयक्तिक अनुभूति विशेष रूप से इस प्रकार के चिंतन का विषय हो सकती है। उदाहरणार्थ, प्रेम सहित आशा हमें

---

16. मार्सेल की मौलिक शब्दावली : **I have** a body/**I am** my body.

अमरता का आश्वासन दे सकती है। मृत प्रियतम की भौतिक अनुपस्थिति में भी उसकी आध्यात्मिक उपस्थिति के अनुभव के आधार पर हमें उस व्यक्ति की अमरता का निश्चय प्राप्त हो सकता है। इस प्रकार के चिंतन के परिणामस्वरूप अभौतिक घटनाओं का ज्ञान संभव हो जाता है। ईश-अस्तित्व बौद्धिक प्रमाण का विषय नहीं हो सकता है; हमें उसकी वास्तविकता का साक्षात् रूप से सामना करना चाहिए। प्रेम जैसा अंतरवैयक्तिक अनुभव परमेश्वर की ओर संकेत करता है; प्रार्थना में भी हम उसका साक्षात्कार कर सकते हैं। फिर भी, मानव परमेश्वर का अस्तित्व स्वीकार करने से इनकार कर सकता है।

तैयार दि शार्दे (फ्रांस, 1881–1955)

तैयार अपने व्यवसाय से वैज्ञानिक होकर भी दर्शन में विज्ञान और धर्म का सामंजस्य स्थापित करने की चेष्टा करते हैं। उनका उद्देश्य यह भी दिखाना है कि ईसाई धर्म-सिद्धांत आधुनिक वैज्ञानिक दृष्टि से असंगत नहीं है। उसकी मुख्य रचनाएं हैं : "मानव प्रत्यक्ष तत्त्व के रूप में"[17] अर्थात् : मानव संपूर्ण विज्ञान के दृष्टिकोण से। "संपूर्ण विज्ञान" वही है जिसमें न तो केवल भौतिक तत्त्वों का, बल्कि आत्मिक वास्तविकता का भी उल्लेख है। तैयार जबकि उपर्युक्त रचना में स्वयं द्वारा प्रतिपादित 'विकास का सिद्धान्त' प्रस्तुत करते हैं, "दिव्य वातावरण"[18] नामक पुस्तक में अपने मसीह-केन्द्रित दर्शन का वर्णन करते हैं। धार्मिक अधिकारियों के निषेध, के फलस्वरूप तैयार की रचनाएं सिर्फ उसके मरणोपरांत प्रकाशित हो सकीं। यहां हम उपर्युक्त दो रचनाओं का सारांश प्रस्तुत करेंगे।

विकास की पहली अवस्था में भौतिक तत्त्व उत्पन्न हुए। इस संदर्भ में तैयार की मान्यता है कि इन निम्नतम श्रेणी के तत्त्वों में भी "आत्मिक" अवयव का अभाव नहीं है। सब तत्त्वों में इन दो पहलुओं का प्रभेद किया जा सकता है, बाह्य पहलू, जो प्रेक्षण का विषय है, और आंतरिक पहलू, अर्थात् तत्त्वों की चेतना-शक्ति। स्पष्ट रूप से भौतिक तत्त्वों के विषय में तैयार "चेतना" और "अध्यात्मिक" शब्दों का सिर्फ मोटे तौर से प्रयोग करते हैं। "चेतना" की सर्वव्यापिता के सिद्धांत द्वारा वह सृष्ट तत्त्वों की अविछिन्नता पर बल देना चाहते हैं। विकास की दूसरी अवस्था प्राणियों की है। विकास-नियम के अनुसार तत्त्वों की जितनी अधिक जटिल संरचना है, उतनी अधिक उनकी चेतना भी होगी। इसलिए, प्राणियों की विविधता में तंत्रिका-तंत्र की जटिलता विकास की अधिक चेतना की ओर प्रवृत्ति की निर्देशिका है। कारण, तंत्रिका-तंत्र दूसरे अंगों से बढ़कर चेतना से संबंध रखता है। इससे यह भी स्पष्ट है कि अपने विकास के सिद्धांत में तैयार सोद्देश्यता स्वीकार करते हैं।

---

17. The Phenomenon of Man.
18. The Milieu, Divin.

विकास की तीसरी अवस्था विवेक या विचार-शक्ति की है। उपर्युक्त तत्त्वों की अविछिन्नता के बावजूद तैयार यह मानते हैं कि जीवन और विचार क्रमशः पूर्ववर्ती अवस्थाओं से भिन्न है। वे न केवल तत्त्वों के तारतम्य में उच्चतर सोपान है, बल्कि प्रकार से भी भिन्न हैं। फलतः तैयार का विकासवाद भौतिकवाद से दूर रहता है। फिर, वर्तमान काल में भी विकास समाप्त नहीं हुआ, वरन् आगे बढ़ता रहता है। भविष्य में तैयार भिन्न-भिन्न व्यक्तिगत चेतनाओं के सम्मिलन की प्रतीक्षा करते हैं, जिससे एक "सामूहिक चेतना" उत्पन्न होगी। लेकिन मानव-जाति की इस अधिक घनिष्ठ एकता में भिन्न-भिन्न व्यक्तियों का एक पृथक् अस्तित्व विलीन नहीं होगा। विकास का एक दूसरा नियम यह है कि "जितनी अधिक एकता, उतनी अधिक विविधता भी"। अंत में विकास-प्रगति के परिप्रेक्ष्य में तैयार परम तत्त्व के अस्तित्व का अनुमान करते हैं। विकास का परिणाम होने के विपरीत परम तत्त्व उद्देश्य के रूप में उसकी प्रगति का कारण दिखाई पड़ता है। इसलिए विकास अब तक मानव-केंद्रित होते हुए भी, अंत में ईश-केंद्रित सिद्ध हो जाता है।

तैयार की मसीह-केंद्रित दृष्टि संक्षेप में इस प्रकार अभिव्यक्त की जा सकती है, संपूर्ण विश्व मानव के लिए परमेश्वर से एकता प्राप्त करने का साधन हो सकता है। पलायनवाद के विरुद्ध तैयार इस बात पर बल देते हैं कि मानव क्रियाओं का अपना मूल्य है; पारलौकिक सिद्धि के दृष्टिकोण से भी ऐहिक मूल्यों की प्राप्ति महत्त्व की है। क्रियाशीलता के समान निष्क्रियता भी साधना हो सकती है। कारण, आत्मत्याग भी आत्मसिद्धि प्राप्त करने के लिए आवश्यक है। दुःखभाग भी दिव्यीकरण का उपाय हो सकता है। क्रियाशीलता और निष्क्रियता की संपूर्णता से मानव जीवन का "दिव्य वातावरण" रचित है : अर्थात् उसकी सब परिस्थितियां एक साधना सी दिखाई पड़ती हैं। इतना ही नहीं, हमारी क्रियाशीलता और विशेषकर हमारी निष्क्रियता के माध्यम से परमेश्वर हम पर अपना प्रभाव डालता है। वास्तव में परमेश्वर ईसा मसीह ही है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि संसार के "दिव्य वातावरण" में मसीह सर्वव्यापी है। इस पर भी विश्व-स्वरूप मसीह ऐतिहासिक व्यक्ति भी हैं, और परमेश्वर भी। सर्वेश्वरवाद इसलिए अस्वीकार्य है कि इसमें प्रेम अस्तित्व नहीं रख सकता है; लेकिन, प्रेम ही ईश-प्राप्ति का उत्तम साधन है।

III ईसाई दर्शन की धारणा

1931 का वाद-विवाद

पूर्ववर्ती अध्यायों में हमने ईसाई दर्शन का ऐतिहासिक वर्णन किया है। ऐतिहासिक विकास के सिलसिले में ईसाई दर्शन अपने स्वभाव पर चिंतन करेगा, यह सामान्य अपेक्षित बात ही है। वास्तव में यह समस्या 1931 में ही उभर कर

सामने आई। अवश्य ही, पहले दर्शन और धर्म शास्त्र-प्रभेद का प्रश्न उठाया गया था और हल भी किया गया था। फिर भी अभी तक ईसाई दर्शन का विशिष्ट स्वभाव निर्धारित नहीं था। पहले हम 1931 के वाद-विवाद का उल्लेख करेंगे; बाद में इस प्रश्न के विषय में वर्तमान दृष्टिकोण का प्रतिपादन करेंगे।

1928 में ब्रेह्येर ने एक भाषण में पूछा था : 'क्या "ईसाई दर्शन" की चर्चा हो सकती है'? उन्होंने अपने प्रश्न का निषेधात्मक उत्तर दिया था। ईसाई दर्शन की धारणा ही उन्हें स्वतः विरोधी प्रतीत होती थी। दर्शनशास्त्र के इतिहासकार जीलसों ने इस निषेध का सामना किया। उन्होंने अपने सिद्धांत को ऐतिहासिक आधार पर स्थापित करने का प्रयत्न किया। उनका तर्क इस प्रकार है : ईसाई दर्शन यदि ऐतिहासिक तथ्य है, तो इसकी धारणा भी सार्थक है। जीलसों द्वारा प्रस्तुत ईसाई दर्शन की परिभाषा इस प्रकार है : जो दर्शन प्रणाली की दृष्टि से बौद्धिक है और जिसकी उत्पत्ति ईसाई धर्म के प्रभाव से हुई, उसे वास्तव में ईसाई धर्म और दर्शन, दोनों कहा जा सकता है। इस कसौटी के अनुसार औगुस्तीन से लेकर मध्यकाल के स्कोलावादी दर्शनों तक ईसाई दर्शन के श्रेष्ठ उदाहरण मिलते हैं। अतः ईसाई दर्शन की ऐतिहासिक यथार्थता सिद्ध ही है। फिर, यूनानी दर्शन की तुलना से ईसाई दर्शन की विशिष्टता स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ती है। जीलसों के अनुसार गैर-ईसाई दार्शनिक एक ही परमेश्वर का प्रत्यय प्राप्त नहीं कर सके। मध्यकालीन दार्शनिकों ने पूर्ववर्ती दर्शन से ऐसे निहितार्थ भी निकाले, जो उसके रचयिताओं को ही अज्ञात थे। जीलसों की दृष्टि से ईसाई दर्शन की आधारशिला तथाकथित "निर्गमन-ग्रंथ की तत्त्वमीमांसा" है : उस ग्रंथ की प्रसिद्ध उक्ति के अनुसार, अर्थात् "मैं वही हूं जो हूं"[19], परमेश्वर की परिभाषा "सत्ता" ही है। संक्षेप में, यही जीलसों का ईसाई दर्शन सम्बन्धी सिद्धांत है। [20]

जीलसों द्वारा प्रस्तुत ऐतिहासिक सिद्धांत के प्रत्युत्तर में ब्रेह्येर ने यह कहा कि अवश्य ही बाइबिल के प्रभाव से अनेक दर्शन उत्पन्न हुए, परन्तु वे ':दार्शनिक" कहलाने के योग्य नहीं हैं; वास्तव में वे तथाकथित "दर्शन" धर्मशास्त्र ही हैं। उदाहरणार्थ, जब प्रारम्भिक ईसाई विचारकों ने स्तोआवाद से "शब्द"—प्रत्यय ग्रहण किया, तो उन्होंने इसके बौद्धिक अभिप्राय के बदले "दिव्य शब्द" विषयक धर्मसिद्धांत रखा। फिर, संत थोमस ने अरस्तूवाद और ईसाई धर्म का सामंजस्य स्थापित करते हुए वास्तव में बुद्धि को विश्वास के अधीन किया। ब्रेह्येर का कहना है कि जैसे भौतिक विज्ञान या गणित को "ईसाई" नहीं कहा जा सकता है, वैसे ही, "ईसाई दर्शन" तर्कसंगत धारणा नहीं है।

---

19. वही, 3. 14
20. देखें, जीलसों की रचना : **The Spirit of Mediaeval Philosophy, London, 1936.**

ब्रेह्येर के विरुद्ध ब्लोंदेल दर्शनशास्त्र और अन्य विज्ञान-शाखाओं की समानता अस्वीकार करते हैं। भौतिक विज्ञान के विपरीत दर्शन वास्तविकता के किसी विशेष क्षेत्र पर नहीं, सत्ता की संपूर्णता पर ही विचार करता है। जीलसों के विरुद्ध वह इस बात का खंडन करते हैं कि ईसाई दर्शन की समस्या का समाधान ऐतिहासिक दृष्टिकोण से किया जा सकता है। जीलसों की यह पूर्वकल्पना मिथ्या ही है कि बाइबिल-प्रकाशना का अपौरुषेय स्वभाव बना रह सकता है, जब उसे मात्र बौद्धिक दर्शन द्वारा आत्मसात् किया गया है। ब्लोंदेल किसी दूसरे अर्थ में ईसाई दर्शन को संभव मानते हैं। बुद्धि अपने आप से ही अपनी अपूर्णता पहचान सकती है। बुद्धि से परे जिस आकांक्षा का आविष्कार दर्शन करता है, उसे वह स्वयं ही पूरा नहीं कर सकता है। दूसरे शब्दों में, दर्शन हमें धर्म-क्षेत्र तक ले जाता है, उसमें हमें प्रवेश नहीं कराता है। ईसाई दर्शन वही है जो मानवातीत भाग्य की यथार्थ की ओर संकेत करता है।[21]

इस प्रश्न के विषय में वर्तमान विद्वानों की मान्यता यह है कि ईसाई दर्शन न केवल संभव ही है बल्कि वह आवश्यक भी है। ईसाई दार्शनिक अपने धर्म की उपेक्षा नहीं कर सकता है। कारण उसके मन में इन दो बातों का पृथक्करण नहीं हो सकता है एक ओर ईसाई धर्म की स्वीकृति और दूसरी ओर दार्शनिक अन्वेषण। धर्म और दर्शन में भेद होते हुए भी दार्शनिक का अस्तित्व एक ही है। इसके अतिरिक्त धर्म सब तत्त्वों से सम्बन्ध रखकर लौकिक और पारलौकिक विषयों के लिए भी उपयुक्त है। इसलिए धर्म का दर्शनःपरिप्रेक्ष्य से बहिष्कार नहीं किया जा सकता है। फलतः ईसाई दार्शनिक को अपने दर्शन पर, कम से कम एक तथ्य के रूप में, विचार करना पड़ेगा। वास्तव में उसे अन्वेषण-विषयों के चयन के लिए भी अपने धर्म से प्रेरणा मिलेगी। शून्य से सृष्टि का सिद्धांत इसलिए केवल ईसाई विचारधारा में मिलता है, अन्य धर्मशास्त्रों के विपरीत केवल बाइबिल-ग्रंथ ही इसका उल्लेख करता है। इसके अतिरिक्त ईसाई दार्शनिक अपने दर्शन को धर्म के अनुरूप करने का प्रयत्न करेगा। उदाहरणार्थ, वह दिव्य एकता की धारणा को स्वीकार करेगा, जो त्रियेक परमेश्वर के धर्मसिद्धांत से असंगत नहीं होगी। अंत में, ईसाई दर्शन बौद्धिक प्रणाली की दृष्टि से स्वतन्त्र होते हुए भी ईसाई धर्म को "निषेधात्मक मानदण्ड" के रूप में स्वीकार करेगा। इसका तात्पर्य यह है कि ईसाई दार्शनिक को एक ऐसे बौद्धिक निष्कर्ष की फिर जांच करनी पड़ेगी, जो धर्मसिद्धांत का विरोधी प्रतीत होता है। उदाहरणार्थ, वह देहात्मद्वैत पर इसलिए

---

21. 1931 वाद-विवाद के लिए देखें। **Is there a Christian Philosophy ? Chapter 5.**

सन्देह करेगा क्योंकि वह संपूर्ण मानव के पुनरुत्थान से असंगत है। स्पष्टतः ईसाई दर्शन देहात्म-द्वैत का केवल बौद्धिक तर्क द्वारा खंडन करेगा।[22]

आश्चर्य की बात है कि 1931 के उपर्युक्त वाद-विवाद में केवल पश्चिमी दर्शन की चर्चा है, अन्य दार्शनिक परम्पराओं का उल्लेख नहीं किया जाता है। फिर भी, ईसाई दर्शन के सदृश अन्य विचारधाराओं पर भी सम्बद्ध धर्म की ओर से प्रभाव पड़ा। हिन्दू या बौद्ध दर्शनों के तथ्य या उनकी संभावनाओं पर जब कोई संदेह नहीं करता है, तो सिर्फ ईसाई दर्शन के विषय में प्रश्न क्यों छिड़ गया? यह बात निर्विवाद रूप से स्वीकार की जा सकती है कि किसी भी संस्कृति में धर्म का दर्शन पर प्रभाव पड़ेगा। कारण, दर्शन संस्कृति की संपूर्णता पर विचार करता है, और धर्म किसी भी संस्कृति का महत्त्वपूर्ण अंग है। इस दृष्टिकोण से ईसाई दर्शन दर्शनशास्त्र के इतिहास में अपवाद नहीं हो सकता है। फिर भी, उल्लेखनीय बात है कि ईसाई दर्शन के उदाहरण में जिस धर्म ने दर्शन पर अपना प्रभाव डाला, वह धर्म दर्शन से भिन्न संस्कृति से उत्पन्न हुआ था, क्योंकि बाइबिल शामी है, विचार यूनानी है। इसलिए अन्य परम्पराओं के विपरीत ईसाई दर्शन में धर्म और दर्शन भिन्न-भिन्न संस्कृतियों से उत्पन्न हुए। धर्म और दर्शन की यह भिन्नता शायद किसी हद तक इस तथ्य की व्याख्या कर सकती है कि ईसाई विचारधारा में क्रमशः दर्शन और धर्म का स्पष्ट प्रभेद किया गया। लेकिन जैसे हमने ऊपर समझाया है,[23] यह प्रभेद किसी दूसरे प्रभेद पर आधारित है, अर्थात् पौरुषेय और अपौरुषेय क्षेत्रों के प्रभेद पर। ईसाई विचारक धर्म और दर्शन का स्पष्ट प्रभेद करता है क्योंकि वह बुद्धि को मानव मात्र मानता है, जबकि बाइबिल से प्रेरित धर्म को मानवातीत मानता है। इस मानवातीत धर्म का ईसाई दर्शन पर प्रभाव सिर्फ धर्मशास्त्र के दृष्टिकोण से एक समस्या हो सकता है। जो दार्शनिक धर्म की मानवातीत उत्पत्ति स्वीकार नहीं करता है, वह दर्शन पर धर्म का प्रभाव एक सांस्कृतिक तथ्य मात्र मानकर दर्शन की धर्म से स्वतन्त्रता बौद्धिक प्रणाली पर ही निर्धारित करेगा।

उपसंहार

अन्तिम परिच्छेद में हमने इस बात पर विचार किया है कि संस्कृति, और फलतः धर्म भी, दर्शन पर अपना प्रभाव डालती है। उपर्युक्त बात इस तथ्य की व्याख्या कर सकती है, कि ईसाई दर्शन की दृष्टि से मध्यकाल और आधुनिक एवं समकालीन युग में बहुत अन्तर है। यह अत्युक्ति नहीं होगी कि मध्यकालीन दर्शन

---

22. इस परिच्छेद के लिए देखें: **K. Rahner. Encyclopedia of Theology, art. "Philosophy and Theology" (D. ; p. 1232–33)**

23. देखें: अध्याय 3, परिच्छेद III।

और ईसाई दर्शन का तादात्म्य है। इसके विपरीत ईसाई दर्शन पुनर्जागरण से लेकर अन्य विचारधाराओं की विविधता में भी सिर्फ एक विशेष परम्परा दिखाई पड़ती है। इस तथ्य का कारण यह है कि 15वीं शताब्दी से पाश्चात्य संस्कृति क्रमश: अधिक धर्मनिरपेक्ष बनती गयी। फलत: दर्शन का भी, जो इस संस्कृति का प्रतिबिंब है, धर्मनिरपेक्ष हो जाना स्वाभाविक ही था। इससे ईसाई दर्शन का इस युग में आपेक्षिक अभाव बोधगम्य हो जाता है फिर भी, प्रचलित धर्मनिरपेक्षता के बावजूद पूर्ववर्ती संस्कृति का धार्मिक स्वभाव पूर्ण रूप से समाप्त नहीं हो सकता था। तदनुसार देकार्त, कांत व हेगल जैसे "शुद्ध" दार्शनिकों में भी हम ईसाई दृष्टिकोण का स्पष्ट चिह्न देखते हैं।

उक्त दो युगों का विरोध इस प्रकार भी व्यक्त किया जा सकता है; जबकि मध्यकाल में सामान्य संस्कृति ईसाई ही थी, पुनर्जागरण से संस्कृति में विविधता होने लगी। यह विविधता दर्शन और धर्म से संबंध में भी दिखाई पड़ती है। आधुनिक बुद्धिवाद या प्रत्ययवाद के विपरीत, जिसमें ईसाई प्रभाव बना रहता है, आजकल भाषा-विश्लेषण या तार्किक प्रत्यक्षवाद जैसे पूर्णतया धर्मनिरपेक्ष या अ-धार्मिक दर्शन मिलते हैं। धर्म के प्रति दर्शन का भाव स्पष्टत: निषेधात्मक भी हो सकता है। 17वीं और 18वीं शताब्दी में "प्रबोधन" नामक आंदोलन ने बुद्धि के नाम से ईसाई धर्म पर तीव्र आक्रमण किया। 19वीं शताब्दी में कोंत[24] से प्रेरित प्रत्यक्षवाद ने यथार्थ ईसाई विश्वास का सामना कियां। 20वीं शताब्दी में द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद न केवल ईसाई धर्म को, अपितु सामान्य रूप से धर्म को ही नष्ट करना आवश्यक मानता है। इन धर्मनिरपेक्ष और धर्मविरोधी विचारधाराओं के साथ ऐसे दार्शनिक भी मिलते हैं जिन्हें ईसाई धर्म की ओर से प्रेरणा मिली : पास्कल से लेकर तैयार दि शार्दे तक ईसाई दार्शनिक परम्परा अखंड मिलती है।

आधुनिक और समकालीन दर्शनशास्त्र की एक और विशेषता है—दृष्टिकोण, शैली या प्रणाली की विविधता। इससे ईसाई दर्शन भी प्रभावित हुआ। ईसाई विचारधारा को केवल इस अर्थ में अविच्छिन्न नहीं कहा जा सकता है कि आज तक एकमात्र स्कोलावाद ही प्रचलित रहा है। मारितें द्वारा प्रस्तुत परम्परागत नव-स्कोलावाद के अतिरिक्त मारेशल द्वारा प्रवर्तित समीक्षात्मक थोमसवाद का भी विकास चल रहा हैं। अन्य समकालीन विचारधाराओं के भी ईसाई प्रतिनिधि हैं, जैसे अस्तित्ववाद में मार्सेल, व्यक्तिवाद में मून्येर, और बेर्गसों के समान विज्ञानवाद के विरुद्ध प्रतिक्रिया करने वाले तैयार। संख्या की दृष्टि से समकालीन ईसाई दर्शन मध्यकाल के स्कोलावाद से कम हो सकता है; विविधता की दृष्टि से वह निस्संदेह उससे बढ़कर है। ईसाई दर्शन अनिवार्य रूप से स्कोलावाद से सम्बन्ध नहीं रखता

---

24. औगुस्त कोंत (फ्रांस, 1798-1857) समाज-विज्ञान के प्रवर्त्तक माने जाते हैं।

है, वरन् दूसरी संस्कृति के भी अनुकूल हो सकता है, जो यह उसकी सजीवता का प्रमाण है।

अंत में इस बात की ओर भी ध्यान आकर्षित करना उचित होगा कि वर्तमान युग की धर्मनिरपेक्षता के अलावा धर्म और दर्शनशास्त्र का प्रभेद ईसाई दर्शन की आभासी कमी का एक और कारण है। जिन मध्यकालीन विचारकों का हमने उल्लेख किया है, वे धर्मशास्त्री और दार्शनिक दोनों ही थे। धर्म-और दर्शनशास्त्र प्रभेद के बढ़ने के परिणामस्वरूप आधुनिक काल में ईसाई विचारधारा का विकास विशेषकर धर्मशास्त्र के क्षेत्र में हो रहा है। दर्शन-विषयक पुस्तकों में उन विद्वानों की चर्चा नहीं हो सकती है, यद्यपि वे भी अपने धर्मशास्त्र मे समकालीन दर्शन का बहुत प्रयोग करते हैं। फिर भी कर्ल बार्थ, मार्टिन बूबर या कर्ल राहन्र जैसे समकालीन धर्मशास्त्रियों के नाम किसी से अज्ञात नहीं होने चाहिए।

अध्याय 6

मानव-दर्शन

भूमिका

प्रस्तुत अध्याय का विषय है—मानव दार्शनिक दृष्टिकोण से। लेकिन प्रारम्भ से ही हमें यह स्वीकार करना है कि मानव तत्त्व का सर्वांगीण दर्शन केवल परवर्ती अध्यायों के परिणामस्वरूप सम्भव होगा। उदाहरणार्थ, ईश-दर्शन संबंधी अध्याय में विकासवाद और तत्त्वमीमांसा की दृष्टि से। मानव की सृष्टि के विषय मे चर्चा होगी। नीति-शास्त्र के अध्याय में उन भिन्न-भिन्न मूल्यों का उल्लेख किया जाएगा, जो मानव के विश्व और समाज से संबंध के प्रसंग में उत्पन्न होते हैं। अन्तिम अध्याय का विषय धर्म का तथ्य होगा : संस्कृति का एक महत्त्वपूर्ण पहलू होकर, धर्म जितना परमेश्वर से संबंध रखता है, इससे अधिक मानव से संबद्ध है। इसलिए यह कहना मिथ्या नहीं कि पुस्तक के इस दूसरे भाग का दृष्टिकोण मुख्यतः मानव केन्द्रित ही है। कारण, अन्य अध्यायों में जिन विषयों का प्रतिपादन किया जाएगा, वे मनुष्य से घनिष्ठ संबंध रखते हैं। फिर भी, अन्वेषण का दृष्टिकोण मानव केन्द्रित होते हुए भी, इससे प्राप्त तत्त्वमीमांसा ईश-केंद्रित ही होगी। अब पहले हमें उपर्युक्त परमेश्वर, समाज तथा विश्व के संबंधों का आधार स्थापित करना पड़ता है; इस उद्देश्य से हम मानव स्वभाव, ढांचे, भिन्न-भिन्न लक्षणों और अवयवों का वर्णन करेंगे।

संक्षेप में इस अध्याय का विभाजन निम्नलिखित होगा। पहले हम मानव का संश्लेषात्मक दृष्टि से अध्ययन करेंगे, अर्थात् उसके व्यक्तित्व के रूप में। कारण, मानव का व्यक्तित्व-स्वरूप उसके अन्य तत्त्वों से भिन्न-भिन्न संबंधों का मूलभूत आधार माना जा सकता है। मानव व्यक्ति के रूप में क्या है, इस प्रारंभिक प्रश्न का उत्तर देने के पश्चात्, मनुष्य की उत्पत्ति और उसके भाग्य या लक्ष्य की समस्या पर ध्यान देना चाहिये। लेकिन इस प्रश्न का समाधान तब तक नहीं हो पाएगा, जब तक मानव स्वभाव का वर्णन नहीं होगा। फिर, मानव स्वभाव विशेषकर मानव की क्रियाओं में दिखाई पड़ता है। इसलिए व्यक्तित्व-संबंधी परिच्छेद के बाद अन्वेषण की प्रणाली का विश्लेषण होगी। पहले ज्ञान की क्रिया का विवेचन किया जाएगा, जिससे मानव स्वभाव के दो पहलू, आध्यात्मिक और भौतिक, स्पष्ट होंगे। फिर, संकल्प-शक्ति का उल्लेख होगा : उसका बुद्धि से संबंध और उसकी

स्वतन्त्रता जो आत्म-सिद्धि का आधार है। ज्ञान और संकल्प शक्तियां मात्र हैं, इसलिए उनका कोई आधार या केंद्र भी अवश्य ही होगा, जिसे 'आत्मा' कहा जा सकता है। किन्तु आत्मा के अतिरिक्त मानव कुछ और भी है। उसका वर्णन अधूरा ही होगा, यदि आत्मा के शरीर से संबंध की कोई चर्चा नहीं हो। शरीर संपूर्ण मानव का अंगभूत अवयव है: यह सिद्धान्त मानव की आध्यात्मिक क्रियाओं के विवेचन से ही निकलता है। तदुपरांत मानव की उत्पत्ति के प्रश्न पर ध्यान दे सकेंगे: जाति की दृष्टि से नहीं, बल्कि व्यक्ति की दृष्टि से। अंत में, अमरता की समस्या उठाई जाएगी, संपूर्ण मानव की, आत्मा और शरीर सहित। अमरता तो आत्मा मात्र की नहीं, संपूर्ण व्यक्ति की ही है।

प्रयुक्त प्रणाली के विषय में भी कुछ कहना है। अध्याय का मुख्य लक्ष्य है ईसाई मानव-दर्शन का प्रतिपादन करना। इस संदर्भ में जिस पारिभाषिक शब्दावली का हम प्रयोग करते हैं, वह स्कोलावाद से प्राप्त है। पूर्ववर्ती इतिहास संबंधी अध्याय इसे समझने के लिए उपयोगी भूमिका हैं। इसके अतिरिक्त प्रयुक्त पारिभाषिक शब्दों का स्पष्टीकरण क्रमशः यथास्थान दिया जाएगा। फिर, प्रारंभ से ही संपूर्ण मानव व्यक्ति का वर्णन मिलता है; इस संदर्भ में अनेक सिद्धान्तों को प्रस्तुत किया जाता है, जिन्हें बाद में केवल प्रमाणित किया जाएगा। विशेष रूप से ज्ञान-शास्त्र इस तत्त्वमीमांसा को सिद्ध कर सकता है, जो यहां स्वीकृत माना जाता है। ज्ञान-शास्त्र के प्रमाण के अतिरिक्त भिन्न-भिन्न सिद्धांतों की पारस्परिक संगति भी संपूर्ण दर्शन की पुष्टि कर सकती है। आशा है कि हमारे समूचे प्रतिपादन से प्रस्तुत दर्शन की प्रामाणिकता स्पष्ट होगी।

I—मानव, व्यक्तित्व की दृष्टि से

मानव की परिभाषा 'व्यक्ति' प्रत्यय में निहित है, यह कहना सही नहीं होगा: कारण, मानव के अतिरिक्त अन्य तत्त्व भी हैं जिन्हें 'व्यक्ति' कहा जा सकता है, किन्तु किसी तत्त्व का निर्धारण उसके उत्तम लक्षणों द्वारा करना ही उचित है। ईसाई दर्शन मानव की सर्वश्रेष्ठ विशेषता को उसका व्यक्तित्व मानता है, क्योंकि मानव के अतिरिक्त जिन तत्त्वो को व्यक्तित्व प्राप्त है, वे मानव से उच्चतर श्रेणी के हैं, निम्नतर नहीं। व्यक्तित्व के आधार या केंद्र को आत्मतत्व या आध्यात्मिकता माना जा सकता है। द्व्यर्थकता से दूर रहने के लिए इन प्रत्ययों का अनुभव के विश्लेषण की सहायता से स्पष्टीकरण करना बहुत आवश्यक होगा। चिंतन करने की संभावना से ही स्पष्ट है कि मैं आत्मचेतना में भी समर्थ हूं। फिर, उक्त आत्मचेतना विषय की चेतना मात्र से भिन्न है। उसमें तो ज्ञान की ही चेतना प्राप्त है; हां, ज्ञान-प्रक्रिया के रूप में स्वयं ज्ञाता की चेतना ही है। फलतः आत्मचेतना का मर्म आत्मा की आंतरिकता में निहित है, या दूसरे शब्दों में, आत्मचेतना के बल पर व्यक्ति-स्वरूप मानव अपने आपसे अव्यवहित संबंध रखता है। इससे

तुरंत ही यह निष्कर्ष भी निकलता है कि स्वभाव से प्रत्येक व्यक्ति को अनन्य होना आवश्यक है। कारण, मूलभूत अर्थ में व्यक्तित्व अपने आपसे संबंध के आधार पर निर्मित है। फलतः बिलकुल अमूर्त रूप से व्यक्ति की अन्य तत्त्वों के अभाव में भी कल्पना की जा सकती है। इतना ही नहीं, यदि स्वभाव से अस्तित्व का अनुमान किया जा सकता है, तो यह भी कहना पड़ेगा कि जो व्यक्ति-स्वरूप तत्त्व आत्मचेतना में समर्थ है, उसे स्ववर्तिता भी प्राप्त होगी। चेतना की आंतरिकता इस बात की ओर संकेत करती है कि व्यक्ति-अस्तित्व की दृष्टि से आत्मनिर्भर भी है। संत थोमस प्रायः आत्मचेतना और स्ववर्तिता का तादाम्य स्वीकार करते हैं।[1]

उपर्युक्त सिद्धांत से कोई मिथ्या निष्कर्ष न निकाला जाय। मनुष्य यद्यपि अस्तित्व की दृष्टि से स्ववर्ती है, तथापि स्वयंभू नहीं है। वास्तव में मनुष्य को स्ववर्तिता सृष्टिकार्य के परिणामस्वरूप प्राप्त हुई; अतः उसकी स्ववर्तिता व्युत्पन्न ही है, मौलिक नहीं। परमेश्वर पर निर्भरता व्यक्ति की स्ववर्तिता का खंडन नहीं करती है, इसके विपरीत उसकी स्थापना ही करती है। कारण, सृष्टिकर्त्ता को मौलिक अर्थ में स्ववर्ती माना जाता है, अर्थात् वह स्वयंभू है। अतः जो तत्त्व अव्यवहित रूप से अर्थात् किसी अन्य तत्त्व के अभाव में भी स्वयंभू से संबंध रखता है, वह उसकी मौलिक स्ववर्तिता में सहभागी होगा। सिद्धांत का तात्पर्य इसमें है कि व्यक्तित्व या स्ववर्तिता का मूल्य परम तत्त्व से साक्षात् संबंध पर आश्रित है। भूमिका में हम कह चुके हैं कि व्यक्ति-संबंधी प्रतिपादन में अनेक सिद्धांतों का प्रयोग होगा जिन्हें सिर्फ सिद्ध किया जाएगा। यहां इतना ही स्पष्ट करना उचित होगा, कि आत्मा भौतिक तत्त्वों की अपेक्षा परम तत्त्व से अव्यवहित संबंध रखती है। परमेश्वर के अभाव में कोई तत्त्व अस्तित्व नहीं रखता, परंतु जबकि भौतिक तत्त्व केवल प्रकृति-स्वरूप उपादान से संबद्ध होकर अस्तित्व प्राप्त कर सकते हैं, आत्मा उपादान से संबद्ध होते हुए भी अस्तित्व रखने के लिए उस पर निर्भर नहीं है। आत्मचेतना की आंतरिक्ता के बल पर हमने अस्तित्व संबंधी आत्मनिर्भरता को भी स्वीकार किया है। अब इसका सही अर्थ स्पष्ट है : आत्मा की निरपेक्षता भौतिकता से ही संबंध रखती है, परमेश्वर से नहीं। भौतिकता से स्वाधीन होकर आत्मा को इस दृष्टि से निरपेक्ष कहा जा सकता है; प्रकृति के अभाव मे भी अस्तित्व रखकर आत्मा आत्मनिर्भर या स्ववर्ती है। दूसरी ओर, परमेश्वर से अस्तित्व प्राप्त कर आत्मा इस दृष्टि से सापेक्ष ही है। फिर, प्रकृति से स्वतंत्र होकर आत्मा का परमेश्वर से संबंध अव्यवहित है। अतः आत्मा का महत्त्व उसकी आध्यात्मिकता पर आश्रित है कारण, आध्यात्मिक तत्त्व परम तत्त्व से साक्षात् रूप में संबद्ध है।

आत्मा का दूसरा पहलू ह्र उसकी आंतरिक्ता का संपूरक है, इस अर्थ में नहीं

---

1. "Redire ad essentiam suam nihil aliud est quam rem subsistere in seipsa." **Summa Theologica, I, 14, 2, ad im.**

कि आत्मचेतना के अतिरिक्त उसे बहिर्मुखता भी प्राप्त है, बल्कि इसलिए कि संपूर्णता के प्रति आत्मा का खुलापन है। संत थोमस के प्रसिद्ध कथन के अनुसार : किसी प्रकार से आत्मा सर्वम् ही है,[2] अर्थात् आत्मा में सब कुछ प्राप्त करने की क्षमता है। आत्मा की यह सार्विक ग्रहणशीलता उसकी आध्यात्मिकता पर ही आश्रित है। ज्ञान-शक्ति का उदाहरण लीजिए। ऐसा कोई तत्त्व नहीं है जिसे जानने में मानव समर्थ नहीं हो सके। कारण, जो कुछ अस्तित्व रखता है, वह बोधगम्य भी है। फिर, ज्ञान को दृष्टि सत्ता की दृष्टि ही है, जैसा बाद में समझाया जाएगा। आध्यात्मिक आकांक्षा का क्षेत्र भी अपरिमित है ज्ञान-शक्ति के अनुसार संकल्प-शक्ति का विषय सत्ता की संपूर्णता ही है, अब सत्य की दृष्टि से नहीं, बल्कि शुभ की दृष्टि से। उपयुक्त संदर्भ में यह दिखाया जाएगा किस प्रकार आत्मा की आकांक्षा विशेष विषयों का अतिक्रमण करके सर्वोत्तम शुभ की ओर प्रवृत्त होती है। अब से आत्मा का सत्ता के प्रति यह अपरिमित खुलापन "आध्यात्मिक प्रवृति[3] प्रत्यय से निर्दिष्ट किया जाएगा। प्रवृत्ति होकर यह खुलापन आत्म केंद्रित पहलू का संपूरक है : अपने आपसे संबद्ध होने के अतिरिक्त आत्मा सब अन्य तत्त्वों से भी संबंध रख सकती है। प्रवृत्ति इसलिए अपरिमित है, क्योंकि आध्यात्मिक होकर आत्मा साक्षात् रूप से परम तत्त्व से संबंध रखती है, फलतः सत्ता की संपूर्णता से भी सम्बन्ध रखती है जो परम तत्त्व से सृष्ट है यहां ध्यान रखना है कि आत्मा को केवल साध्य के अर्थ में अपरिमित कहा जा सकता है। तत्त्वों की संपूर्णता और इससे बढ़कर परम तत्त्व ही आत्मा की प्रवृत्ति का उद्देश्य है, लेकिन आत्मा स्वयं में न तो संपूर्णता है, न परम तत्त्व ही। आत्मा की अपरिमित उसकी 'आध्यात्मिक प्रवृत्ति' में ही निहित है।

आत्मा का दूसरा पहलू यदि सार्विक प्रवृत्ति है, तो स्पष्ट है कि आंतरिक्ता के अतिरिक्त व्यक्ति के तत्त्व में पारस्परिकता भी सम्मिलित होगी। दूसरे शब्दों में व्यक्ति न केवल अपने आपसे सबंध रखता है, बल्कि दूसरे व्यक्तियों से भी संबंधित है। पृथक्-पृथक् व्यक्तियों में विद्यमान होकर आध्यात्मिक प्रवृत्ति इन्हें परस्पर संयुक्त करती है, विशेषकर इसलिए कि एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति में एक ही "संपूर्णता की दृष्टि" को पहचान सकता है। एक ही लक्ष्य, अर्थात् परम तत्त्व की ओर आकृष्ट होने के कारण व्यक्तियों का परस्पर भी एकत्र हो जाना अनिवार्य है। फिर, सामान्य आध्यात्मिकता में सहभागी होकर व्यक्ति-स्वरूप आत्माएं शरीर की भौतिकता के बावजूद परस्पर अभिगम्य हैं। एक दूसरे दृष्टिकोण से भी यह कहा जा सकता है कि भिन्न-भिन्न व्यक्ति एक ही मानव स्वभाव के व्यष्टि होने से एक ही जाति के सदस्य हैं। स्वभाव की एकता से पृथक्-पृथक् व्यष्टियों की एकता

2. "Anima est quodammodo omnia",
3. स्कोलावादी शब्दावली में : Intellectual Dynamism.

निष्कर्ष-स्वरूप निकलती है, लेकिन ध्यान देने योग्य बात है कि व्यक्तियों की पारस्परिकता मानव स्वभाव की समता पर उतनी आश्रित नहीं है, जितनी उनकी आत्मा की श्रेष्ठता पर। आत्मा के अभाव में मनुष्य से निम्नतर जाति के तत्त्व यथार्थ समाज को स्थापित नहीं कर पाते हैं। उपर्युक्त बातों से स्पष्ट है कि सामाजिक दृष्टिकोण मानव-दर्शन में मूलभूत है। नीतिशास्त्र के प्रकरण में व्यष्टि, व्यक्ति और समाज के संबंध की समस्या उठायी जाएगी। इसकी तैयारी में यहां संक्षेप में व्यक्ति और व्यष्टि का प्रभेद स्पष्ट किया जाएगा। लेकिन आत्मसिद्धि की दृष्टि से भी व्यक्तियों की पारस्परिकता महत्त्व रखती है। व्यक्ति यदि आत्मा के बल पर दूसरों से संबंध रखता है, तो वह व्यक्तित्व की संपूर्णता को दूसरे व्यक्तियों के अभाव में कैसे प्राप्त कर सकता ?

स्कोलावाद के अनुसार बोएत्सियुस (480–525 ई.) द्वारा रचित व्यक्ति-धारणा की परिभाषा इस प्रकार है : "बौद्धिक स्वभाव का एक पृथक् तत्त्व'।[4] व्यष्टि-प्रत्यय को यदि "पृथक् तत्त्व" का समानार्थ माना जा सकता है, तो इसका तात्पर्य पृथक्ता और एकता का बोध कराता है। व्यष्टि का लक्षण पृथक्ता है, उसके दूसरे तत्त्वों से संबंध की दृष्टि से : एक व्यष्टि अन्य व्यष्टियों से स्पष्टतः भिन्न है। अपने आपसे संबंध की दृष्टि से व्यष्टि का लक्षण एकता है : व्यष्टि तो एक ही है, अनेक नहीं। मानव के अतिरिक्त दिव्य व्यक्तियों का समावेश करने के निमित संत थोमस ने उक्त परिभाषा का विस्तार किया, अर्थात् व्यक्ति मात्र बौद्धिक स्वभाव का नहीं, वस्तुतः आध्यात्मिक स्वभाव का व्यष्टि है। स्कोलावादी शब्दावली के अनुसार बुद्धि के विपरीत, जो केवल शरीर-सहित आत्मा की सूचक है, आध्यात्मिकता शरीर-रहित आत्मा के लिए भी प्रयोज्य है। इससे यह स्पष्ट है कि शरीरत्व व्यक्ति-धारणा का अनिवार्य अंग नहीं है। अब, ऊपर हम यह देख चुके हैं कि आत्मचेतना व्यक्ति की आंतरिकता का आधार है। अतः यदि एकता को आंतरिकता का समानार्थ माना जा सकता है,[5] तो व्यक्ति को आत्मा-तत्त्व के बल पर एकता प्राप्त है। परंतु, रपरंपागत स्कोलावादी सिद्धांत के अनुसार मानव का भौतिक अवयव या उपादान उसके व्यष्टिकरण का आधार है। यदि व्यष्टि की एकता उसे आध्यात्मिक आत्मा की ओर से प्राप्त है, तो उपर्युक्त सिद्धांत की व्याख्या यह होगी कि व्यष्टि का दूसरी विशिष्टता ही, अर्थात् पृथक्ता. भौतिकता का फल है या संक्षेप में, व्यष्टि की एकता आत्मा पर आश्रित है। व्यक्तियों की अनेकता भौतिकता से उत्पन्न होती है। फिर, परम्परागत परिभाषा के अनुसार व्यष्टि के विपरीत व्यक्ति की विशेषता उसकी आध्यात्मिकता ही है। व्यष्टि भौतिक तत्त्व मात्र हो सकता है, व्यक्ति आध्यात्मिक स्वभाव का है। फलतः आत्मा से

4. "Rationalis naturae individua substantia."
5. जो अपने आपसे अव्यवहित सम्बन्ध रखता है. वह अपने आपसे अभिन्न है.

प्राप्त एकता व्यष्टि की अपेक्षा **व्यक्ति** की ही विशिष्टता होगी। इसके विपरीत पृथक्ता भौतिकता से उत्पन्न होकर, **व्यष्टि** की विशेषता होगी। परन्तु हमें ध्यान रखना पड़ेगा कि व्यष्टि-व्यक्ति एक ही मानव के पहलू मात्र हैं। व्यष्टि की दृष्टि से मानव एक दूसरे से पृथक्-पृथक् हैं, हां परस्पर विरुद्ध भी हो सकते हैं; व्यक्ति की दृष्टि से मानव की आंतरिक एकता है, जिस पर मनुष्यों की पारस्परिकता और मानव समाज की एकता आश्रित है। मानव अविच्छेद्य रूप से व्यक्ति भी और व्यष्टि भी है।

व्यक्तित्व आध्यात्मिकता से, व्यष्टित्व भौतिकता से सम्बन्ध रखता है, लेकिन जैसे व्यक्ति और व्यष्टि दोनों एक ही मनुष्य के अनिवार्य पहलू हैं, वैसे ही आत्मा और शरीर भी। जैसे व्यक्ति की परिभाषा में व्यष्टि-प्रत्यय समाविष्ट है, वैसे ही मनुष्य में आत्मा के अतिरिक्त शरीर भी विद्यमान है। मानव को आत्मा मात्र नहीं माना जा सकता है, शरीर उसका एक अंगभूत अवयव है। बाद में इस सिद्धांत का प्रमाण विस्तार से प्रस्तुत किया जाएगा। ज्ञान की या अन्य आध्यात्मिक क्रियाओं के विश्लेषण से यह प्रतीत होगा कि भौतिक न होते हुए भी, इन शक्तियों का शरीर के अभाव में प्रयोग नहीं किया जा सकता है। फिर, क्रिया से अस्तित्व का अनुमान करने पर हमें यह स्वीकार करना पड़ेगा कि स्ववर्ती होते हुए भी मानव आत्मा वर्तमान स्थिति में शरीरत्व के अभाव में अस्तित्व नहीं रख सकती है। उपर्युक्त सन्दर्भ मे हमें यह दिखाना पड़ेगा कि भौतिकता से सम्बन्ध के फलस्वरूप आत्मा की आध्यात्मिकता नष्ट नहीं हो जाती है। शुद्ध आत्मिक और भौतिक मात्र तत्त्वों के बीच एक तीसरे वर्ग के तत्त्वों की कल्पना की जा सकती है, जो मानो दोनों के संयोग से उत्पन्न हैं। जबकि शुद्ध आत्मा शरीर के अभाव में अस्तित्व रखती है और जीव शरीर में संयोग मात्र में ही जीवित रहता है, जीवात्मा शरीर से संयुक्त होते हुए भी आत्मिकता से वंचित नहीं है। पुनः शरीर के माध्यम से मनुष्य भौतिक विश्व से भी सम्बन्ध रखता है। बिलकुल उसके शरीर से संयोग के समान मानव विश्व से सम्बद्ध न होने पर भी इससे स्वतन्त्र और स्वाधीन ही रहता है। इससे मानव के लिए भौतिकता का मूल्य भी दिखाई पड़ता है। इस बात का विस्तार 'नीति-शास्त्र' के प्रकरण में किया गया है। सामाजिक दृष्टि से भी प्रकृति महत्त्व रखती है, क्योंकि शरीरत्व है माध्यम से मानव परस्पर सम्बन्ध रखते हैं, जैसे भाषा के उदाहरण से स्पष्ट है। अन्त में, यदि शरीर व्यक्ति का अंगभूत अवयव है, तो आमसिद्धि उसके अभाव में प्राप्त नहीं की जा सकती है। इस बात का पूरा निहितार्थ केवल अमरता के संदर्भ में स्पष्ट किया जाएगा।

II—मानव की विशिष्ट क्रियाएं

(क) ज्ञान-शक्ति

मानव व्यक्ति का आध्यात्मिक स्वभाव पूर्वकल्पना मात्र के रूप में स्वीकार

नहीं किया जा सकता है। यहां हम उसे मानव क्रिया के विश्लेषण से प्रमाणित करेंगे। इस तथ्य पर ध्यान दें कि हमारी चेतना के दो स्तर हो सकते हैं, चेतना मात्र का और आत्म-चेतना का। पहली स्थिति में 'मैं' सिर्फ किसी संवेदन का चेतन हूं, उदाहरणार्थ, ग्रीष्म काल में 'मुझे' गरम लगता है। दूसरी स्थिति में 'मैं' इस बात पर ध्यान दे सकता हूं कि मैं गरमी का चेतन हूं। पहली स्थिति के विपरीत अब मैं किसी संवेदन मात्र का चेतन नहीं हूं, बल्कि इस बात का चेतन हूं कि मैं किसी संवेदन का चेतन हूं। एक शब्द में, मैं अपनी चेतना का चेतन हूं। अतः इस दूसरी स्थिति में चेतना अपने आप का विषय है। इस प्रकार की चेतना को आत्म-चेतना, उसकी क्रिया को आत्म-चिंतन कहा जा सकता है। प्रश्न है, आत्म-चेतना में आध्यात्मिकता क्यों निहित है? जो तत्त्व आत्म-चिंतन करने में समर्थ है, उसका अपने आपसे अव्यवहित रूप से सम्बन्ध रखना अनिवार्य है, वह अपने आपसे पृथक् नहीं है। फिर, पृथकता भौतिकता का विशिष्ट लक्षण है। अतः आत्म चेतना अपने आपसे अभिन्न होने के कारण आध्यात्मिक ही है। देश-काल में स्थित भौतिक तत्त्व एक दूसरे से कितने ही निकट क्यों न हों, परस्पर पृथक्-पृथक् भी हैं। चेतना मात्र भी कालमबद्ध है: भाषण सुनते समय भिन्न-भिन्न ध्वनियां एक दूसरे के बाद मेरे कानों में पड़ती हैं। पहली के विलीन हो जाने पर दूसरी सुनाई पड़ती है; साथ-साथ क्रमशः एक संवेदन-चेतना के बाद दूसरी उत्पन्न होती है। कालक्रम के सिलसिले में संवेदन-चेतना के क्षण परस्पर पृथक्-पृथक् रहते हैं। तिसपर भी भाषण की समाप्ति के बाद उसका तात्पर्य मेरी समझ में आया होगा। स्पष्ट रूप से यह स्मृति मात्र की बात नहीं हो सकती है: वक्ता के शब्दों को भूलने पर भी श्रोता उनका अभिप्राय समझता है। इस तथ्य से यह निष्कर्ष निकालना पड़ता है कि काल-बद्ध संवेदन-चेतना के अतिरिक्त मानव की एक दूसरी चेतना भी है। इसी के बल पर मानव न तो केवल भिन्न-भिन्न ध्वनियों का अर्थ समझता है, बल्कि क्षणों की पृथक्ता के बावजूद शब्दों का, फिर वाक्यों का, और अन्त में सम्पूर्ण भाषण का सार्थक सम्बन्ध स्थापित कर सकता है। इससे स्पष्ट है कि बौद्धिक चेतना कालक्रम का अतिक्रमण करती है। अतः संवेदन-चेतना की पृथक्-पृथक् अवस्थाओं के बावजूद, मानव चेतना अविच्छिन्न ही है। अपने आपसे अभिन्न होने के कारण उसे सही अर्थ में आत्म-चेतना कहा जा सकता है। कालातीत होकर आत्म-चेतना अभौतिक प्रतीत होती है, लेकिन ध्यान रखना है कि कालातीत आत्म-चेतना कालबद्ध चेतना से असंबद्ध नहीं है। फलतः मानव की आध्यात्मिकता यथार्थ होते हुए भी शुद्ध आत्मिकता नहीं है, बल्कि भौतिकता से सम्बन्ध रखती है।

जिस तत्त्व को आत्म-चेतना की क्षमता प्राप्त है, उसे अपने से भिन्न विषयों को जानने की शक्ति भी प्राप्त होगी: अब हम इस कथन को सिद्ध करें। आत्म-चेतना आध्यात्मिकता पर आश्रित है: जो तत्त्व आध्यात्मिक है, वह भौतिकता की बाधा के अभाव में अपने आपके लिए अभिगम्य है। जिसकी चेतना आध्यात्मिक है,

वह आत्मचेतन भी होगा। फिर, आत्मचेतना अपने आपका ज्ञान ही है। अब यदि कोई विषय आत्मचेतन तत्त्व है भिन्न होते हुए भी, उसकी आंतरिकता में किसी प्रकार से प्रवेश करे, तो वह आत्मचेतना के प्रकाश से प्रदीप्त हो जाएगा। इसलिए विषयनिष्ठ ज्ञान की सम्भावना आत्मचेतना की प्राप्ति पर निर्भर है। परवर्ती परिच्छेदों में हमने यह स्पष्ट किया है कि किस प्रकार ज्ञाता से पृथक् विषय उसकी आंतरिकता में सम्मिलित किया जा सकता है तात्त्विक रूप से नहीं, प्रतिमा के रूप में। फिर, इस समस्या का समाधान भी प्रस्तुत किया गया है कि किस प्रकार ज्ञाता में स्थित यह आंतरिक प्रतिमा, विषयी की नहीं, विषयी से भिन्न विषय की सूचक हो सकती है। लेकिन प्रारम्भ से ही इतना स्पष्ट है कि केवल आत्मचेतन तत्त्व विषयनिष्ठ ज्ञान में समर्थ हो सकता है: जो अपने आपका चेतन है, वही दूसरे तत्त्वों को अपने से पृथक् तत्त्वों के रूप में जान सकता है। विषयनिष्ठ ज्ञान की आधारभूत शर्त है विषयी का आत्मज्ञान।

अब हम ज्ञान-प्राप्ति की प्रक्रिया का स्कोलावादी दर्शन के अनुसार वर्णन करें। यह तथ्य निर्विवाद रूप से स्वीकृत है कि मानव के लिए ज्ञान की प्राप्ति इंद्रियों पर निर्भर है। इस सिद्धांत को इस कथन में अभिव्यक्त किया जाता है: "बुद्धि में कुछ नहीं हो सकता है, जो पहले इंद्रियों में नहीं था।[6] इसके अतिरिक्त यह दूसरा तथ्य भी असंदिग्ध है कि हमारा ज्ञान प्रत्ययों के प्रयोग पर आश्रित है। लेकिन प्रत्यय अभौतिक ही हैं: 'कलम' जैसा सामान्य प्रत्यय देश-काल में स्थित किसी विशेष कलम से सम्बन्ध नहीं रखता है। अतः उपर्युक्त दो तथ्यों से प्रश्न उठता है: किस प्रकार अभौतिक प्रत्यय को भौतिक संवेदन से प्राप्त किया जा सकता है? कारण, भौतिक इंद्रियों का आध्यात्मिक ज्ञान शक्ति पर कोई प्रभाव नहीं पड़ सकता है। परिभाषा के बल पर ही आध्यात्मिक तत्त्व भौतिकता के अधीन नहीं है, लेकिन ज्ञान शक्ति आत्मचेतना की अभिव्यक्ति होकर उसके समान स्वयं ही आध्यात्मिक है।

इस संक्षिप्त प्रतिपादन में हम प्रारम्भिक संवेदन-ज्ञान की प्रक्रिया का वर्णन नहीं कर सकते हैं। यहां इतना ही कहें कि स्कोलावाद के अनुसार ज्ञानेंद्रियों से प्राप्त इंद्रिय दत्तों का अंतःकरण द्वारा एकीकरण किया जाता है। इस भौतिक प्रक्रिया के फलस्वरूप संवेदन-चेतना में विषयक की एक भौतिक प्रतिमा उत्पन्न होती है। अब, भौतिक एवं आध्यात्मिक शक्तियों का प्रभेद होने पर भी वास्तविक मानव में उनकी पृथक्ता नहीं, उनका पारस्परिक सम्बन्ध ही है। इसके अतिरिक्त, आध्यात्मिक होने के कारण इंद्रियों की अपेक्षा बुद्धि की प्रधानता है। अतः भौतिक इंद्रियों पर बौद्धिक ज्ञानशक्ति अपना प्रभाव डाल सकती है। एक दृष्टांत के रूप में (सैद्धांतिक व्याख्या बाद में दी जाएगी) यह कहा जा सकता है कि बुद्धि भौतिक प्रतिमा को

---

6. "Nihil est in intellectu quod non prius fuerit in sensu".

मानो प्रदीप्त करती है, जिसके फलस्वरूप एक आध्यात्मिक प्रतिमा की रचना होती है—अर्थात् ज्ञेय का एक ऐसा प्रतिरूप जो आध्यात्मिक ज्ञानशक्ति के लिए बोधगम्य है। बुद्धि के इस क्रियाशील पहलू के अलावा उसका ग्रहणशील पहलू भी है। कारण, ज्ञान-प्रक्रिया के प्रारंभ से पहले बुद्धि "रिक्त पट्टिका"[7] जैसी स्थिति में रहती है। तत्पश्चात्, आध्यात्मिक ज्ञान-शक्ति बुद्धि पर उपर्युक्त आध्यात्मिक प्रतिमा अंकित करती है, जिसके फलस्वरूप आत्मचेतन बुद्धि यह नयी प्राप्त प्रतिमा चेतन हो जाती है। बुद्धि के इन दो पहलुओं अर्थात् क्रियाशीलता और ग्रहणशीलता का सिद्धान्त, इस बात की व्याख्या प्रस्तुत करता है कि आध्यात्मिक होते हुए भी बुद्धि अपने ज्ञान को भौतिक इंद्रियों से ही प्राप्त करती है। जिस आध्यात्मिक प्रतिमा का प्रभाव ग्रहणशील बुद्धि पर पड़ता है, उसकी रचना क्रियाशील बुद्धि ने इंद्रिय-दत्तों की सामग्री से की है। इस प्रकार इंद्रियां ज्ञान प्राप्ति का स्रोत हैं, इसका कारण नहीं।

पूर्ववर्ती परिच्छेद में हमने 'प्रदीपन' की तुलना का प्रयोग किया है। अब हम इसकी दार्शनिक व्याख्या प्रस्तुत करें। संवेदन-ज्ञान का विषय भौतिक ही है, अर्थात् वह एक विशेष तत्त्व है, किसी निश्चित देश-काल में स्थित। भौतिक प्रतिमा पर बुद्धि का प्रभाव इसमें है कि बुद्धि उसे उसकी भौतिकता से वंचित करती है। दूसरे शब्दों में, बुद्धि प्रतिमा की व्यष्टिता एवं देश-काल सम्बन्धी उसकी विशेषताओं की अवज्ञा करती है। संवेदन-प्रतिमा को उसकी भौतिकता से वंचित करना उसे आध्यात्मिक बना देने से अभिन्न है। लेकिन, प्रतिमा पर अपनी आध्यात्मिकता आरोपित करते हुए भी, बुद्धि उसकी विशेषताओं में हस्तक्षेप नहीं करती है। 'पीपल' का सामान्य प्रत्यय भिन्न-भिन्न विशेष पीपल पेड़ों के प्रत्यक्ष के आधार पर ही स्थापित किया गया है, किसी रचनात्मक बुद्धि की कल्पना मात्र नहीं है। सिर्फ प्रत्यय का सामान्यीकरण प्रतिमा पर आध्यात्मिकता के आरोपण का परिणाम है। इसके अतिरिक्त हमें यह स्वीकार करना पड़ेगा कि जो तत्त्व इस सामान्यीकरण का विषय हो सकता है, उसमें वास्तव में ऐसे लक्षण विद्यमान होते हैं, जो भौतिकता के अभाव में सामान्य लक्षणों के रूप में दिखाई पड़ सकते हैं। किसी तत्त्व के इन लक्षणों की समष्टि को स्कोलावादी शब्दावली में उसका 'आकार' कहा जाता है। अनुषंगत: सामान्य प्रत्ययों के उक्त 'अमूर्तीकरण' के आधार पर तत्त्वमीमांसा के सन्दर्भ में 'आकार-उपादान' का सिद्धान्त स्थापित किया जाता है। वस्तुतः 'उपादान' तत्त्व की भौतिकता है।

क्रियाशील दृष्टि से यह कहा गया है कि बुद्धि इन्द्रिय-दत्तों पर अपनी आध्यात्मिकता आरोपित करती है। ग्रहणशील दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि बुद्धि अपने आपको इस आध्यात्मिक प्रतिमा के अनुरूप बनाती है। तत्त्व का जो

7. "Tabula rasa".

आकार भौतिकता से वंचित किया गया है, उसे बुद्धि अपने अभ्यंतर में ग्रहण करती है। अतः विषय से प्राप्त प्रतिमा स्वयं विषयी का तत्त्व बन जाती है। इससे स्पष्ट है कि यह अंतर्वर्ती प्रतिमा एक चेतन प्रतिमा भी होगी : आत्मचेतन होने के कारण बुद्धि इन सब तत्त्वों की भी चेतन होती है, जो उसकी चेतना में प्रवेश करते हैं। इस चेतन प्रतिमा को स्कोलावादी शब्दावली में 'व्यक्त प्रतिमा' कहा जाता है, क्योंकि बुद्धि को व्यक्त रूप से उसकी चेतना प्राप्त है। उसे 'मानसिक शब्द' भी कहा जाता है, क्योंकि मानसिक प्रत्यय के सम्बन्ध से सुनने में सार्थकता प्रतीत होती है।

ज्ञेय से प्राप्त प्रतिमा ज्ञाता के लिए एक चेतन विषय है, इस बात की हमने सन्तोषजनक व्याख्या प्रस्तुत की है, लेकिन यह चेतन-प्रतिमा किस प्रकार विषयी से भिन्न विषय का बोध कराती है, इस समस्या का समाधान आवश्यक है। प्रतिमा तो चेतना में ही स्थित है, फलतः ज्ञाता से अभिन्न है। वास्तव में चेतन प्रतिमा स्वयं ज्ञान का विषय नहीं है, बल्कि एक चिन्ह या प्रतीक मात्र है जिसके माध्यम से ज्ञाता ज्ञेय को ग्रहण करता है। बौद्धिक प्रतिमा यदि स्वयं ज्ञान का विषय होती, तो ज्ञाता अपने आपके अतिरिक्त और कुछ नहीं जान सकता : कारण, चेतन प्रतिमा चेतना की दशा ही है। लेकिन जो प्रतिमा तात्त्विक दृष्टि से ज्ञाता से अभिन्न है, वह किसी दूसरी दृष्टि से ज्ञेय की ओर संकेत करती है।

व्यक्ति-विषयक परिच्छेद में हम यह कह चुके हैं कि आत्मा सत्ता की संपूर्णता के प्रति मानो प्रवृत्त होती है। फिर, ज्ञान की क्रिया इस "आध्यात्मिक प्रवृत्ति' से ही प्रेरित है। जब ज्ञानशक्ति किसी प्रतिमा-विशेष से निर्धारित की गई है, तो उसकी प्रवृत्ति सत्ता के उस तत्त्व-विशेष की ओर आगे बढ़ती है जिसकी ओर प्रतिमा उसे निर्दिष्ट करती है। अतः ज्ञान में ज्ञाता अपने से भिन्न वास्तविक तत्त्व को इसलिए प्राप्त कर सकता है, कि वह आध्यात्मिक प्रवृत्ति के बल पर अपने तत्त्व तक ही सीमित नहीं है। इस प्रवृत्ति-प्रवाह से प्रेरित होकर प्रतिमा ज्ञाता से भिन्न विषय की ओर उसकी दृष्टि प्रवर्तित करती है इसलिए उसे सही अर्थ में एक 'चिन्ह' कहा जाता है : चिन्ह जो अपने आपकी अपेक्षा दूसरे तत्त्व को दिखाता है। संक्षेप में : तात्त्विक दृष्टि से प्रतिमा ज्ञाता से अभिन्न ही है; ज्ञान की प्रवृत्ति की दृष्टि से प्रतिमा भिन्न विषय से भी सम्बद्ध है सारांशतः, प्रवृत्ति के बल पर ज्ञान प्रतिमा के माध्यम से विषयनिष्ठ है।

प्रत्यय की रचना के फलस्वरूप ज्ञाता को इस बात का बोध है कि अमुक तत्त्व क्या है। फिर, यह ज्ञान ज्ञाता से भिन्न किसी विषय की ओर संकेत करता है। अत : यह स्वभाविक ही है कि ज्ञाता व्यक्त रूप से प्रत्यय को वास्तविक तत्त्व से सम्बन्धित करे। प्रतिमा की मात्र चेतना ही संपूर्ण ज्ञान नहीं है; इसके अतिरिक्त निर्णय की आवश्यकता भी है। निर्णय तो प्रतिमा का तत्त्व मे सम्बन्ध अभिव्यक्त करता है। निर्णय का मूलभूत आकार लीजिए : 'यह एक पुस्तक है'। इसमें संकेता-

वाचक सर्वनाम किसी यथार्थ तत्त्व की ओर संकेत करता है, जबकि विषय बौद्धिक प्रत्यय को व्यंजित करता है। प्रथमोक्त देश-काल में स्थित एक भौतिक व्यष्टि है; उपरोक्त, आध्यात्मिक बुद्धि की रचना होकर सामान्य ही है फिर भी दोनों का तादात्मय असंगत नहीं है। विशेष तत्त्व को वास्तव में ऐसे लक्षण प्राप्त हैं, जिनका भौतिकता के अभाव में अमूर्त प्रत्यय में सामान्यीकरण किया जा सकता है। दूसरी ओर, सामान्य प्रत्यय एक ऐसे स्वभाव का बोध कराता है, जो वास्तव में विशेष तत्त्वों में ही विद्यमान है। निर्णय पुनरुक्ति भी नहीं है, क्योंकि जिसे उद्देश्य व्यक्त करता है, अर्थात् एक तत्त्व विशेष, वह केवल अव्यक्त रूप से विधेय में निहित है। इसके विपरीत तत्त्व का स्वभाव अव्यक्त रूप से उद्देश्य में, व्यक्त रूप से विधेय में है। इस सार्थक रूप में निर्णय यथार्थता और बुद्धि का तादात्मय स्थापित करता है।

इससे प्रश्न उठता है : सत्य क्या है ? स्कोलावाद सत्य की परिभाषा इस प्रकार है 'बुद्धि की तत्त्व से अनुरूपता'। इस परिभाषा में "बुद्धि" का अर्थ है : बुद्धि से रचित धारणा या प्रत्यय: "तत्त्व" है यथार्थ ज्ञान-विषय। जो निर्णय सही रूप से यथार्थता और बुद्धि का तादात्मय स्थापित करता है, वह सत्य ही होगा। ध्यान देने योग्य बात है कि उक्त परिभाषा 'तार्किक सत्य' की है, अत: उसके अनुसार सत्य बुद्धि की ही विशेषता है। जिस बौद्धिक सत्य के निर्णय में अभिव्यक्त किया जाता है, उसे ज्ञान-प्रक्रिया की पूर्ववर्ती अवस्था में ही स्थापित किया गया था। प्रतिमा की रचना करने के लिए बुद्धि तत्त्व का आकार अपनाकर अपने को विषय के अनुरूप बनाती है। बुद्धि की तत्त्व से यह अनुरूपता तात्त्विक रूप से सत्य की परिभाषा को पूरा करती है। कारण, वास्तव में प्रतिमा-सहित बुद्धि अनुरूप तत्त्व के सदृश है। लेकिन, इस तात्विक अनुरूपता की व्यक्त चेतना कुछ और है। विषय की प्रतिमा को प्राप्त कर ज्ञाता इस बात का चेतन हो जाता है कि उसका प्रत्यय ज्ञ ता से भिन्न किसी तत्त्व से अनुरूपता का सम्बन्ध रखता है। इस प्रकार विषय-विषयी का प्रभेद करते हुए ज्ञाता-इन दोनों का तादात्मय भी देखता है। इस द्वैताद्वैत को वह निर्णय के रूप में अभिव्यक्त करता है : 'यह एक पुस्तक है'; इस निर्णय में पृथक्-पृथक् होते हुए भी उद्देश्य और विधेय का तादात्मय संयोजक के माध्यम से स्थापित किया जाता है। निर्णय को इसलिए पूर्ण रूप से सत्य कहा जाता है क्योंकि बुद्धि की तत्त्व से अनुरूपता, जो तात्त्विक रूप से प्रतिमा-सहित बुद्धि में विद्यमान थी, उसे निर्णय में चेतन रूप से अभिव्यक्त किया जाता है। साथ ही निर्णय को प्रस्तुत करने से ज्ञाता अपनी बुद्धि की सच्चाई का व्यक्त रूप से समर्थन करता है। 'सत्य बुद्धि की तत्त्व से अनुरूपता है', इस धारणा के निहितार्थ हैं ज्ञाता की दृष्टि से, सत्य इस पर निर्भर है कि बुद्धि यथार्थता को प्राप्त करने में समर्थ है; तत्त्व की दृष्टि से, यथार्थता स्वयं ही बुद्धि का उपयुक्त विषय है। दूसरे शब्दों में, यदि सत्ता बोधगम्य ही है, तो सत्ता का क्षेत्र बुद्धि के विस्तार से संतुलित होगा : जो कुछ अस्तित्व रखता है, वह बुद्धि का विषय भी हो सकता है। फिर, तत्त्वों की संपूर्णता

के अतिरिक्त शेष शून्य ही है । इसलिए, बुद्धि का विषय सत्ता की संपूर्णता ही है । ईसाई दर्शन का यह दावा है कि अभौतिक तत्त्वों का अस्तित्वमात्र नहीं है, बल्कि मानव बुद्धि उनकी प्राप्ति भी कर सकती है । उपर्युक्त संदर्भ में यह दिखाया जाएगा कि किस प्रकार मानव-बुद्धि, इन्द्रियों पर आश्रित होने पर भी, अपनी आत्मा, और अन्ततः परमेश्वर जैसे अनुभवातीत तत्त्वों को यथार्थ रूप में जानने में समर्थ है ।

(ख) संकल्प-शक्ति

ज्ञान-शक्ति के अतिरिक्त मानव की एक और आध्यात्मिक शक्ति है, संकल्प शक्ति । ज्ञान-शक्ति इस आध्यात्मिक प्रवृत्ति की पहली अभिव्यक्ति है, जिससे प्रेरित होकर आत्मा सत्ता की संपूर्णता को प्राप्त करने की अभिलाषा करती है । देखें, ज्ञान की प्राप्ति से मानव इस अभिलाषा की किस प्रकार पूर्ति करता है । जैसा हम ऊपर कह चुके हैं, ज्ञाता ज्ञेय का आकार अपनाकर अपने अभ्यंतर में उसकी प्रतिमा की रचना करता है । फलतः विषयी विषय को प्रतिमा की दृष्टि से अवश्य ही प्राप्त करता है, किन्तु तत्त्व की दृष्टि से उससे दूर रहता है । अतः सत्ता को प्राप्त करने का उसका प्रयास अधूरा ही रहता है । इससे विषयी में, ज्ञान-क्रिया के अतिरिक्त, एक दूसरी क्रिया की उत्पत्ति होती है, जिसका लक्ष्य विषय की प्रतिमा मात्र को नहीं, उसकी वास्तविकता को प्राप्त करना होता है । जबकि ज्ञान में क्रिया की दिशा विषय से विषयी की ओर है, संकल्प की क्रिया में दिशा उसके विपरीत विषयी से विषय की ओर होगी । कहने का तात्पर्य है कि ज्ञान में विषय को प्रतिमा के माध्यम से विषयी की आंतरिकता में सम्मिलित किया जाता है; इसके विपरीत संकल्प के बल पर विषयी अपने आपको विषय की अपनी वास्तविकता से संयुक्त करता है । उल्लेखनीय बात है कि भिन्न-भिन्न तत्त्वों के अनुसार विषय-विषयी का यह संयोजन भिन्न-भिन्न होगा । भौतिक तत्त्वों के उदाहरण में मानव उन्हें अपने अधिकार में रखने की कोशिश करेगा और इस प्रकार शाब्दिक अर्थ में उनकी प्राप्ति करेगा । लेकिन अभौतिक तत्त्वों के प्रति संकल्प-सहित व्यक्ति की प्रतिक्रिया भिन्न होगी । अभौतिक होने से वे ग्रहण नहीं किये जा सकते हैं । अतः अभौतिक विषय को उसकी अपनी यथार्थता में प्राप्त करने के बदले, व्यक्ति उसे उसके अन्यत्व में अपने आपको प्रदान करेगा । दूसरे शब्दों में, अभौतिक तत्त्वों के सम्बन्ध में संकल्प आत्मदान या प्रेम का स्रोत प्रतीत होता है । प्रेम के माध्यम से व्यक्ति आध्यात्मिक रूप से अपने आपको अन्यों से संयुक्त करता है और इस प्रकार अपनी "मूलभूत प्रवृत्ति" के अनुसार उनकी वास्ताविकता तक पहुंचता है ।

संकल्प ज्ञान से भिन्न शक्ति है, लेकिन उससे संयुक्त भी है । उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि संकल्प को बुद्धि से प्रेरणा मिलती है । जिस तत्त्व को बुद्धि प्रतिमा-मात्र के रूप में प्राप्त कर सकती है, उसे उसकी वास्तविकता में भी संकल्प प्राप्त करना चाहता है । इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि संकल्प ज्ञान-शक्ति के

समान ही आध्यात्मिक शक्ति है। संकल्प मानो ज्ञान का अनुसरण करता है : संकल्प जिस तत्त्व की इच्छा करता है, वह उसे बौद्धिक दृष्टि से प्रस्तुत किया गया है; अतः संकल्प भी ज्ञान के सदृश एक आध्यात्मिक प्रवृत्ति होगा। लेकिन ज्ञान का नेतृत्व स्वीकार करने पर भी, संकल्प का विषय ज्ञान के विषय से भिन्न है, या एक ही तत्व के भिन्न-भिन्न पहलू क्रमशः इन दोनों के विषय होंगे। ज्ञान जिस तत्त्व को प्राप्त सत्य की दृष्टि से करना चाहता है, उससे संकल्प शुभ की दृष्टि से ही प्रेम रखता है। साथ ही शुभ-स्वरूप संकल्प का विषय विशेष शुभ तत्त्वों की अपेक्षा सामान्य रूप से शुभ होगा। कारण, बुद्धि की क्षमता है विशेष तत्त्वों को सामान्य दृष्टिकोण से समझने की। इस बात का प्रमाण इसमे है कि बुद्धि को ऐसे प्रत्यय प्राप्त हैं, जिनका प्रयोग सब तत्त्वों के विषय में किया जा सकता है। 'सत्ता' इस प्रकार का एक सर्वव्यापक प्रत्यय है जिसमें सभी तत्त्व सम्मिलित हैं। शुभ-प्रत्यय भी इस अर्थ में एक अपरिमित धारणा प्रतीत होता है कि शुभ की कल्पना में किसी अशुभ के लिए कोई स्थान नहीं हो सकता है। अतः यदि बुद्धि संकल्प को असीम शुभ की धारणा प्रस्तुत कर सकती है, तो अनिवार्य रूप से संकल्प में पूर्ण शुभ को प्राप्त करने की आकांक्षा उत्पन्न होगी। इसलिए आध्यात्मिक प्रवृत्ति को होने के कारण संकल्प का सर्वोत्तम विषम एकमात्र शुभ ही है और शुभ-विशेष सिर्फ इस पूर्ण शुभ की दृष्टि में संकल्प के लिए अभीष्ट हो सकता है।

अब हम संकल्प स्वातन्त्र्य का प्रश्न उठा सकते हैं। उपर्युक्त बातों के अनुसार आध्यात्मिक प्रवृत्ति-स्वरूप संकल्प का विषय शुभ ही है। शुभ की ओर आकर्षित होना संकल्प का स्वभाव है। अतः यदि संकल्प को पूर्णतया शुभ प्रस्तुत किया जाय, तो अनिवार्य रूप से वह उसकी ओर प्रवृत्त होगा। सम्पूर्ण शुभ में ऐसा कुछ नहीं है जिससे संकल्प विद्वेष रख सके, और सम्पूर्ण शुभ के अतिरिक्त और कोई शुभ नहीं हो सकता है इसलिए किसी भी विकल्प के अभाव में संकल्प का सम्पूर्ण शुभ की अभिलाषा करना अनिवार्य है। सम्पूर्ण शुभ को वह इन्कार भी नहीं कर सकता, क्योंकि शुभ का अभाव किसी इच्छा का विषय नहीं हो सकता है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि संकल्प पूर्णतया अनियत नहीं है : सम्पूर्ण शुभ के सम्बन्ध में वह नियत ही है। संकल्प की अनियति इससे उत्पन्न होती है कि जो शुभ उसे बुद्धि द्वारा प्रस्तुत किया जाता है, वह अपूर्ण होता है। अवश्य ही बुद्धि की दृष्टि सामान्य है, लेकिन जिन तत्त्वों का वह ज्ञान प्राप्त करती है, वे विशेष ही है। जब तक बुद्धि सम्पूर्ण शुभ का साक्षात्कार न करे, तब तक इससे प्रस्तुत तत्त्व संकल्प को सीमित अर्थ में ही शुभ प्रतीत होंगे। शुभ-विशेष के प्रति संकल्प नियत नहीं है। कारण, इस शुभ-विशेष के अतिरिक्त अन्य शुभ तत्त्व भी हैं। भिन्न-भिन्न विकल्पों की उपलब्धि से वरण की सम्भावना उत्पन्न होती है। अतः संकल्प-स्वातन्त्र्य इसमें है कि मानव शुभ-विशेष की विविधता के प्रति वरणाधिकार प्राप्त है।

स्कोलावाद द्वारा प्रस्तुत वरणाधिकार का विश्लेषण काफी सूक्ष्म है। इसमें

प्रयुक्त मूलभूत प्रत्यय आत्मनिर्णय[8] का है। संकल्प बुद्धि का मानो अनुसरण करता है, क्योंकि उसका विषय उसे ज्ञान द्वारा पेश किया जाता है। फिर, ज्ञान-शक्ति की क्रिया निर्णय ही है। अब, निर्णय करने में स्वतन्त्रता के लिए कोई स्थान नहीं है। जो उसे सत्य प्रतीत होता है, उसी को अनिवार्य रूप से बुद्धि निर्णय में व्यक्त करती है। अब, यदि किसी कर्त्तव्य के विषय में बुद्धि का निर्णय अनिवार्य है, और यदि संकल्प बुद्धि का कथन मानता है, तो वरण की स्वतन्त्रता कहां ? उसे बचाने के लिए यह मानना आवश्यक होगा कि संकल्प निर्णय में हस्तक्षेप करे। न्यायवाक्य के रूप में "व्यावहारिक निर्णय" का आकार इस प्रकार होगा जो शुभ है, उसे करना चाहिए; फिर, अमुक बात शुभ है; इसलिए इस बात को करना चाहिए। यहां, शुभ का अभिप्राय अपरिमित ही है, इसमें किसी अशुभ के लिए कोई स्थान नहीं है। इसके विपरीत कोई तत्त्व विशेष शुभ मात्र नहीं है, उसमें अशुभ भी सम्मिलित होगा, कम से कम इस दृष्टि से कि ससीम तत्त्व असीम शुभ नहीं हो सकता है। अतः शुद्ध बौद्धिक दृष्टि से इन दोनों का तादात्म्य स्वीकार नहीं किया जा सकता है। निर्णय में संकल्प का हस्तक्षेप इसमें है कि वह बुद्धि का ध्यान अमुक बात के शुभ पहलू पर ही लगाता है, अशुभ पहलू पर नहीं। तभी सामान्य और विशेष शुभ का तादात्म्य बुद्धि के लिए स्वीकार्य होगा। उक्त प्रमाण का तात्पर्य है कि अन्य विकल्पों की अपेक्षा संकल्प एक को चुनता है। इस उद्देश्य से वह बुद्धि पर, अपना प्रभाव डालता है। इसके अभाव में बुद्धि किसी एक तत्त्व को नहीं, सभी तत्त्वों को ही शुभ मानकर सही अर्थ में "कर्तव्य" घोषित कर सकेगी। इस प्रक्रिया को इसलिए "आत्मनिर्णय" कहा जाता है, क्योंकि बुद्धि पर संकल्प-प्रभाव के फलस्वरूप निर्णय व्यक्ति के अधिकार में है, अतः स्वाधीन निर्णय ही है।

वरणाधिकार के बावजूद संकल्प-स्वातन्त्र्य पूर्ण रूप से अनियत नहीं है। ऊपर हम यह कह चुके हैं कि अपने स्वभाव से संकल्प शुभ की ओर आकर्षित होता है। शुभ के अतिरिक्त वह और कुछ की अभिलाषा ही नहीं कर सकता। अतः शुभ की प्राप्ति ही संकल्प का नियम है। साथ ही, वरणाधिकार के बल पर मानव अशुभ को भी चुन सकता है। लेकिन जिस अशुभ की वह अभिलाषा करता है, उसे वह किसी न किसी शुभ की दृष्टि से चाहता है। पाप में भी शुभ का पूर्ण अभाव नहीं है, क्योंकि पाप से कर्त्ता को कोई-न-कोई सन्तोष मिलता है, जो उसके दृष्टिकोण से शुभ प्रतीत होता है। इस बिल्कुल सामान्य अर्थ में संकल्प-स्वातन्त्र्य शुभ के सम्बन्ध में नियत है। परन्तु इससे स्पष्ट नहीं है कि अशुभ, विषयीनिष्ठ दृष्टि से शुभ प्रतीत होते हुए भी, विषयनिष्ठ दृष्टि से निषेध का विषय हो सकता है। किसी प्रकार के शुभ की इच्छा करना संकल्प के लिए अनिवार्य है। लेकिन क्या इस सामान्य नियति के अतिरिक्त भी मानव-संकल्प किसी नैतिक नियम के अधीन है ? अवश्य ही मानव

8-"Liberum arbitrum", freedom of judgement.

नैतिक अशुभ को स्वीकार करने में समर्थ है, लेकिन क्या नैतिक शुभ उसका कर्तव्य नहीं है ? और यदि ऐसा हो, तो किसी प्रकार नैतिक नियम और संकल्प-स्वातन्त्र्य का समन्वय किया जा सकता है ?

वास्तव में संकल्प सम्पूर्ण शुभ के विषय में ही नियत है । उपर्युक्त बातों से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि सम्पूर्ण शुभ संकल्प का अन्तिम विषय होकर उसे अनिवार्य रूप से आकर्षित करता है । जो शुभ-विशेष संकल्प को आकृष्ट करते हैं, वे सिर्फ सम्पूर्ण शुभ के परिप्रेक्ष्य में शुभ प्रतीत होते हैं । जो कुछ सम्पूर्ण शुभ की प्राप्ति के लिए सहायक है, वही वास्तव में शुभ कहा जा सकता है; जो कुछ उससे अपवर्तन करता है, वह अशुभ ही है । फलतः मानव यदि सम्पूर्ण शुभ के अधीन है, तो उससे सम्बद्ध शुभ से भी बाध्य होगा । नैतिक नियम इससे उत्पन्न होता है कि शुभ की सम्पूर्णता मानवातीत तत्त्व ही है । नैतिक क्षेत्र में संकल्प-स्वातन्त्र्य इसमें होगा कि अशुभ को चुनने में समर्थ होते हुए भी मानव शुभ को ही स्वीकार करे । स्वतन्त्रता का तात्पर्य यह नहीं है कि शुभ-अशुभ मानव के लिए तटस्थ विकल्प ही होते, बल्कि यह कि हम विवश न होकर, स्वतः ही अपना कर्तव्य करें । अन्त में नैतिक नियम की स्वीकृति इस बात पर निर्भर है कि मानव अपने आपको सम्पूर्ण शुभ के अधीन माने । अवश्य ही अपनी स्वतन्त्रता के बल पर वह इस मूलभूत परतन्त्रता को अस्वीकार कर सकता है आपको ही शुभ का मानदण्ड मान सकता है । तब किसी भी नियति के अभाव में वह पूर्णतया स्वाधीनता होता । प्रश्न है : क्या मानव को स्वयं ही परम शुभ के बराबर माना जा सकता है ? इसके विपरीत, यदि सम्पूर्ण शुभ के विषय में मानव परतन्त्र दिखाई पड़ता है, तो निस्सन्देह उसकी स्वतन्त्रता नियम-बद्ध भी प्रतीत होगी; उस स्थिति में स्वतन्त्रता का अभाव नहीं होगा, क्योंकि मानव स्वतः अपने आपको इस मूलभूत नियम के अनुकूल कर देता है, जब तक वह संपूर्ण शुभ से प्रेमपूर्वक संयुक्त होकर सब प्रकार की बाध्यता से मुक्त न हो । इन बातों का नीतिशास्त्र और आत्मसिद्धि के सन्दर्भ में पुनः विवेचन करना पड़ेगा ।

III– मानव : स्वभाव, उत्पत्ति और अमरता

(क) मानव; आत्मा और शरीर से संश्लिष्ट तत्त्व, या शरीरधारी आत्मा

पूर्ववर्ती परिच्छेद में हमने मानव की मूलभूत क्रियाओं का वर्णन किया है । ज्ञान और संकल्प दोनों द्वारा मानव अपने से पृथक् तत्त्वों से संबंध रखता है । ज्ञान में विषय से सम्बन्ध विषयी में स्थित प्रतिमा पर निर्भर रहती है; संकल्प द्वारा विषयी को पृथक् विषय से उसके अन्यत्व में ही, संयुक्त किया जाता है । भिन्न-भिन्न प्रकार की क्रियाओं को उस मूलभूत प्रवृत्ति से प्रेरणा मिलती है जिसे हमने 'आध्या-

त्मिक प्रवृत्ति' कहा है। ध्यान देने योग्य बात है कि इस दृष्टि से आध्यात्मिक क्रियाओं का कर्त्ता एक ऐसा तत्त्व है जो अपने स्वभाव से अपनी यथार्थता तक सीमित नहीं, बल्कि यथार्थता को संपूर्णता की ओर अभिमुख है। दूसरी ओर इन क्रियाओं का कर्त्ता अपने आप में स्थित तत्त्व भी है। कारण, ज्ञान या संकल्प द्वारा अन्य तत्त्वों से संबंध स्थापित करते हुए भी, चेतन कर्त्ता उनसे अपनी पृथक्ता को भी पहचानता है। ज्ञाता किसी तत्त्व को **विषय** के रूप में नहीं जान सकता, यदि वह अपने आपको **विषयी** के रूप में नहीं जानता : विषयनिष्ठ ज्ञान में विषयी का आत्मज्ञान निहित है। दूसरे शब्दों में, जो ज्ञान में विषय-विषयी का प्रभेद कर सकता है, वह आत्म-चेतन भी होगा। इस नवीन दृष्टि से ज्ञान और संकल्प-सहित तत्त्व न तो केवल दूसरे तत्त्वों की ओर बहिर्मुख है, वल्कि वह अन्तर्मुखी भी होगा। विषयनिष्ठ क्रिया में विषय की चेतना के अतिरिक्त विषयी को आत्मचेतना भी प्राप्त है। इस आत्मचेतना के बल पर मानव एक स्ववर्ती तत्त्व प्रतीत होता है, क्योंकि अस्तित्व रखने का ढंग चेतनास्तर के अनुसार होता है।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर हमें मानव तत्त्व में दो विरोधी पहलुओं को स्वीकार करना पड़ता है विषयनिष्ठ प्रवृत्ति और विषयी की स्ववर्तिता। पहले के फलस्वरूप मानव विषय की ओर प्रवृत्त होकर आत्मातिक्रमण करता है; दूसरे के बल पर वह अपने आपमें ही स्थित रहता है, स्ववर्ती तत्त्व के रूप में। एक ओर उसकी आध्यात्मिक क्रिया का विस्तार अपरिमित है : सर्वव्यापी सत्ता-प्रत्यय के परिप्रेक्ष्य में मानव सत्ता की संपूर्णता की अभिलाषा कर सकता है। दूसरी ओर मानव की अपनी यथार्थता परिमित ही है। वह अपने आपको विषयों के रूप में अन्य विषयों से पृथक् समझता है। मानव को हम अवश्य ही असीम मानते हैं, किन्तु सिर्फ उसकी क्षमता या प्रवृत्ति के दृष्टिकोण से; तत्त्व या अस्तित्व की दृष्टि से मानव ससीम ही है। अब, इन दो विरोधी पहलुओं के संश्लेषण से आत्मा का प्रत्यय मिलता है। विरोधाभासी होते हुए भी दोनों का एक तत्त्व में संयोग असंगत नहीं है, यह बात इस प्रकार दिखाई जा सकती है। उक्त दो पहलुओं में से आत्मचेतन विषयी की आंतरिकता को प्रधानता मिलती है : उसी केन्द्र से विषयनिष्ठ क्रिया उत्पन्न होती है, उसी के सम्बन्ध में विषय की प्राप्ति की जाती है। मुख्य रूप से आत्मचेतन तत्त्व मानो अपना आधार ही है : कारण, जो तत्त्व चेतना की दृष्टि से अपने आपका प्रत्यक्ष साक्षात्कार करता है, वह अस्तित्व की दृष्टि से भी आत्मनिर्भर होगा। कारण, चेतना अस्तित्व का एक व्यक्त रूप ही है। साथ ही स्ववर्ती आत्मा सीमित भी दिखाई पड़ती है, क्योंकि आत्मचेतना उसे केवल अन्य तत्त्वों के संबंध में प्राप्त होती है। विषयी सिर्फ विषयनिष्ठ ज्ञान में अपने आपका चेतन हो जाता है। अतः अपनी ससीमता का अतिक्रमण करने के लिए आत्मा अन्य तत्त्वों की ओर प्रवृत्त हो जाएगी। फिर, इस मूलभूत प्रवृत्ति से आत्मा में ज्ञान और संकल्प-शक्तियों का एक

तरह से प्रसर्जन भी होगा[9], जिनकी सहायता से ससीम आत्मा सत्ता की असीम संपूर्णता में सम्बन्ध रख सकेगी। इस प्रकार आत्मा में दो विरोधी पहलुओं का समन्वय बोधगम्य किया जा सकता है। लेकिन आत्मा में असीम सत्ता की ओर प्रवृत्ति विद्यमान है, यह बात केवल आत्मा के परम तत्त्व से सम्बन्ध के आधार पर समझा जा सकेगी।

इस बात के महत्त्व के कारण हमें उपर्युक्त स्ववर्तिता पर पुनः ध्यान देना चाहिए। यह स्पष्ट ही है कि आत्मचेतन तत्त्व अपने आपके लिए प्रत्यक्ष दिखाई पड़ता है। अतः उसमें इन दोनों का तादात्म्य मिलता है, अर्थात् चेतना और तत्त्व का; यह तो आत्मचेतना अर्थात् अपने आपसे चेतन तत्त्व का अभिप्राय है। ज्ञान के अतिरिक्त दोनों की अभिन्नता स्वतन्त्र क्रियाओं में भी प्रतीत होती है। जानबूझकर किए हुए कार्य कर्त्ता के अधिकार में ही रहते हैं। इसलिए क्रियाशील दृष्टि से भी तत्त्व अपने से वियुक्त नहीं है। अब चेतना से अस्तित्व के विषय में अनुमान करना सहज ही है : जो तत्त्व चेतना की दृष्टि से अपने से अभिन्न है, उसका अस्तित्व की दृष्टि से आत्मनिर्भर होना भा अनिवार्य है। चेतना तो यथार्थता का प्रतिबिंब ही है। लेकिन इस प्रसंग में आत्मनिर्भरता का सही तात्पर्य क्या है ? आत्मचेतन आत्मा इसलिए अपने पर निर्भर है, क्योंकि वह अपने से भिन्न तत्त्व पर निर्भर नहीं रहती है। फिर, आत्मा से भिन्न तत्त्व प्रकृति ही है। यदि भौतिक शरीर के बावजूद मानव आत्मचेतन है, तो उसकी आत्मा प्रकृति के अधीन नहीं हो सकती है, बल्कि स्वाधीन ही होगी। अतः जिस स्ववर्तिता का आत्मचेतना से अनुमान किया गया है, उसका सही अर्थ यह है कि आत्मा का अस्तित्व शरीर से संयोग पर आश्रित नहीं है। स्ववर्तिता का अर्थ यह नहीं है कि आत्मा अपने आपसे ही अस्तित्व रखकर स्वयंभू होती। अब प्रश्न उठता है, इस आत्मा-शरीर संयोग के विषय में।

मानव के आध्यात्मिक कार्य शरीर के अभाव में नहीं किए जा सकते हैं, इस तथ्य को अस्वीकार करना मुश्किल होगा। ज्ञान-क्रिया के विवेचन से यह प्रतीत हुआ कि विषय की प्रतिमा पहले-पहल इन्द्रियों के सहयोग से प्राप्त की जाती है। दूसरी ओर प्रतिमा इसलिए सामान्य प्रत्यय के रूप में व्यक्त की जा सकती है, क्योंकि ज्ञानशक्ति ने उस पर अपनी आध्यात्मिकता आरोपित की है। इससे स्पष्ट है कि ज्ञान में भौतिक इन्द्रियां और आध्यात्मिक ज्ञान-शक्ति अविच्छेद्य रूप से परस्पर सहयोग करती हैं। संकल्प पर भी भौतिक सहजप्रवृत्तियां अपना प्रभाव डालती हैं; लेकिन, इनसे आकृष्ट होते हुए भी उसकी स्वतन्त्रता अक्षुण्ण बनी रहती है। फिर संकल्पशक्ति न केवल भौतिक प्रवृत्तियों का संयम कर सकती है, अपितु उन्हें आध्यात्मिक स्तर पर भी उठा सकती है। ऊपर प्रयुक्त सिद्धान्त के अनुसार हम किसी तत्त्व की क्रिया से उसके अस्तित्व के विषय में भी अनुमान कर सकते हैं। इसलिए, आत्मा

9-देखें **Summa Theologica**, I, 77, 6, ad 3m.

जिस प्रकार शरीर के अभाव में अपनी क्रियाएं नहीं कर सकती है, उसी प्रकार वर्तमान स्थिति में शरीर से संयुक्त होकर अस्तित्व भी रखती है। फिर, शरीर से संयुक्त होते हुए भी आत्मा उसके अधीन नहीं है। इस स्वाधीनता को बचाने के उद्देश्य से हमने पूर्ववर्ती परिच्छेद में आत्मा की स्ववर्तिता को सिद्ध किया है। आत्मचेतना के तथ्य से हमने यह निष्कर्ष निकाला है कि अस्तित्व की दृष्टि से आत्मा शरीर से संयोग पर आश्रित नहीं है, क्योंकि शरीर की भौतिकता आत्मचेतना को नहीं बुझाती है। इस मूलभूत प्रमाण के अतिरिक्त अमूर्त्त प्रत्ययों की रचना या संकल्प-स्वातन्त्र्य भी आत्मा की भौतिकता से स्वाधीनता को सिद्ध करते हैं, यद्यपि इन उदाहरणों में उसका शरीर से घनिष्ठ सम्बन्ध अधिक स्पष्ट है।

इन चेतना-तथ्यों के आधार पर आत्मा एवं शरीरत्व का सम्बन्ध सैद्धांतिक रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है मानव ढांचे के दो अवयवों में से भौतिकता की अपेक्षा आत्मा को प्रधानता देनी है : आत्मा तो शरीर का प्रयोग करती है, न कि शरीर आत्मा का। यह कहा जा सकता है कि आत्मा अपने आपको न केवल मानव क्रियाओं की दृष्टि से, अपितु मानव तत्त्व के निर्माण की दृष्टि से भी एक तरह से भौतिकता पर अंकित करती है। परम्परागत स्कोलावादी शब्दावली के अनुसार आत्मा को इस प्रसंग में शरीर का "आकार" कहा जाएगा, भौतिकता को "उपादान"। "उपादान" किसी तत्त्व का एक ऐसा निराकार अवयव माना जाता है, जिस पर कोई-न-कोई 'आकार' मानो मुहर के रूप में लगाया जा सकता है। तुलना का तात्त्विक अभिप्राय इस प्रकार है। भौतिकता से संयुक्त होने के परिणामस्वरूप आत्मा उसे शरीर के रूप में संघटित करती है : इस तरह वह अपनी एकता को प्रकृति में अभिव्यक्त करती है इसलिए अनुषंगतः आत्मा की एकता उसकी स्ववर्तिता से सम्बन्ध रखती है, क्योंकि आत्मचेतन तत्त्व अपने से पृथक् नहीं हो सकती है। आत्मा की इस आध्यात्मिक एकता पर शरीर की जैव एकता आश्रित है। ऊपर हम दिखा चुके हैं कि स्ववर्तिता के अतिरिक्त आत्मा का दूसरा पहलू उसकी मूलभूत प्रवृत्ति है। इस दृष्टि से आत्मा का शरीरत्व पर प्रभाव इसमें होगा कि वह शरीर के अंगों को अपनी आध्यात्मिक क्रियाओं के लिए तैयार करे। इसलिए उपादानस्वरूप शरीर के विषय में आकार-स्वरूप आत्मा का कार्य होगा कि आत्मा शरीर को अनुप्राणित करे। संक्षेप में इस दृष्टि से आत्मा जीव के रूप में प्रतीत होती है।

जो तत्त्व ऊपर वर्णित शरीर-आत्मा के संयोग से उत्पन्न होता है, वह एक द्रव्य ही है। अतः मानव की संपूर्णता में शरीरत्व एक अंगभूत अवयव है। शरीर के अभाव में शुद्ध आत्मा वास्तव में मानव नहीं है। लेकिन इन दो संपूरक संघटकों में से प्राथमिकता आत्मा की है, यहां तक कि आत्मा के अभाव में शरीर का विनष्ट हो जाएगा। इसलिए मानव-स्वरूप संश्लिष्ट द्रव्य भी आत्मा पर आश्रित है। इस बात का कारण इसमें है कि आत्मा को स्ववर्ती कहा गया है। उपर्युक्त स्पष्टीकरण के अनुसार "स्ववर्ती" का अभिप्राय यह है कि आत्मा का अस्तित्त्व शरीर से संयोग

पर आधारित नहीं है। दूसरे शब्दों में, आत्मा भौतिकता के अभाव में भी अस्तित्व रख सकती है। कथन का मौलिक प्रमाण आत्मचेतना की इस विशिष्टता में निहित है, जिसके बल पर आत्मा शरीर की भौतिकता के बावजूद अपने से पृथक् नहीं रहती है, अपने पर ही आश्रित है। इसके विपरीत शरीर का आश्रय आत्मा का अस्तित्व ही है। अतः मानव में अस्तित्व का आधार एकमात्र स्ववर्ती आत्मा है, न कि आत्मा शरीर का संयोग। फलतः भौतिकता के सम्बन्ध में आत्मा का कार्य द्विपक्षीय है। जीवात्मा के रूप में वह उपादान को शरीर का आकार प्रदान करती है; स्ववर्ती आत्मा के रूप में वह दोनों से संश्लिष्ट द्रव्य को अस्तित्व भी प्रदान करती है। बाद में मानव की उत्पत्ति और अमरता के प्रसंग में इन दो कार्यों का प्रभेद काम में लाना पड़ेगा।

वर्त्तमान स्थिति में भौतिक शरीर सम्पूर्ण मानव का अंगभूत अंश है। फलतः आत्मा का शरीर से संयुक्त होना स्वभाव के विरुद्ध नहीं हो सकता है। जीवात्मा के रूप में आत्मा तात्त्विक दृष्टि से भौतिकता से सम्बन्ध रखती है। इसके अतिरिक्त शरीर से आत्मा को योगदान भी मिलता है। उपर्युक्त बातों से स्पष्ट है कि आत्मा की क्रियाओं में शरीर का सहयोग अनियार्य ही है। फिर, भाषा या अन्य शारीरिक चिन्हों से मानव अपने आन्तरिक भाव प्रकट करता है, जैसे आदर, भक्ति इत्यादि। इस भौतिक माध्यम से वह दूसरे व्यक्तियों से भी सम्पर्क स्थापित करता है। फिर, शरीर की सहायता से मानव भौतिक विश्व को अपने विकास का साधन बना सकता है। अवश्य ही शरीरत्व आत्मा का विरोध भी कर सकता है : अभिव्यक्ति के विपरीत वह आवरण हो सकता है, आत्मसिद्धि के मार्ग में वह बाधा उत्पन्न कर सकता है। इसलिए शरीरधारी आत्मा की स्थिति विरोधाभासी प्रतीत होती है।

(ख) मानव की उत्पत्ति :

मानवःउत्पत्ति विषयक प्रश्न जो इस परिच्छेद में उठाया गया है, वह व्यष्टि से सम्बन्ध रखता है, मानव-जाति से नहीं। उत्तरोक्त समस्या का उपर्युक्त संदर्भ विकासवाद ही है; फिर, विकासवाद की चर्चा सृष्टिवाद के प्रसंग में छेड़नी पड़ेगी। तो भी, व्यष्टि और समष्टि या जाति दोनों के विषय में एक ही सिद्धांत का प्रयोग किया जाएगा, वह है "स्वातिगता" या "स्वातिक्रमण" का सिद्धांत।[10] कारण, दोनों में, अन्य भिन्नताओं के बावजूद, एक सदृश-समस्या का सामना करना पड़ता है : किस प्रकार एक ऐसे परिणाम की उत्पत्ति हो सकती है, जो अपने कारण की क्षमता के परे प्रतीत होता है? विकासवाद की दृष्टि से समस्या स्पष्ट ही है।

10– Self--transcendence. K. Rahner इस धारणा का प्रयोग अपने मानव-विकास सम्बन्धी निबन्ध में करते हैं; देखें : **Sacramentum Mundi**, art. 'Eyolution', पृ–289 से लेकर।

मानव यदि प्राणी मात्र से उत्पन्न हुआ, और यदि प्राणी मात्र से उच्चतर है, तो मानव का किसी प्राणी-जाति से विकास कारण की दृष्टि से स्वातिगता का एक स्पष्ट उदाररण है। आत्मचेतना और चेतना का प्रभेद सिर्फ मात्रा का नहीं, बल्कि प्रकार का ही है। लेकिन मानव व्यष्टि की उत्पत्ति में प्रकार का प्रभेद नहीं मिलता है : माता-पिता स्वरूप जनक और व्यष्टि स्वरूप संतान, दोनों को एक ही मानव स्वभाव प्राप्त है। इससे यह कठिनाई उठती है कि व्यष्टि की उत्पत्ति के उदाहरण में परिणाम को अपने कारण की क्षमता के परे कैसे कहा जा सकता है ? उत्तर की पृष्ठभूमि मानव स्वभाव विषयक पूर्ववर्ती प्रकरण में उपलब्ध है। वहां इस बात पर बल दिया गया है कि आत्मा-शरीरत्व से संश्लिष्ट मानव द्रव्य अस्तित्व की दृष्टि से स्ववर्ती आत्मा पर ही आधारित है। फलतः प्रजनक स्वरूप मानव, अपनी स्ववर्ती आत्मा के बल पर आत्मनिर्भर तत्त्व होते हुए भी, किसी दूसरे नानव के लिए उसकी स्ववर्तिता का आधार नहीं हो सकता है। किसी अन्य पर आश्रित आत्मनिर्भर तत्त्व स्वतोविरोधी होता। इसलिए, यदि मानव सही अर्थ में स्ववर्ती तत्त्व कहा जा सकता है और साथ ही इस व्यष्टि की उत्पत्ति वास्तव में उस प्रजनक से हुई, तो इस उदाहरण में भी "स्वातिगता" की चर्चा हो सकती है। स्ववर्ती तत्त्व-स्वरूप परिणाम मानव कारण की क्षमता के परे है।

परन्तु व्यष्टि की उत्पत्ति संबंधी प्रश्न में एक ऐसी पूर्व धारणा निहित है, जो सबों के लिए स्वीकार्य नहीं होगी, अर्थात्, कि जन्म के पहले आत्मा का प्रागभाव नहीं है। जन्म लेने के पहले या तो शुद्ध आत्मा अस्तित्व रख सके, या पुनर्जन्म के अनुसार शरीरधारी आत्मा। ऐसा हो, तो आत्मा की उत्पत्ति का प्रश्न तक नहीं उठता है, कम-से-कम व्यष्टि के जन्म के सन्दर्भ में। साथ ही, इस परिकल्पना के फलस्वरूप प्रजनन से वास्तव में कोई नवीन मानव उत्पन्न नहीं होता है, बल्कि शरीर मात्र। अतः प्रजनन की दृष्टि से भी कोई समस्या नहीं उठती है, क्योंकि शरीर मात्र का उत्पादन जीव की क्षमता के परे नहीं हो सकता है। यहां हमारा अभिप्राय पुनर्जन्म का खंडन करना नहीं है। लेकिन यदि उक्त समस्या का समाधान किया जा सकता है, तो आत्मा के प्रागभाव को एक अनिवार्य परिकल्पना नहीं मानना पड़ता है। ध्यान देने योग्य बात है कि प्रागभाव का हमारा निषेध शेष मानव-दर्शन से कोई पृथक् सिद्धांत नहीं है, बल्कि उससे घनिष्ठ सम्बन्ध रखता है। शरीर-आत्मा का द्वैत न मानकर हमने तत्त्व की एकता पर बल दिया है। अब, यह सिद्धांत सार्थक ही होगा कि जिस प्रकार एक तत्त्व अस्तित्व रखता है, उसी प्रकार वह उत्पन्न भी होगा; कारण अस्तित्व उत्पत्ति का फल ही है। मानव उत्पत्ति के विषय में उक्त सिद्धांत का प्रयोग करके हमें यह निष्कर्ष निकालना होगा कि मानव यदि एक द्रव्य के रूप में अस्तित्व रखता है, तो एक द्रव्य के रूप में उत्पन्न भी हुआ होगा, न कि सिर्फ शरीर की दृष्टि से। यदि आत्मा का प्रागभाव हो, चाहे शरीर-रहित या शरीर-सहित, तो जन्म में क्रमशः या तो एक शरीर का, या अन्य शरीर की उत्पत्ति ही

होगी, आत्मा और शरीर से संश्लिष्ट संपूर्ण मानव का नहीं । आत्मा-प्रागभाव की अपेक्षा जन्म के समय शरीर और आत्मा, दोनों की उत्पत्ति मानव एकता से अधिक संगत है ।

फल की दृष्टि से यदि प्रजनन सम्पूर्ण मानव की उत्पत्ति है, तो प्रजनक की दृष्टि से वह शारीरिक मात्र नहीं, बल्कि संपूर्ण मानव की क्रिया होगा । शारीरिक संयोग से बढ़कर प्रजनन दो व्यक्तियों की वह प्रेममय एकता है, जो पारस्परिक आत्मदान पर आश्रित है । 'आत्मदान' शब्द का अभिप्राय इस सन्दर्भ में आत्मा का पारस्परिक दान ही है, शरीर-दान के अतिरिक्त । इस दृष्टि से जन्म में उपर्युक्त सम्पूर्ण मानव की उत्पत्ति बोधगम्य होने लगती है : प्रजनन का फल शरीर मात्र नहीं हो सकता, क्योंकि प्रजनक आत्मा-सहित मानव ही हैं । तो भी, प्रारम्भ में उक्त समस्या बनी रहती है, अर्थात् आत्मनिर्भर आत्मा की उत्पत्ति प्रजनक-सामर्थ्य से परे ही है । कारण, प्रजनक की आत्मा नवजात व्यष्टि की आत्मा का आधार नहीं हो सकती है । अतः यदि वास्तव में प्रजनक सम्पूर्ण मानव को जन्म देते हैं, तो इस क्रिया में उनकी ओर से स्वातिगता या स्वातिक्रमण दिखाई पड़ता है । इस बात का संकेत उसी प्रेम में मिलता है, जिससे प्रेरित होकर प्रजनक परस्पर आत्मदान करते हैं । इस सन्दर्भ में याद रखना चाहिए कि प्रेम उस मूलभूत प्रवृत्ति की अभिव्यक्ति है जिसका अंतिम लक्ष्य असीम सत्ता ही है । अतः प्रेमभावना में ही किसी प्रकार से स्वातिक्रमण का अनुभव मिलता है : जिस असीम सत्ता की ओर संकल्प-शक्ति प्रवृत्त होती है, वह ससीम मानव से परे है । अगले अध्याय में हम असीम प्रवृत्ति के आधार पर परम तत्त्व का अस्तित्व सिद्ध करेंगे । यदि प्रस्तुत प्रसंग में हम इसे प्रमाणित मान सकते हैं, तो मानव-उत्पत्ति में निहित स्वातिगता की व्याख्या इस प्रकार होगी ।

परम तत्त्व का स्वयंभू होना अनिवार्य है, नहीं तो पराये स्रोत की तुलना में वह अपरम ही होता । अब स्वयंभू तत्त्व ही एक स्ववर्ती तत्त्व का उत्पादन कर सकता है, अर्थात् एक ऐसे तत्त्व का स्रोत हो सकता है जो आत्मनिर्भर होते हुए भी अपने आपका कारण नहीं है । आत्मनिर्भर तत्त्व की सृष्टि में स्वयंभू अपने आपकी यथा-सम्भव सही अभिव्यक्ति करता है । दूसरी ओर, मात्र स्ववर्ती तत्त्व किसी दूसरे स्व-वर्ती तत्त्व का कारण नहीं हो सकता, क्योंकि अपनी स्ववर्तिता का स्रोत न होकर वह दूसरे की स्ववर्तिता का कारण भी नहीं हो सकता । अतः यदि प्रजनन के फल-स्वरूप किसी नवीन मानव की उत्पत्ति है, अर्थात् जीव मात्र का नहीं, बल्कि वास्तव में स्ववर्ती आत्मा का भी, तो नवजात मानव प्रजनन मात्र का परिणाम नहीं हो सकता है । प्रजनन में परम तत्त्व का हस्तक्षेप स्वीकार करना अनिवार्य दिखाई पड़ता है । उसी के सहयोग से मानव-प्रजनक की ओर से स्वातिगता सम्भव हो जाती है । कथन का तात्पर्य यह है कि परम तत्त्व की सहायता से प्रजनक अपनी सामर्थ्य का

अतिक्रमण कर मानव की उत्पत्ति करते हैं, अर्थात् शरीरधारी स्ववर्ती आत्मा का। अतः स्वातिगता का सही अर्थ यह है कि मानव वास्तव में मानव का प्रजनक है, लेकिन परम तत्त्व के अभाव में नहीं। मानव उत्पत्ति में परम तत्त्व के हस्तक्षेप के कारण प्रजनन और परिवार एक पुण्य बात भी प्रतीत होते हैं। इसके अतिरिक्त मानव यदि उत्पत्ति की दृष्टि से परम तत्त्व से सम्बद्ध है, तो अस्तित्व की दृष्टि से भी उससे अलग नहीं हो सकता है। एक शब्द में, आत्मा की यथार्थता इसमें है कि वह स्ववर्ती होते हुए भी परम तत्त्व से अविच्छेद्य सम्बद्ध रखती है। इसके बावजूद हम आत्मा का प्राग्भाव इसलिए अस्वीकार करते हैं, क्योंकि आत्मा संपूर्ण मानव तत्त्व नहीं है। शरीरधारी आत्मा होकर मानव कालक्रम में ही उत्पन्न होता है। कहां तक कालिक उत्पत्ति आत्मा या मानव की अमरता से असंगत नहीं है, इस बात को हम अगले परिच्छेद में स्पष्ट करेंगे।

(ग) मानव की अमरता

यदि बाद में दिए जाने वाले प्रमाणों के आधार पर हम मानव की अमरता सिद्ध मान सकते हैं, तो ऐहिक जीवन का अन्त मृत्यु का एकमात्र पहलू नहीं हो सकता है : वह अमर जीवन का प्रारम्भ भी प्रतीत होता है। इसलिए मृत्यु के प्रस्तुत वर्णन में अभावात्मक पहलू के अतिरिक्त भावात्मक पहलू पर भी ध्यान देना होगा। इसके अनुसार मानव को न केवल मृत्यु सहनी पड़ती है, उसका चेतन रूप से सामना भी चाहिए। इस अन्तिम दृष्टिकोण से यह कहा जा सकता है कि मृत्यु संपूर्ण ऐहिक जीवन का सारांश जैसा है। जैसे नीतिशास्त्र में समझाया जाएगा, जीवन भर मानव संसार की परिस्थितियों में अपने परम लक्ष्य की ओर अग्रसर होता है। ऐहिक जीवन आत्मसिद्धि की ओर प्रगति और प्रयास है। इस कालिक विकास की समाप्ति पर, कालातीत स्थिति में प्रवेश करने के पहले, मानव अपने सम्पूर्ण जीवन के व्यवहार का समर्थन करता है। उस संश्लेषिक निर्णय के फलस्वरूप जीवन का विकास मात्र अन्त तक नहीं, अपनी पूर्त्ति तक पहुंचता है। इस दृष्टि से मृत्यु के प्रति मानव का दृष्टि-कोण वास्तव में भावात्मक दिखाई पड़ता है। अन्तिम निर्णय के बल पर मानव सही अर्थ में अपनी मृत्यु को अपनाता है; एक शब्द में वह मृत्यु में सक्रिय है।

दूसरी ओर, मानव को निष्क्रिय रूप से भी मृत्यु सहनी पड़ती है। उसकी दुर्बलता के कारण शरीर-आत्मा की समष्टि का अनिवार्य रूप से विनाश होगा। अवश्य ही दोनों का वियोजन भौतिकता का परिणाम है, परन्तु इसमें आकार-स्वरूप आत्मा की असमर्थता भी स्पष्ट है। वह उपादान-स्वरूप भौतिकता को सिर्फ थोड़ी देर तक मानव शरीर के रूप में एक कर दे सकती है। मृत्यु संपूर्ण मानव पर अपना प्रभाव डालती है; फलतः शरीर मात्र को नहीं, आत्मा को भी निष्क्रिय रूप से मृत्यु का भोग करना पड़ता है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि मानव की मृत्यु एक द्वयर्थक घटना है : एक ओर जीवन का अंत, दूसरी ओर अनंत

जीवन का प्रारम्भ; एक दृष्टि से मानव को निष्क्रिय होकर मृत्यु सहनी पड़ती है, दूसरी दृष्टि से वह चेतनापूर्वक उसे अपनाता है। उपर्युक्त बात से यह भी स्पष्ट है कि मृत्यु के सक्रिय-निष्क्रिय पहलू क्रमशः आत्मा और शरीरत्व के विषय में प्रयोज्य नहीं हैं। मानव की सम्पूर्णता मृत्यु की द्व्यर्थकता से प्रभावित है अतः दार्शनिक विश्लेषण के लिए मृत्यु एक गूढ़ रहस्य बनी रहती है। अन्त में एक और बात : अभावात्मक पहलू के अतिरिक्त हमने इस परिच्छेद में मृत्यु के भावात्मक पहलू पर भी बल दिया है। वह इस तरह कि मरते समय मानव अपने संपूर्ण ऐहिक जीवन को अन्तिम निर्णय से अपनाकर अमर जीवन में प्रवेश करता है। प्रस्तुत मृत्यु-दर्शन का निहितार्थ ऐहिक जीवन का महत्त्व है : एक जीवन पर ही मानव का शाश्वत भाग्य आश्रित है। इसके विपरीत यदि संसार में मानव का पुनर्जन्म स्वीकार किया जाय, तो सांसारिक जीवन की अनेकता के अनुपात में ऐहिक जीवन का महत्त्व कम हो जाता है। मृत्यु के समय मानव की मनोवृत्ति भी, निर्णायक न होकर, नगण्य जैसी लगती है।

मृत्यु के इस विवरण के बाद अब पारलौकिक जीवन का प्रश्न उठता है। संगति की दृष्टि से यह महत्त्व की बात है कि जिस प्रकार मृत्यु से संपूर्ण मानव प्रभावित प्रतीत हुआ, उसी प्रकार अमरता भी संपूर्ण मानव से संबद्ध है, आत्मा मात्र से नहीं। वर्तमान अध्याय में प्रस्तुत मानव-दर्शन से स्पष्ट है कि मानव स्वभाव में आत्मा के अतिरिक्त शरीरत्व भी समाविष्ट है। मानव उत्पत्ति की व्याख्या में हमें मानव समष्टि की इस एकता को ध्यान में रखना पड़ा। तदनुसार हमने शरीर के अभाव में शुद्ध आत्मा का प्रागभाव अस्वीकार किया : शरीर से संयुक्त होने पर ही आत्मा मानव का निर्माण कर सकती है। ठीक उत्पत्ति के समान ही मानव की अमरता वास्तव में नहीं होती, यदि शरीर नाश के पश्चात् भौतिकता के अभाव में केवल आत्मा बनी रहती। इसके विपरीत, द्वैत की दृष्टि से मानव का तत्त्व आत्मा में ही निहित माना जाता है। इसके अनुसार अमरता की धारणा शुद्ध आत्मा तक सीमित है। यह सच है कि मानव समष्टि का अस्तित्व मूलतः आत्मा पर निर्भर है, और फलतः अमरता का आधार स्वनिर्भर आत्मा होगी। पहले आत्मचेतना के तथ्य से हमने यह निष्कर्ष निकाला है कि जो तत्त्व चेतना की दृष्टि से भौतिकता के अधीन नहीं है, वह अस्तित्व की दृष्टि से भी शरीरत्व से संयोग पर आश्रित नहीं होगा। इस सिद्धान्त से हम अब यह अनुमान कर सकते हैं कि शरीर-विनाश के बावजूद आत्मा का विनाश नहीं होगा : उसे तो स्ववर्तिता प्राप्त है। लेकिन इससे यह निष्कर्ष निकालना एकदम अनुचित है, कि शारीरिक मृत्यु के बाद शुद्ध आत्मा की ही उत्तरजीविता होती। निस्सन्देह, आत्मा की स्ववर्तिता के बल पर हमने मानव समष्टि का आधारभूत अवयव अमर सिद्ध किया है, लेकिन आत्मा की स्वनिर्भरता के अतिरिक्त उसका एक और पक्ष है।

इस दूसरे पहलू के बल पर मानव आत्मा अपने स्वभाव के अनुसार

भौतिकता से सम्बन्ध रखती है। मानव-स्वभाव-विषयक परिच्छेद में आत्मा को शरीरत्व-स्वरूप उपादान का आकार कहा गया है। यदि आकारत्व आत्मा का अनिवार्य लक्षण माना जा सकता है, तो स्पष्टतया मृत्यु के फलस्वरूप उस लक्षण का विनाश नहीं हो सकता, बल्कि उसका परिवर्तन होगा। अब तक आत्मा शरीर विशेष तक सीमित होकर उसी के माध्यम से प्रकृति से सम्बन्धित थी किन्तु व्यष्टिगत शरीर के नष्ट होने पर आत्मा भौतिकता से असंबद्ध नहीं हो जाएगी; इसके विपरीत वह अव्यवहित रूप से उसकी संपूर्णता से संबद्ध होगी, यहां तक कि सामान्य अर्थ में प्रकृति आत्मा का शरीरत्व कही जा सकेगी। उस प्राकृतिक सम्बन्ध के रूपान्तरण का एक दूसरा फल भी प्रत्याशित है, आत्मचेतना के क्षेत्र में। सांसारिक स्थिति में आत्मचेतना अप्रत्यक्ष ही है, अर्थात् इन्द्रियों से प्राप्त विषय-निष्ठ ज्ञान पर चिंतन करने के फलस्वरूप विषयी अपने आपका चेतन हो जाता है। अतः इन्द्रियां, अप्रत्यक्ष आत्मचेतना का माध्यम होते हुए भी, प्रत्यक्ष आत्मचेतना में बाधा डालती हैं। अब, यदि ऐहिक जीवन का विकास अधिक चेतना की ओर होता है, तो अनुमान यह है कि भौतिकता से सम्बन्ध के परिवर्तित होने पर मानव को प्रत्यक्ष आत्मचेतना प्राप्त होगी। कहने का तात्पर्य यह नहीं है कि मृत्यु के बाद मानव भौतिकता से असंबद्ध होगा, बल्कि उसके किसी प्रकार से भी अधीन नहीं होगा। एक शब्द में, अमर मानव पूर्णरूपेण स्वतन्त्र होकर भौतिकता की संपूर्णता पर नियन्त्रण रखेगा।

अब तक यह प्रमाणित किया गया है कि आत्मा स्ववर्ती होने के कारण शरीर विनाश के बावजूद स्वयं ही अविनाशी बनी रहती है। इतना ही नहीं, भौतिकता से सम्बद्ध होकर भी, आत्मा का अपना लक्षण होने से वह मृत्यु के फलस्वरूप विलीन नहीं हो सकता है। लेकिन क्या इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि मानव की अमरता आत्मा के अधिकार में है? मृत्यु से यह बात तो स्पष्ट है कि आत्मा स्थायी रूप से मानव समष्टि का आधार होने में असमर्थ ही है। जो 'अमरता' एकमात्र आत्मा पर आश्रित होती, वह पुनर्मृत्यु से नहीं बच सकती। इससे यह दिखाई पड़ता है कि सच्चे नाम की अमरता मानव को स्वभाव से प्राप्त नहीं है। वास्तव में मृत्यु संपूर्ण मानव पर, शरीर और आत्मा भी, अपना प्रभाव डालती है, जैसे इस परिच्छेद के प्रारम्भ में समझाया गया है इसलिए, अमर जीवन की प्राप्ति किसी प्रकार से सम्पूर्ण मानव का पुनर्निर्माण भी होगी, अर्थात् अविनाशी आत्मा के आधार पर मानव समष्टि की पुनःरचना आवश्यक प्रतीत होती है। इस दृष्टि से अमरता-प्राप्ति की तुलना मानव उत्पत्ति से की जा सकती है। पूर्ववर्ती परिच्छेद में यह दिखाया गया है कि व्यष्टि की उत्पत्ति परम तत्त्व के अभाव में नहीं हो सकती है; कारण, स्ववर्ती होते हुए भी मानव आत्मा स्वयंभू नहीं है। अब यह तथ्य भी अविवाद है कि अपनी स्ववर्तिता के बावजूद आत्मा पुनर्मृत्यु से मानव की रक्षा नहीं कर सकती है। अतः उक्त तुलना

के आधार पर यह अनुमान किया जा सकता है कि जैसे उत्पत्ति के समय मानव को परम तत्त्व की ओर से अस्तित्व प्राप्त हुआ, वैसे ही मृत्यु के बाद उसे परम तत्त्व की ओर से अमर जीवन प्राप्त होगा। संक्षेप में, चाहे वह ऐहिक स्थिति में हो या पारलौकिक जीवन में हो, परम तत्त्व के अभाव में मानव की कल्पना तक नहीं की जा सकती है। तात्त्विक रूप से ही मानव परम तत्त्व से सम्बन्ध रखता है।

उत्पत्ति से तुल्य होकर अमरता में प्रवेश एक तरह से 'पुनर्जन्म' कहा जा सकता है, बशर्ते यह पुनर्मृत्यु वंचित हो। मानव समष्टि की दृष्टि से अमरता की प्राप्ति बाइबिल शब्दावली के अनुसार 'पुनरुत्थान' भी कही जा सकती है। लेकिन प्रश्न है कि उत्पत्ति के विपरीत पुनरुत्थान मरणशील जीवन का नहीं, मृत्यु-रहित जीवन को ही क्यों प्रारम्भ करता है ? इस बात का कारण इसमें है कि परम तत्त्व से जो सम्बन्ध उत्पत्ति के समय स्थापित किया गया, उसे मानव नैतिक व्यवहार द्वारा चेतन रूप से अपनाता है। फलतः जो शाश्वत जीवन परम तत्त्व का है, उसमें सहभागी होकर मानव मृत्यु के बाद अमर जीवन में प्रवेश कर सकता है। अनन्त जीवन की प्राप्ति इस बात से असंगत नहीं है कि मानव का अस्तित्व अनादि नहीं है। स्वयंभू न होने के कारण मानव अनादि नहीं हो सकता है; लेकिन परम तत्त्व के शाश्वतत्व में सहभागी बनकर मानव उसके सदृश अनंत हो जाता है। फलतः मानव की उत्पत्ति उसकी अमरता से असंगत नहीं है।

उपसंहार :

इस अध्याय के अन्त में यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि कहां तक प्रतिपादित मानव दर्शन बाइबिल में प्रस्तुत मानव धारणा के अनुरूप हो। उत्पत्ति-ग्रंथ के अनुसार 'ईश्वर ने मनुष्य को अपना प्रतिरूप बनाया, उसने उसे ईश्वर का प्रतिरूप बनाया'।[11] संक्षेप में प्रश्न का उत्तर यह है कि ईसाई दर्शन के अनुसार मानव के आधारभूत पक्ष परम तत्त्व से सम्बन्ध रखते हैं। ज्ञान-शक्ति के विवेचन से यह प्रतीत हुआ कि वह ससीम तत्त्वों की अपेक्षा असीम सत्ता का बोध प्राप्त करने की आकांक्षा रखती है। तदनुसार संकल्प-शक्ति का विषय भी सापेक्ष शुभ से बढ़कर निरपेक्ष शुभ की प्राप्ति ही है। मूलतः ये दोनों आत्मा की उस आध्यात्मिक प्रवृत्ति की अभिव्यक्तियां हैं, जिससे अनुप्राणित होकर मानव परम तत्त्व की ओर अभिमुख है। मानव उत्पत्ति और अमरता के प्रसंग में भी हमने यह देखा कि मानव को ऐहिक या पारलौकिक जीवन परम तत्त्व की ओर से ही मिलता है। अतः अस्तित्व की दृष्टि से भी मानव परम तत्त्व से घनिष्ठ सम्बन्ध रखता है। मानव-दर्शन का सारांश व्यक्ति-प्रत्यय में निहित है : स्ववर्तिता के बल पर व्यक्ति की अपनी आंतरिकता है; आध्यात्मिक प्रवृत्ति के फलस्वरूप समाज में सहव्यक्तियों की पारस्परिकता

---

11. 1.27,

भी है। अब, त्रियेक परमेश्वर का रहस्य अभिव्यक्त करने के निमित्त ईसाई दर्शन ने इसी व्यक्ति-प्रत्यय का प्रयोग किया है। मानव व्यक्ति की आंतरिकता के सदृश दिव्य व्यक्तियों की भी पृथक्ता है, और मानव समाज की पारस्परिकता के समान दिव्य व्यक्तियों की एकता भी है। यदि परमेश्वर और मानव का सारतत्व एक ही व्यक्ति-प्रत्यय के माध्यम से अभिव्यक्त किया जा सकता है, तो उस दर्शन में निहित अंतर्दृष्टि यह है कि मानव परमेश्वर का प्रतिबिंब ही है। अतः प्रस्तुत मानव-दर्शन उस बाइबिल कथन का बौद्धिक अनुवाद कहा जा सकता है जिसके अनुसार 'ईश्वर ने मनुष्य को अपना प्रतिरूप बनाया'।

अन्त में मानव-दर्शन विषयक अध्याय का परवर्ती अध्यायों से सम्बन्ध दिखाना अनुचित नहीं होगा। एक ओर वर्तमान अध्याय दूसरों का आधार माना जा सकता है; दूसरी ओर वे उसके सम्पूरक भी हैं। मानव स्वभाव के आध्यात्मिक और भौतिक पहलुओं पर ध्यान आकर्षित करने से हमने नीति-शास्त्र की भूमिका प्रस्तुत की है, जो आध्यात्मिक और भौतिक दोनों मूल्यों का ध्यान रखती है। इसके अतिरिक्त उसी 8वें अध्याय में हमें समाजिक पहलू का विस्तार करना होगा, क्योंकि अब तक मानव-दर्शन मुख्यतः व्यष्टि की दृष्टि से प्रतिपादित किया गया है। पुनः धर्म-दर्शन मानव-दर्शन के उस मूलभूत सिद्धान्त पर आश्रित है जिसके अनुसार मानव परम तत्त्व से हर दृष्टि से सम्बन्ध रखता है। 9वें अध्याय में वर्णित आत्म-सिद्धि अमरता की भी संपूरक होगी, जिसका वर्तमान अध्याय में प्रमाण मात्र दिया गया है। **ईश-दर्शन** सम्बन्धी अगले अध्याय की उपयुक्त भूमिका को मानव-दर्शन सम्बन्धी इस अध्याय में प्रस्तुत किया गया है। कारण, मानव की मूलभूत प्रवृत्ति परम तत्त्व की ओर ही संकेत करती है। वास्तव में मानव की उत्पत्ति की व्याख्या या अमरता का प्रमाण परम तत्त्व के पूर्वानुमान का प्रयोग करता है। इस दृष्टि से 7वां अध्याय इस 6ठे अध्याय की पुष्टि करेगा।

अध्याय 7

ईश-दर्शन

भूमिका

प्रस्तुत अध्याय का **विभाजन** इस प्रकार होगा : प्रारम्भिक परिच्छेद में समीक्षात्मक दृष्टि से, अर्थात् ज्ञान-शक्ति के निहितार्थों के आधार पर परम तत्त्व का अस्तित्व प्रमाणित किया जाएगा। इस प्रसंग में यह प्रश्न भी उठाया जाएगा कि किस प्रकार मानव बुद्धि परम तत्त्व के विषय में ज्ञान प्राप्त कर सकती है। प्रश्न का उत्तर यह होगा कि परमेश्वर सम्बन्धी हमारा ज्ञान, साक्षात् दर्शन न होकर, सादृश्यात्मक प्रत्ययों का प्रयोग करता है। दूसरे परिच्छेद में सृष्टिवाद और उससे सम्बन्धित अनेक समस्याओं का प्रतिपादन किया जाएगा। साथ ही, सृष्ट तत्वों के आधार पर, ईशास्तित्व का एक और प्रमाण दिया जाएगा, तत्व-मीमांसा की दृष्टि से। इससे प्रतीत होगा कि परम तत्त्व, लोकातीत होते हुए भी, सम्पूर्ण विश्व का मूल कारण माना जा सकता है। इस सन्दर्भ में हमें यह भी समझना पड़ेगा कि 'शून्य से सृष्टि', के परम्परागत सिद्धान्त का सही अर्थ क्या है। फिर, विज्ञान और दर्शन, दोनों की दृष्टि से अनादि संसार विषयक प्रश्न का विवेचन करना पड़ेगा, विशेषकर इस परिप्रेक्ष्य में कि, क्या अनादि संसार की सम्भावना सृष्टिवाद का विरोध करती है ? अन्त में सृष्टिवाद और विकासवाद का सामंजस्य स्थापित किया जाएगा। उपर्युक्त विषयों के प्रसंग में परमेश्वर के अनेक लक्षणों की चर्चा भी होगी, जैसे शाश्वतत्व या कालातीतत्व और उसकी सर्वशक्तिमत्ता। तीसरे परिच्छेद में ईश्वरवाद का तात्पर्य निर्धारित किया जाएगा। सृष्टिकर्त्ता-स्वरूप परमेश्वर का विश्व और विशेषकर मानव से सम्बन्ध लोकातीतत्व और अन्तर्यामिता के दो संपूरक लक्षणों द्वारा वर्णित किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त परमेश्वर के व्यक्तित्व का सही अर्थ समझना भी महत्त्व की बात है। यहां त्रियेक परमेश्वर का धार्मिक सिद्धांत ध्यान में रखना आवश्यक होगा जिसके अनुसार परम तत्त्व व्यक्ति-स्वरूप मात्र नहीं, व्यक्तियों का त्रित्व ही है। अन्त में अशुभ की समस्या उठाई जाएगी : अशुभ की यथार्थता किस प्रकार विधाता-स्वरूप शुभ परमेश्वर से समन्वित की जा सकती है ?

विषय-सूची में इस अध्याय का स्थान काफी स्पष्ट है। ईश-दर्शन को मानव-दर्शन के पश्चात् इसलिए प्रस्तुत किया गया है, क्योंकि ईशास्तित्व का मूलभूत

प्रमाण मानव तत्त्व पर आश्रित है। वास्तव में मानव की आध्यात्मिक प्रवृत्ति किसी असीम सत्ता की ओर संकेत करती है, जिसके अभाव में ज्ञान और संकल्प की क्रियाएं निरर्थक प्रतीत होतीं। पूर्ववर्ती अध्याय में हमने यह दिखाया है कि असीम सत्ता की ओर अभिमुखता ही मानव का सारतत्व है; अब उस असीम तत्त्व की यथार्थता सिद्ध की जाएगी। ईश-दर्शन मानव-दर्शन पर प्रकाश भी डाल सकता है: अब तक व्यक्ति की ही उत्पत्ति समझाई गई है; सृष्टिवाद मानव जाति की भी उत्पत्ति की व्याख्या करेगा। दूसरी ओर वर्तमान अध्याय को परवर्ती अध्यायों की भूमिका माना जा सकता है। ईश-दर्शन नीति-शास्त्र का आधार प्रदान करता है क्योंकि सृष्टिकर्त्ता परमेश्वर को न केवल विश्व और मानव का मूलकारण, अपितु उनका उद्देश्य भी दिखाया गया है। अतः इस अन्तिम दृष्टि से परम तत्त्व गौण मूल्यों का मानदण्ड प्रतीत होता है। परमेश्वर का व्यक्ति-स्वरूप धर्म-दर्शन का आधार प्रस्तुत करता है; कारण, धर्म का सारतत्व मानव के परमेश्वर से वैयक्तिक सम्बन्ध में है। स्पष्टतया, प्रस्तुत अध्याय का दृष्टिकोण धार्मिक नहीं, दार्शनिक ही है। ईशास्तित्व, सृष्टिवाद, परम तत्त्व का व्यक्ति-स्वरूप, इन सभी को बौद्धिक प्रणाली से ही सिद्ध किया जाएगा। लेकिन, बाईबिल या शब्दप्रमाण का प्रयोग न करते हुए भी, ईसाई-दर्शन ईसाई धर्मानुभूति पर आश्रित है। इसलिए अवसर मिलने पर ईसाई दर्शन का धर्मसिद्धांतों से समन्वय भी दिखाना अनुचित नहीं होगा।

I, परम तत्त्व सम्बन्धी हमारा ज्ञान[1]

(क) ईशास्तित्व का समीक्षात्मक प्रमाण

इस पहले परिच्छेद का अभिप्राय है ईशास्तित्व का प्रमाण प्रस्तुत करना। प्रयुक्त प्रणाली समीक्षात्मक है, अर्थात् ज्ञान-क्रिया पर चिंतन करके हम उसके निहितार्थों में से निष्कर्ष निकालते हैं। ऐसे अनुसंधान का परिणाम अखंडनीय है, क्योंकि जो अनिवार्य रूप से ज्ञान में निहित है, उसका खंडन केवल ज्ञान की किसी दूसरी क्रिया से किया जा सकता है, जिसमें अस्वीकृत तथ्य फिर निहित होगा। अतः निष्कर्ष का खंडन उसका मंडन ही दिखाई पड़ेगा। प्रारम्भ में हम यह पूछें कि ज्ञान-प्रक्रिया का तात्पर्य वास्तव में क्या है? ज्ञान के फलस्वरूप ज्ञाता को विषयों का बोध प्राप्त होता है। साथ ही ज्ञाता अपनी विषयनिष्ठ ज्ञान-क्रिया का चेतन है, अतः वह क्रियाशील रूप में आत्मचेतन हो जाता है इस मूल-भूत तथ्य के निहितार्थों पर अच्छी तरह से ध्यान देना चाहिए। पहली बात यह है कि ज्ञान-क्रिया में ही ज्ञाता की आत्मचेतना व्यक्त हो जाती है। फिर, आत्मचेतना के उद्बोधन में विषय का योगदान भी है। ज्ञाता जब तक ज्ञान की क्रिया न करे, तब तक व्यक्त रूप से

1. प्रस्तुत परिच्छेद का मुख्य स्रोत, है: J. Defever, **La preuve reelle de Dieu,** L'Edition Universelle, **Brussels,** 1953.

आत्मचेतन न होगा; लेकिन ज्ञान-विषय के अभाव में ज्ञान की क्रिया स्वयं ही असम्भव है। अन्त में, संपूर्ण क्रिया की यथार्थता असंदिग्ध ही रहती है। कारण, क्रिया अपनी यथार्थता स्थापित करती है, और चेतन क्रिया होने के कारण उसकी वास्तविकता ज्ञाता को साक्षात् रूप से दिखाई पड़ती है। इसके अतिरिक्त ज्ञान-क्रिया में सम्मिलित अवयव भी यथार्थ मालूम पड़ते हैं। वास्तव में विषय विषयी से भिन्न तत्त्व है, इस बात को बाद में स्पष्ट किया जाएगा। परन्तु विषय-रूपी तत्त्व की यथार्थता अस्वीकार नहीं की जा सकती है। कारण, विषयों की क्रिया होते हुए भी ज्ञान विषयनिष्ठ क्रिया ही प्रतीत होता है।

अब तक यह सिद्ध किया गया है कि आत्मचेतना विषयनिष्ठ ज्ञान के फलस्वरूप उत्पन्न होती है। ज्ञान-क्रिया और उसमें सम्मिलित विषय के अनुपात में विषयी की चेतना व्यक्त हो जाती है। अन्य ज्ञेय विषयों की प्राप्ति से ज्ञाता की आत्मचेतना भी क्रमशः बढ़ जाएगी। इस विकास का विस्तार कितना होगा, यह इससे दिखाई पड़ता है कि मानव बुद्धि सत्ता की सम्पूर्णता प्राप्त करने में समर्थ है। जो कुछ अस्तित्व रखता है, वह ज्ञान का विषय हो सकता है, केवल असत्—अर्थात् कुछ नहीं—ज्ञान-शक्ति के बाहर है। अतः बुद्धि में स्थित सत्-प्रत्यय से अनुमान किया जा सकता है कि आत्मचेतना तभी सम्पूर्ण होगी जब उसे असीम तत्त्व का साक्षात्कार प्राप्त होगा। सत् का प्रत्यय इसलिए असीम तत्त्व की ओर संकेत करता है क्योंकि केवल असत् अर्थात् कुछ नहीं—उसकी सीमा नहीं हो सकता। अब प्रश्न है कि असीम परम तत्त्व की यथार्थता कैसे प्रमाणित की जा सकती है?

प्रमाण का आधार है ज्ञान-विषय की लक्ष्य-स्वरूप कारणता। जिस विषय की यहां चर्चा प्रस्तुत है, वह है किसी विषयनिष्ठ ज्ञान का प्रत्यक्ष विषय, जैसे भौतिक तत्त्व या घटना। ऊपर कहा गया है कि अत्मचेतना विषयनिष्ठ ज्ञान-क्रिया से ही उत्पन्न होती है। आत्मचेतना केवल विषयनिष्ठ चेतना के संदर्भ में व्यक्त हो जाती है। अतः आत्मचेतना की अनिवार्य शर्त ज्ञान-विषय की चेतना है। अवश्य ही ज्ञान-विषय विषयी की चेतना में ही समाविष्ट है, परन्तु विषयी से पृथक् विषय के रूप में। चेतना में विषय-विषयी का तादात्म्य नहीं, भिन्नता ही है। अतः ज्ञाता को इन दो बातों की चेतना है : पहली कि उसे विषय के प्रभाव से आत्मचेतना प्राप्त है; दूसरी, कि उस पर प्रभाव डालने वाला विषय विषयी से पृथक् है। फलतः विषय को आत्मचेतना की प्राप्ति के लिए लक्ष्य-स्वरूप कारण माना जा सकता है : "कारण" इसलिए कि उसके प्रभाव से आत्मचेतना उत्पन्न होती है; 'लक्ष्य-स्वरूप' कारण इसलिए कि विषय का प्रभाव ज्ञान-क्रिया पर पड़ता है।[2] अन्त में इससे यह

---

2. स्कोलावादी शब्दावली में 'निमित्त कारण 'वह है जिसका प्रभाव किसी तत्त्व पर पड़ता है; जिस कारण से कोई क्रिया प्रभावित हैं, उसे 'लक्ष्य-स्वरूप कारण' (Final cause) कहा जाता है।

निष्कर्ष भी निकलता है कि विषय का विषयी से पृथक् अस्तित्व है : कारण का ? कार्य से पृथक् होना अनिवार्य है।

विषयनिष्ठ ज्ञान का विश्लेषण अभी तक अधूरा है। प्रस्तुत परिच्छेद में हमें इस बात पर ध्यान देना पड़ेगा कि जिस विषय की चेतना है, वह सीमित तत्त्व के रूप में प्रतीत होता है। उसकी ससीमता अनेक बातों से स्पष्ट होती है। विषयी से पृथक् होने के फलस्वरूप विषय उससे भिन्न अस्तित्व द्वारा सीमित किया जाता है। फिर, प्रस्तुत विषय के अतिरिक्त और अन्य विषय होते हैं, जिनका अस्तित्व भी पहले विषय से भिन्न है। विशेषकर सत्-प्रत्यय की तुलना में विषय विशेष का अपर्याप्त प्रतीत होना अनिवार्य है, क्योंकि उस प्रत्यय का विस्तार असीम ही है। अब महत्त्व की बात यह है कि किसी सीमा तक चेतना में इस सीमा का अतिक्रमण भी निहित है। यदि ज्ञाता विषय-विशेष के अतिरिक्त कुछ और जानने में समर्थ नहीं होता, तो उसे प्रस्तुत विषय अपर्याप्त, अर्थात् सीमित नहीं लगता। लेकिन उपर्युक्त बातों से स्पष्ट है कि वास्तव में विषय-विशेष ज्ञाता को सीमित ही प्रतीत होता है। अतः उसकी प्राप्ति के साथ ज्ञाता उसका अतिक्रमण भी करता है। फिर, पूर्ववर्ती परिच्छेद में यह सिद्ध किया गया है कि ज्ञान-क्रिया पर विषय का कारण-स्वरूप प्रभाव पड़ता है, लेकिन स्पष्टतया सीमित विषय उसी ससीमता के अतिक्रमण का कारण नहीं हो सकता है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि ज्ञान-क्रिया का अतिक्रमण एक ऐसे विषय की ओर संकेत करता है, जो स्वयं विषय-विशेष के परे हो।

उपर्युक्त विवेचन का परिणाम यह है कि विषयनिष्ठ ज्ञान में मानो दो विषयों का बोध मिलता है, अर्थात् सीमित विषय-विशेष और इसके अतिरिक्त ससीमता को अतिक्रमण करने वाले किसी दूसरे विषय का। पहला प्रत्यक्ष ज्ञान का विषय है, दूसरा पहले में निहित होकर अप्रत्यक्ष ही है। प्रथमोक्त को उत्तरोक्त का अंश नहीं माना जा सकता है। कारण, दोनों का ज्ञान-क्रिया पर प्रभाव परस्पर विरोधी है। पहला ज्ञान-क्रिया की प्रवृत्ति को सीमित करने का कारण प्रतीत होता है। इसके विपरीत दूसरा ससीमता को पार करने का कारण मालूम पड़ता है। अतः भिन्न-भिन्न कारणता के आधार पर प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष विषय परस्पर पृथक्-पृथक् तत्त्व दिखाई पड़ते हैं। फिर भी, दोनों परस्पर असम्बद्ध भी नहीं हैं, बल्कि, प्रत्यक्ष विषय को अप्रत्यक्ष विषय के परिप्रेक्ष्य में प्राप्त किया जाता है। जो ज्ञान-प्रवृत्ति प्रत्यक्ष विषय की ओर संकेत करती है, वही उसका अतिक्रमण करके अप्रत्यक्ष विषय की ओर आगे बढ़ती है। अतः परोक्ष विषय के परिप्रेक्ष्य में अपरोक्ष विषय मध्यवर्ती लक्ष्य मात्र है। वास्तव में उक्त अप्रत्यक्ष विषय ज्ञान-प्रवृत्ति का अन्तिम लक्ष्य ही है। क्रमशः सीमित विषयों का अतिक्रमण करके सत्-प्रत्यय-संपन्न बुद्धि एक ऐसे विषय को प्राप्त करने की अभिलाषा करती है, जो सत्-प्रत्यय के समान सीमा-रहित हो। किसी भी सीमित विषय के परे होकर अप्रत्यक्ष विषय वही असीम तत्त्व मालूम पड़ता है।

अब तक परम तत्व की यथार्थता प्रमाणित की जा चुकी है। जो तत्त्व किसी कारणता का स्रोत है, उसका अस्तित्व रखना भी अनिवार्य है। अप्रत्यक्ष विषय के रूप में परम तत्त्व ज्ञान की प्रवृत्ति पर अपना प्रभाव डालता है। अवश्य ही उक्त प्रवृत्ति ज्ञाता से ही उत्पन्न होती है। ज्ञान की क्रिया लक्ष्य-स्वरूप कारण से भी प्रभावित दिखाई पड़ती है। सीमित विषय का अतिक्रमण प्रत्यक्ष विषय के अतिरिक्त अप्रत्यक्ष असीम विषय की ओर संकेत करता है। परम तत्त्व का समीक्षात्मक प्रमाण संक्षेपतः यही है। निगमन के रूप में परम तत्त्व की यथार्थता का एक दूसरा प्रमाण भी दिया जा सकता है[3]। अपने स्वभाव से मानव की आध्यात्मिक प्रवृत्ति असीम सत्ता को प्राप्त करने का प्रयास करती है। इस बात का लक्षण है बुद्धि में अवस्थित सीमा-रहित सत् का प्रत्यय। किन्तु, ध्यान देने योग्य बात है कि प्रमाण उस प्रत्यय मात्र पर नहीं, प्रत्यय-संपन्न प्रवृत्ति पर ही आधारित है। अब यह आवश्यक है कि मूलभूत प्रवृत्ति की पूर्ति सम्भव ही हो। नहीं तो जो तत्त्व स्वभाव से किसी असम्भव लक्ष्य की ओर प्रेरित होता, वह स्वतोविरोधी होता। फिर, प्रवृत्ति की पूर्ति तभी सम्भव होगी, जब उसका विषय भी सम्भव है। फलतः मानव प्रवृत्ति की सार्थकता के लिए यह आवश्यक है कि परम तत्त्व की संभावना हो। लेकिन उसकी संभावना के अतिरिक्त परम तत्त्व का अस्तित्व और किसी अन्य शर्त पर निर्भर नहीं है। अतः यदि परम तत्त्व की संभावना मानव की मूलभूत प्रवृत्ति के कारण स्वीकार करनी है, तो परम तत्त्व का अस्तित्व भी स्वीकार करना होगा। कारण, उसके अस्तित्व की एकमात्र शर्त उसकी संभावना सिद्ध प्रतीत होती है।

अन्त में उसी समीक्षात्मक दृष्टि से परम तत्त्व के आधारभूत लक्षणों का वर्णन करना चाहिए। परम तत्त्व यदि ज्ञान की प्रवृत्ति पर लक्ष्य-कारण के रूप में अपना प्रभाव डालता है, तो उसमें उस लक्ष्य की संपूर्णता होगी, जिसकी प्राप्ति से प्रवृत्ति आकर्षित होती है। अब, ज्ञान की प्रवृत्ति असीम सत्ता के साक्षात्कार द्वारा आत्मचेतना की पूर्णता को प्राप्त करना चाहती है, जिससे उसे आनन्द भी मिलेगा। अतः जिस परम तत्त्व के दर्शन से मानव की उक्त प्रवृत्ति शांत होगी, उसमें सत्ता, चेतना और आनन्द की संपूर्णता विद्यमान होनी चाहिए। एक शब्द में परम तत्त्व सच्चिदानन्द ही है।

(ख) हमारे ईश-ज्ञान का विशेष स्वरूप : भावात्मक और सादृश्यात्मक

ईश-विषयक हमारा ज्ञान भावात्मक ही है, निषेधात्मक नहीं। कारण, यदि ज्ञान को निषेधात्मक माना जाय तो ज्ञानाभाव के बराबर ही होता। लेकिन परम

---

3. J. Marechal, **Le Point de depart de la metaphysique**, Vol. 5, PP. 448-51 के अनुसार।

तत्व हमारे लिए अज्ञात नहीं है। इससे प्रतीत होता है कि हम ईशस्तित्व को प्रमाणित कर सके हैं। उस पर भी हमें यह दिखाना पड़ता है किस प्रकार मानव के लिए परम तत्त्व के विषय में ज्ञान प्राप्त करना सम्भव होगा। वास्तव में यह असंगत ही लगता है। कारण, ज्ञेय और ज्ञाता के तादात्म्य पर ज्ञान आधारित है। ज्ञान-दर्शन के संदर्भ में यह समझाया गया है कि बुद्धि ज्ञान-विषय की प्रतिमा अपनाकर उसके अनुरूप बन जाती है। तो, प्रतिमा के माध्यम से भी असीम परम तत्त्व और सीमित ज्ञाता की अनुरूपता कैसे हो सकती ? समाधान का प्रारंभ इस बात में मिल सकता है कि ज्ञान की क्रिया चेतन होकर ज्ञाता से अभिन्न ही है।

अब पूर्ववर्ती परिच्छेद में ज्ञान-क्रिया के निहितार्थों पर चिंतन कर हमने यह निष्कर्ष निकाला कि प्रत्यक्ष विषय के अतिरिक्त अप्रत्यक्ष विषय भी लक्ष्य-कारण के रूप में ज्ञान पर अपना प्रभाव डालता है। अतः अपनी चेतन क्रिया से अभिन्न होकर, ज्ञाता उसी क्रिया को प्रभावित करने वाली कारणता से भी अभिन्न होगा। ज्ञान-क्रिया में परम तत्त्व और मानव ज्ञाता का कारण-कार्य स्वरूप यह तादात्म्य ईश-ज्ञान का पर्याप्त आधार है। निस्सन्देह, ज्ञाता परम तत्त्व की ओर से उस कारणता का स्पष्ट अनुभव नहीं करता है। फिर भी, ज्ञान की परिस्थितियों पर चिंतन करने से उक्त कारणता उसे निश्चित प्रतीत होती है। यह भी सच है कि ईश-ज्ञान की सम्भावना का उपर्युक्त प्रमाण काफी जटिल लगता है। पर इसका मूलभूत तात्पर्य सहज ही है, अर्थात् आत्मा परम तत्त्व की यथार्थता को अपनी क्रियाशीलता में ही पहचान सकती है।

अमूर्त रूप से ईश-ज्ञान की संभावना सिद्ध करने के बाद एक दूसरे प्रश्न का सामना करना पड़ता है। प्रत्यय के अभाव में हमारा ज्ञान नहीं हो सकता है : जिसका हमें बोध होता है, उसे प्रत्यय द्वारा भी अभिव्यक्त किया जाता है। किन्तु प्रत्यय सीमित ही प्रतीत होते हैं, परम तत्त्व असीम। तो, सीमित प्रत्ययों का किस प्रकार असीम तत्त्व पर आरोप किया जा सकता है ? ध्यान देने योग्य बात है कि वर्तमान प्रश्न प्रत्ययों की उपयुक्तता का नहीं है, मानो हम यह पूछें कि परम तत्त्व की विशेषताएं कौन-कौन हैं ? लेकिन इस बात का पूर्वानुमान करने पर भी कि शुभ, प्रेम, ज्ञान, आनन्द जैसे लक्षण परम तत्त्व को प्राप्त हैं, यह प्रश्न बना रहता है : क्या सीमा-रहित लक्षणों को सीमित प्रत्ययों द्वारा अभिव्यक्त किया जा सकता है ? प्रत्यय इसलिए ससीम है क्योंकि उसका तात्पर्य किसी दूसरे प्रत्यय से भिन्न है। अवश्य ही "सत्" जैसा प्रत्यय, असत् से भिन्न होकर, सर्वव्यापी दिखाई पड़ता है। लेकिन, व्यक्त रूप से सीमित तत्त्वों से प्राप्त होकर और उन्हीं सीमित तत्त्वों के विषय में प्रयोज्य भी होकर, "सत्" आदि जैसे प्रत्यय अन्य प्रत्ययों के समान ससीम मालूम पड़ते हैं। उपर्युक्त बातों से यह सुझाव उत्पन्न होता है कि उनकी ससीमता का निषेध करने से असीम परम तत्त्व के विषय में भी प्रत्ययों का प्रयोग किया जा सकेगा। फिर भी, यह प्रश्न उठता है : क्या सीमा-रहित और सीमा-सहित प्रत्यय

एकार्थक हो सकते हैं ? तात्पर्य, क्या असीम अर्थ में "शुभ" और ससीम अर्थ में "शुभ" मूलभूत एकार्थक है ? यहां यह याद रखना चाहिए कि अप्रत्यक्ष विषय प्रत्यक्ष विषय से असम्बद्ध नहीं, उसके परिप्रेक्ष्य में ही मिलता है। प्रत्यक्ष विषय का अतिक्रमण कर अप्रत्यक्ष विषय उसकी ससीमता का ही निषेध करता है, उसके तात्पर्य का नहीं। उसी प्रकार सीमा का निषेध करने के बावजूद प्रत्यय का तात्पर्य एक ही बना रहता है। अतः परम और अपरम तत्त्व के विषय में हम एक ही अर्थ में एक ही प्रत्यय का प्रयोग करेंगे, लेकिन भिन्न-भिन्न रूप में; अर्थात् सीमा-रहित या सीमा-सहित रूपों में। पूर्ण रूप से एकार्थक न होकर प्रत्ययों का यह प्रयोग सादृश्यात्मक कहा जा सकता है। उन "सदृश" प्रत्ययों द्वारा अभिव्यक्त ज्ञान भावात्मक भी होगा, क्योंकि निषेध के बावजूद प्रत्यय का तात्पर्य बना रहता है।

II–सृष्टिवाद : प्रतिपादन और संबंधित समस्याएं

(क) परमेश्वर, विश्व का लोकातीत कारण

पूर्ववर्ती प्रकरण में हमने समीक्षात्मक प्रणाली का प्रयोग करके ईशास्तित्व का प्रमाण प्रस्तुत किया है, ताकि आगे हम यह दिखा सकें कि जिस परम तत्त्व का अस्तित्व सिद्ध किया गया है, वह विश्व का सृष्टिकर्ता भी। लेकिन उक्त प्रक्रिया से ईसाई दर्शन-परंपरा में कहीं अधिक प्रचलित उपागम परमेश्वर से सृष्टि का नहीं, सृष्टि से सृष्टिकर्ता का अनुमान करता है। अतः प्रस्तुत विभाग में हम तत्त्व मीमांसात्मक दृष्टि अपनाकर परमेश्वर का अस्तित्व फिर प्रमाणित करेंगे। इस बात को व्यर्थ न माना जाये कि जो परम तत्त्व सिद्ध किया जायेगा, वह ज्ञान-क्रिया का अव्यक्त विषय मात्र नहीं, सृष्टिकर्त्ता के रूप में ही प्रतीत होगा। फिर, यह मानना भी गलत होगा कि सृष्टि-सम्बन्धी प्रमाण मानव के अतिरिक्त मात्र भौतिक विश्व पर आश्रित है। इसके विपरीत जिस विश्व की इस प्रसग में चर्चा होगी, उसे प्रथम स्थान पर मानव-केंद्रित विश्व माना जाता है।

आदिकाल से ही मानव विश्वोत्पत्ति की समस्या सुलझाने में प्रयत्नशील है, इस बात की पुष्टि भिन्न-भिन्न संस्कृतियों में रचित पौराणिक कथाएं करती हैं। आज तक मानव ने अपनी खोज का त्याग नहीं किया है, जैसे आधुनिक विज्ञान से प्रतिपादित विश्वोत्पत्ति–सिद्धांतों से स्पष्ट है लेकिन क्या वास्तव में विकासवाद विश्वोत्पत्तिसमस्या का पूर्णतया समाधान करता है ? विश्व की वर्त्तमान स्थिति की व्याख्या देने के निमित्त विज्ञान उसी विश्व की किसी पूर्ववर्ती अवस्था का वर्णन करता है, जो स्वयं विश्व की आदि स्थिति मानी जाती है, या अनादि क्रम का परिणाम मात्र। परिकल्पना कोई भी हो, यह स्पष्ट ही है कि वैज्ञानिक व्याख्याएं विश्व-सीमाओं को पार नहीं करती हैं, विश्व-क्षेत्र के अन्तर्गत बनी रहती हैं—विश्व कितना भी विस्तृत और देश-काल में असीम भी क्यों न हो। अपनी प्रणाली के बल पर ही भौतिक विज्ञान किसी अ-लौकिक, अर्थात् लोकातीत तत्त्व तक नहीं पहुंच सकता है।

यह विश्व विज्ञान की मौलिक देन है जिसकी वास्तविकता को वैज्ञानिक कोई सन्देह भी न उठाकर स्पष्ट तथ्य के रूप में स्वीकार करता है।

परन्तु मानव बुद्धि की क्षमता ऐसी है कि वह सम्पूर्ण तत्त्वों के विषय में प्रश्न उठा सकती है, और विश्व एक ऐसा तत्त्व है कि वह प्रश्न का विषय बन सकता है। तदनुसार दार्शनिक, वैज्ञानिक के विपरीत, विश्व के सम्बन्ध में अन्तिम प्रश्न पूछता है : 'विश्व का अस्तित्व कहां से ?' और 'आखिर विश्व का अस्तित्व ही क्यों ?'। एक दर्शन के अनुसार इस आधार-भूत प्रश्न का उत्तर यह होगा कि विश्व की भौतिक व्याख्या विश्व में ही निहित है, विश्व स्वयं अपनी व्याख्या है। दूसरे शब्दों में, विश्व को अपने अतिरिक्त किसी अन्य तथाकथित लोकातीत कारण की आवश्यकता नहीं होती। इस प्रकार के अन्तर्वर्तिता-दर्शनों के अनेक उदाहरण उपलब्ध हैं। सांख्य-दर्शन प्रकृति को मूलभूत तत्त्व मानता है, जिसमें से विश्व के शेष तत्त्व विकसित हुए। द्वंद्वात्मक भौतिकवाद इस प्राचीन भौतिकवादी विकासवाद का आधुनिक रूप माना जा सकता है। इसके विपरीत हेगल का विषयिनिष्ठ प्रत्ययवाद उसका आध्यात्मिक प्रतिरूप प्रतीत होता है : विश्व का मूलभूत तत्त्व प्राकृतिक या भौतिक न होकर "परमचित्" ही है। पर उल्लेखनीय बात है कि प्रधान-स्वरूप प्रकृति के समान "परमचित्" भी विश्व का अंगभूत तत्त्व ही है।

लेकिन, क्या वास्तव में अन्तर्वर्तिता-दर्शन से प्रस्तुत समाधान संतोषजनक माने जा सकते हैं ? उपर्युक्त भिन्न-भिन्न दर्शनों का खंडन करना असम्भव नहीं है। शुद्ध भौतिकवाद आध्यात्मिक तत्त्वों की व्याख्या देने में असमर्थ है, और प्रत्ययवाद से प्रतिपादित विश्व की मानसिक निर्मिति उसकी यथार्थता रचना से कम जान पड़ती है। इन विशेष आपत्तियों के अतिरिक्त सामान्य रूप से भी अन्तर्वर्तिता-दर्शन का निराकरण करना चाहिए। विश्व एक ऐसा तत्त्व है जिसकी यथार्थता के विषय में ही प्रश्न उठाया जा सकता है। विश्व की वास्तविकता कितनी भी असंदिग्ध क्यों न हो, फिर भी उसे स्वतःस्पष्ट नहीं कहा जा सकता है। उसके विषय में यह पूछा जा सकता है कि 'विश्व अस्तित्व ही क्यों रखता है' ? फिर, जो मानव बुद्धि भौतिक विश्व के विषय में प्रश्न उठाती है, वह अपने आपके लिए भी एक समस्या दिखाई पड़ती है : 'मानव का अस्तित्व कहां से और क्यों' ? यहां हमारा दावा यह है कि जो विश्व स्वतःस्पष्ट नहीं है, उसके अन्तर्गत व्याख्या प्राप्त भी नहीं होगी। जो स्वतःस्पष्ट नहीं है, वह स्वयं सिद्ध कैसे होगा ?। दूसरी ओर, विश्व-व्याख्या की खोज अनिवार्य ही प्रतीत होती है। अपने स्वभाव से प्रेरित होकर मानव-बुद्धि विश्व-समस्या उठाती है। अतः विश्व के अन्तर्गत यदि व्याख्या उपलब्ध नहीं है, तो विश्व के अतिरिक्त कहीं अवश्य ही होगी।

पारिभाषिक शब्दावली में, जो तत्त्व विश्व से भिन्न होकर उसकी व्याख्या करता है, उसे हम **"विश्व-कारण"** कहते हैं। इसके विपरीत अन्तर्वर्तिता-दर्शन से प्रस्तुत **मूलतत्त्व** को, विश्व का अंगभूत तत्त्व होने से, विश्व का कारण नहीं कहा जाएगा। लेकिन क्या उस तथाकथित विश्व-कारण की वास्तविकता हो सकती है ?

विश्व का तात्पर्य तो वास्तविक तत्त्वों की संपूर्णता है। अब, अपनी परिभाषा के बल पर विश्व-कारण विश्व से पृथक् ही है। यह कारण विश्व के अतिरिक्त, अर्थात् यथार्थता की संपूर्णता के अलावा, और क्या हो सकता है? शून्य या असत्! अतः 'विश्व-कारण' की परिभाषा से यह निष्कर्ष अनिवार्य रूप से निकलता है कि वह अस्तित्व ही नहीं रख सकता है। फिर, असत् होने से परिकल्पित विश्व-कारण, विश्व का क्या, किसी भी तत्त्व का कारण नहीं हो सकता। कारण, असत् से सत् की उत्पत्ति कैसे सम्भव है? इसलिए, विश्व-कारण की परिकल्पना को यदि हम बचाना चाहेंगे, तो उसकी तर्क संगत धारणा बनानी पड़ेगी।

ऐसी किसी धारणा में दो लक्षणों का होना अनिवार्य है। पहला, संपूर्ण विश्व से पृथक्ता, नहीं तो वह विश्व में सम्मिलित मूलभूत तत्त्व मात्र होगा, विश्व-कारण नहीं। दूसरा, यथार्थता, जिसके अभाव में वह वास्तविक विश्व का स्रोत नहीं हो सकता। अन्य शब्दों में, विश्व-कारण की धारणा में किसी **लोकातीत** तत्त्व की कल्पना निहित है। फिर भी, लोकातीत विश्व-कारण की यथार्थता प्रमाणित करने के पहले, उसके सही अर्थ पर कुछ ध्यान देना उचित होगा। लोकातीत तत्त्व उस हद तक विश्व से भिन्न है कि इन दोनों के एक ही समष्टि में सम्मिलित होने की कल्पना तक नहीं की जा सकती है। कारण, उन दोनों का कोई सामान्य लक्षण नहीं है, जिसके आधार पर दोनों की एकता को माना जा सके। यथार्थता भी सामान्य नहीं है: लोकातीत तत्त्व और विश्व की यथार्थता भिन्न-भिन्न प्रकार के हैं। अतः विश्व को ठीक ही संपूर्ण यथार्थ तत्त्वों की समष्टि कहा गया है। जो विश्व संपूर्णता के अतिरिक्त अन्य यथार्थता है, अर्थात् लोकातीत तत्त्व की, वह पूर्णतया दूसरे प्रकार की है। यथार्थता-प्रकारों का प्रभेद किस में है, इसे बाद में दिखाया जाएगा।

लोकातीत विश्व-कारण का तर्क संगत प्रत्यय रचित करने के पश्चात् अब हमें इस परिकल्पना की यथार्थता प्रमाणित करनी पड़ती है। इस उद्देश्य से लोकातीतत्व के अतिरिक्त विश्व-कारण धारणा से दूसरा निहितार्थ निकालना आवश्यक होगा। विश्व-कारण को यथार्थ तत्त्वों की संपूर्णता का कारण माना जाता है, अर्थात् वह न केवल सब तत्त्वों की समष्टि का स्रोत है, वरन् उनकी यथार्थता का भी। विश्व का अस्तित्व ही लोकातीत कारण से व्युत्पन्न है। अन्य शब्दों में: लोकातीत तत्त्व एक ऐसा तत्त्व है, जिसके अभाव में विश्व का अस्तित्व नहीं होता। इस दूसरे निहितार्थ के आधार पर अब विश्व-कारण की परिकल्पना को निम्नलिखित तर्क-वाक्य की सहायता से सिद्ध किया जा सकता है। विश्व-कारण के अभाव में विश्व का भी अभाव होगा। फिर स्पष्टतया विश्व अस्तित्व रखता है, इस आधार पर विश्व-कारण की यथार्थता भी अनिवार्य है। उक्त तर्क को प्रत्यय-सत्ता युक्ति[4] के सदृश भ्रामक न माना जाय। हम "विश्व-कारण" प्रत्यय मात्र के बल पर उसकी

---

4. Ontological argument.

वास्तविकता का निगमन नहीं करते हैं। इसके विपरीत, तर्क का आधार मानसिक रचना नहीं, तथ्य ही है। तथ्य यह है कि मानव बुद्धि विश्वोत्पत्ति की समस्या उठाती है। अतः विश्व एक ऐसा तत्त्व प्रतीत होता है, जो स्वतः स्पष्ट नहीं है; नहीं तो उसके विषय में प्रश्न कैसे उठाया जा सकता ? अब, जो तत्त्व स्वतः स्पष्ट नहीं है, वह स्वयंसिद्ध भी नहीं हो सकता है। इस कारण विश्व मे सम्मिलित किसी मूल तत्त्व का अपर्याप्त होना अनिवार्य है। विश्व का अंगभूत अवयव होने से मूलतत्त्व की उत्पत्ति के विषय में भी प्रश्न उठता है। फलतः विश्व के अतिरिक्त लोकातीत विश्व-कारण की परिकल्पना उत्पन्न होती है। फिर, निहितार्थ के बल पर यह निष्कर्ष निकलता है कि विश्व-कारण के अभाव में विश्व भी नहीं होता। अतः विश्व-कारण सम्पूर्ण यथार्थता की अनिवार्य शर्त प्रतीत होता है। अनिवार्य परिकल्पना की यथार्थता को स्वीकार करना होगा। अतः विश्व-कारण का अस्तित्व सिद्ध है।

पर एक लोकातीत तत्त्व जो विश्व से कारण का संबंध रखता है, इस प्रकार की कल्पना के विरुद्ध आपत्ति उठायी जा सकती है। क्या कारण कार्य को अपने में से कुछ प्रदान नहीं करता है ? क्या कार्य कारण का सहभागी नहीं है ? यदि ऐसा हो तो कारण-कार्य की कोई न कोई समानता भी होगी। फलतः, कारण-कार्य का सम्बन्ध लोकातीततत्व का खण्डन करता है : दोनों भिन्न नहीं, अभिन्न ही दिखाई पड़ते हैं। हमें इस कठिनाई का सामना करना पड़ता है। ऊपर यह कहा गया है कि विश्व-कारण के अभाव में विश्व-स्वरूप कार्य अस्तित्व नहीं रख सकता। इसलिए विश्व-कारण विश्व को अस्तित्व ही प्रदान करता है। अब उल्लेखनीय बात यह है कि जो अस्तित्व सृष्टि को प्रदान किया गया है, वह उसका अपना ही हो गया है। कहने का तात्पर्य यह है कि सृष्टि सृष्ट होने के बावजूद एक स्ववर्ती तत्त्व है। विश्व की भौतिक स्ववर्तिता[5] प्रकृति-नियमों की **संसक्ति** से स्पष्ट प्रतीत होती है। पूर्ववर्ती अध्याय में सच्चे नाम की स्ववर्तिता को मानव की विशिष्टता कहा गया है, जैसा कि उसकी आत्मचेतना और स्वतन्त्रता से प्रमाणित है।

उपर्युक्त बातों से निम्नलिखित दो निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं। यदि वास्तव में विश्व-कारण ने विश्व को स्ववर्तिता प्रनान की है, तो विश्व-कारण का स्वयं भी स्ववर्ती होना अनिवार्य होगा। इससे कारण-कार्य की सामान्यता से विपरीत दोनों की पृथक्ता ही निकलती है : परिभाषा के बल पर स्ववर्ती तत्त्व अपने आप में रहकर भी पृथक्-पृथक् ही हैं। दूसरा निष्कर्ष कारण-कार्य की भिन्नता के विषय में है। अवश्य ही, दोनों स्ववर्ती होकर सदृश प्रतीत होते हैं। फिर भी दोनों की स्ववर्तिता मूलतः भिन्न है। जो स्ववर्तिता सृष्टि को सृष्टिकर्त्ता से प्राप्त हुई, वह यथार्थ होते हुए भी मौलिक नहीं, व्युत्पन्न ही है। इसके विपरीत सृष्टिकर्ता की स्ववर्तिता

5- सही अर्थ में "स्ववर्तिता" केवल स्वचेतन तत्त्वों को प्राप्त है।

स्ववर्ती सृष्टि को उत्पन्न कर, स्वयं अनुत्पन्न ही है। फलतः "लोकातीत विश्व-कारण" कोई स्वतः विरोधी धारणा नहीं है : वह कार्य-स्वरूप विश्व से पृथक् भी और भिन्न भी है। इससे दोनों की यथार्थता का प्रभेद भी दिखाई पड़ता है : एक ओर सम्पूर्ण विश्व की यथार्थता को उत्पन्न करने वाली अनुत्पन्न लोकातीत यथार्थता; दूसरी ओर व्युत्पन्न विश्व की अपनी यथार्थता।

(ख) "शून्य से सृष्टि" का अर्थ

शायद पाठक के मन में सदेह उठा होगा कि सृष्टि की उपर्युक्त व्याख्या कहां तक उस परम्परागत सिद्धांत से सहमत है, जिसके अनुसार "शून्य से" ही सृष्टि हुई। "शून्य से सृष्टि" को ईसाई-दर्शन की विशिष्टता ठीक ही माना जाता है। वास्तव में उस सिद्धांत को उसकी आधारशिला कहना अत्युक्ति नहीं होगी। उल्लेखनीय बात है कि "शून्य से सृष्टि" की न केवल धारणा, उसकी अभिव्यक्ति भी अक्षरशः बाइबिल से उद्धृत है। निस्संदेह दर्शनशास्त्र में धर्मग्रन्थ को शब्द प्रमाण के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता है। फिर भी दर्शन को धर्म से प्रेरणा अवश्य ही मिली। 'शून्य से' सूक्ति लैटिन "ex nihilo" का अनुवाद है। इन्हीं शब्दों से संत जेरोम ने (340–420 ई०) यूनानी मूलपाठ को अनुवादित किया था। वास्तव में मौलिक उद्धरण इससे कुछ और जटिल लगता है। हिन्दी में इसका शाब्दिक अनुवाद इस प्रकार होगा : ईश्वर ने उन्हें (अर्थात् आकाश और पृथ्वी को) ऐसे तत्त्वों से सृष्ट नही किया, जिनका प्रागभाव था[6], अर्थात् सृष्टिकर्ता ने किसी प्रदत्त सामग्री या उपादान का प्रयोग नहीं किया, जैसे कुम्हार मिट्टी का करता है। अतः संत जेरोम से प्रचलित अनुवाद मूलपाठ का सही अर्थ अभिव्यक्त करता है : परमेश्वर ने किसी वास्तविक तत्त्व से नहीं, "शून्य से" ही सृष्टि की।

लेकिन अनुभव से हमें मालूम पड़ता है कि सूक्ति की अनेक भ्रांत व्याख्याएं प्रचलित हैं, जिनका निराकरण करना अनुचित नहीं होगा। कोई ऐसा मानता है कि "सृष्टि शून्य से स्वयं ही उत्पन्न हुई", अर्थात् अपने आपसे, सृष्टिकर्ता की अनुपस्थिति में। इसके विपरीत सहज में यह अखण्डनीय आपत्ति उठायी जा सकती है कि असत् से सत् कभी नहीं उत्पन्न हुआ, न होगा। सृष्टिवादी इतने असंगत सिद्धांत का प्रतिपादन नहीं करता है। अतः उपर्युक्त कथन का सुधार कर यह कहना पड़ेगा कि "ईश्वर ने ही शून्य से सृष्टि की"। लेकिन इसका अर्थ यह न समझें मानो "शून्य" एक प्रकार का अदृष्ट, सूक्ष्मतम पदार्थ है, जिसमें से सृष्टिकर्ता नाना प्रकार के तत्त्वों को गढ़ा। इस गलत कल्पना का खंडन करने के निमित्त हमें याद करना चाहिए कि 'शून्य बिलकुल कुछ नहीं है', सूक्ष्मतम पदार्थ भी नहीं। फिर, 'कुछ नहीं' से सर्वशक्तिमान् परमेश्वर भी 'कुछ नहीं' निकाल सकता है। इस दूसरी भ्रांत व्याख्या

६-- मक्काबियों का २रा ग्रन्थ, ७, २८।

के निराकरण से यह स्पष्ट है कि 'शून्य से सृष्टि' का सिद्धांत किसी भी उपादान का प्राग्भाव अस्वीकार करता है, वह कितना ही सूक्ष्म क्यों न हो। किंतु ध्यान देने योग्य बात है कि पूर्ववर्ती उपादान का निषेध मात्र पर्याप्त नहीं होगा; क्योंकि इस दृष्टि से यह कल्पना की जा सकती है कि सृष्टिकर्ता ने पहले आवश्यक सामग्री को सृष्ट किया, **बाद में** उसमें से भिन्न-भिन्न तत्त्वों को गढ़ा। कल्पना इसलिए भ्रांत है कि वह सृष्टिकार्य को दो अवस्थाओं के क्रम में विभाजित करती है। इसके विपरीत, लोकातीत होने से सृष्टिकर्ता कालातीत भी है। फलतः उसके सृष्टिकार्य को कालिक प्रक्रिया नहीं माना जा सकता है।

आखिर "शून्य से सृष्टि" का सही अर्थ क्या है ? प्रश्न का उत्तर देने के निमित्त हमें इस बात पर ध्यान देना पड़ता है कि परम्परागत उक्ति कारण की अपेक्षा, कार्य से ही संबंध रखती है। अवश्य ही सृष्टि-कार्य के पहले किसी उपादान का प्राग्भाव स्वीकार नहीं किया जा सकता है। लेकिन इससे बढ़कर सृष्ट तत्त्वों के प्राग्भाव पर बल देना आवश्यक है। शून्य है कार्य का, और "शून्य से सृष्टि" की सही व्याख्या यह है कि : सम्पूर्ण सृष्टि की अनुपस्थिति में सृष्टिकर्ता परमेश्वर ने उसकी सम्पूर्णता सृष्ट की या, सृष्टि के अभाव में सृष्टिकर्ता ने उसे उत्पन्न किया। प्रस्तुत व्याख्या की दृष्टि से परम्परागत उक्ति का लोकातीत कारण से सामंजस्य स्पष्ट दिखाई पड़ता है। परिभाषा के बल पर लोकातीत कारण एक ऐसा तत्त्व है जिसकी अनुपस्थिति में सम्पूर्ण सृष्टि का अभाव होता। अतः लोकातीत कारण के अभाव में सृष्टि शून्य मात्र होती। अतः 'शून्य से सृष्टि' का तात्पर्य यह है कि अपने आपसे शून्य होते हुए भी, सृष्ट तत्त्व सृष्टिकर्ता पर निर्भर होकर अस्तित्व रखते हैं जबकि सृष्ट तत्त्वों की कोई 'वास्तविकता' नहीं थी, सृष्टिकर्ता ने उन्हें वास्तविक किया।

(ग) "अनादि संसार" की समस्या

पूर्ववर्ती परिच्छेद में यह कहा गया है कि 'शून्य से सृष्टि" का सही अर्थ सृष्ट तत्त्वों के प्राग्भाव से सम्बन्ध रखता है। फिर भी 'प्राक्" उपसर्ग के बावजूद, इसे कालिक पूर्ववर्तिता न समझाया जाये। कारण, विश्वोत्पत्ति के सन्दर्भ में अवस्थाओं का कालिक अनुक्रम हो ही नहीं सकता है। यह दावा इस प्रकार सिद्ध किया जा सकता है सृष्टि के पहले या सृष्टि के बाद, इन स्थितियों का प्रभेद सृष्टि-कर्त्ता के विषय में असंभव है। जो कालातीत है, उसमें कालक्रम भी नहीं हो सकता है। सृष्टि के विषय में भी उपर्युक्त प्रभेद असंगत प्रतीत होता है। या तो हम कहें कि विश्व का अभाव उसकी उपस्थिति के पहले आया, या यह कि विश्व की उपस्थिति उसके अभाव के बाद में आई। पहले विकल्प में वास्तव में यह कहा जाता है कि शून्य के पहले शून्य आया, क्योंकि जब तक सृष्टि की उत्पत्ति नहीं हुई, तब तक उसकी उपस्थिति की भी चर्चा नहीं हो सकती है। लेकिन 'कुछ नहीं' कैसे

'कुछ नहीं' के पहले आ सकता ? दूसरे विकल्प में 'कुछ नहीं' और 'कुछ' अर्थात् शून्य और विश्व का अनुक्रम मिलता है । लेकिन 'कुछ नहीं के बाद में आना,' इस उक्ति का अर्थ क्या हो सकता है ? दोनों विकल्प इसलिए निरर्थक प्रतीत होते हैं, क्योंकि क्रम सिर्फ दो वास्तविक तत्त्वों का हो सकता है । फलतः विश्वोत्पत्ति की दृष्टि से न तो सृष्टिकर्त्ता, न सृष्टि के विषय में ही 'पूर्ववर्ती या परवर्ती' अवस्थाओं का प्रभेद सार्थक प्रतीत होता है । पर शायद कोई यह कहे कि सृष्टिकर्त्ता और सृष्टि, इन दोनों की पूर्ववर्तिता/परवर्तिता हो सकती है, मानो पहले परमेश्वर था, सृष्टिकार्य के बाद में सृष्टि । प्रस्तुत समाधान इसलिए गलत है क्योंकि इसमें प्रयुक्त 'पहले' का निहितार्थ यह है कि विश्व के साथ परमेश्वर भी कालक्रम से सम्बद्ध है । उपर्युक्त विश्लेषण से यह निष्कर्ष निकलता है कि सृष्टि का प्रागभाव कालक्रम से सम्बन्ध नहीं रख सकता है । कालिक पूर्ववर्तिता के बदले 'शून्य से सृष्टि' का सिद्धांत तात्त्विक प्राथमिकता की ओर संकेत करता है : यथार्थता की दृष्टि से विश्व की अपेक्षा परमेश्वर ही मूलभूत तत्त्व है ।

उपर्युक्त अर्थ में विश्व का कालिक प्रागभाव निरर्थक है, इससे तुरन्त यह निष्कर्ष न निकालें कि विश्व अनादि काल से ही अस्तित्व रखता है । विश्व का प्रारम्भ हुआ या नहीं, यह प्रश्न वास्तव में सृष्टिकार्य से नहीं, विश्व की कालावधि से सम्बन्ध रखता है । 'विश्व कहां से उत्पन्न हुआ' और 'विश्व कब से अस्तित्व रखता है ?' : इन दो समस्याओं का स्पष्ट प्रभेद करना पड़ता है । परिमाण से सम्बन्ध रखकर विश्व की 'आयु', विज्ञान का विषय है । सन् 1927 में लिमेत्र द्वारा प्रस्तुत तथाकथित 'आदि अणु' के सिद्धांत[7] के अनुसार विश्व का प्रारम्भ 2 या 6 हजार करोड़ वर्ष पहले हुआ । लिमेत्र के अनुसार 'आदि अणु' के प्रारम्भिक विस्फोट के फलस्वरूप "विश्व का प्रसारण"[8] होने लगा जो आज तक चल रहा है । लेकिन अन्य विद्वानों का मंतव्य है कि "आदि अणु" स्वयं किसी पूर्ववर्ती संकुचन का परिणाम मात्र है । वास्तव में प्रसारण-संकुचन का क्रम अनादि काल से ही चल रहा है । अतः उनसे प्रस्तुत सिद्धांत को 'दौलायमान विश्व'[9] कहा जाता है । हमारी दृष्टि से यह बात महत्त्व की है कि लिमेत्र के विपरीत उत्तरोक्त वैज्ञानिकों के अनुसार विश्व की कालावधि सीमित नहीं, अनादि ही है । संक्षेप में यही इस विषय में आधुनिक विज्ञान की परिकल्पना है ।

अब प्रश्न है : क्या 'अनादि संसार' का सिद्धांत सृष्टिवाद का खंडन करता है ? बिल्कुल नहीं । सृष्टिवादी 'अनादि संसार' को वैज्ञानिक परिकल्पना के रूप में

---

7. George Lemaitre's Theory of the 'Primeval Atom'
8. 'Expanding Universe'.
9 'Oscillating Universe'.

स्वीकार कर सकता है, बशर्ते इसमें से निम्नलिखित दो गलत निहितार्थ न निकाले जायें पहला, अनादि काल शाश्वतत्व के बराबर नहीं है। कारण, जबकि शाश्वत परमेश्वर कालातीत ही है, विश्व अनादि काल से काल में विलीन है। दैर्घ्य की माया हमें न बहकाये; विश्व की कालावधि जितनी अधिक दीर्घ है, शाश्वतत्व की तुलना में उतनी ही कम। जबकि विश्व-काल में भिन्न-भिन्न घटनाएं भूत और भविष्य में बिखरी जैसी हैं, शाश्वत परमेश्वर के लिए घटनाओं की संपूर्णता मानो अक्षर वर्तमान क्षण में एकत्रित है। अतः अनादि विश्व की परिकल्पना में भी सृष्टि और सृष्टिकर्त्ता का अभेद बना रहता है। दूसरा भ्रांत निष्कर्ष यह है मानो अनादि होने से सृष्टि अनुत्पन्न या अकारण भी होती। सृष्टिवाद का मर्म यह है कि लोका-तीत कारण की अनुपस्थिति में विश्व का अभाव होगा। दूसरे शब्दों में, सम्पूर्ण सृष्टि अस्तित्व की दृष्टि से परमेश्वर पर निर्भर है। अब विश्व यदि अनादि काल से भी अस्तित्व रखता है, तो अनादि काल से परमेश्वर के बल पर ही। विश्व की अवधि कितनी भी दीर्घकालीन क्यों न हो, काल-क्षण असंख्य होते हुए भी प्रत्येक क्षण सृष्टिकर्त्ता पर आश्रित रहता है, इससे स्पष्ट है कि कारणता का प्रश्न प्रारम्भ की बात से भिन्न है।

(घ) विकासवाद और सृष्टिवाद का समन्वय

पहले हमने दो अवसरों पर इस बात का निषेध किया है कि विश्वोत्पत्ति का कालक्रम से सम्बन्ध हो सकता है। 'शून्य से सृष्टि' की व्याख्या के सन्दर्भ में यह कहा गया है कि उस सिद्धांत को इस अर्थ में नहीं समझा जाय मानो सृष्टिकर्त्ता ने पहले उपादान की सृष्टि की, बाद में उसमें से सृष्ट तत्त्वों को गढ़ने लगा। फिर, 'अनादि संसार' के प्रसंग में यह दिखाया गया है कि सृष्टिकर्त्ता/सृष्टि का कारण-कार्य सम्बन्ध कालातीत ही है। लेकिन इससे यह निष्कर्ष न निकालें कि सृष्टिवाद में विकासवाद का निषेध निहित है। इसके विपरीत, प्रस्तुत प्रकरण का तात्पर्य दोनों का सामंजस्य स्थापित करना है। पर ध्यान देने योग्य बात है कि हमारा दृष्टिकोण दर्शनशास्त्र का ही है, बाइबिल-व्याख्या का नहीं। उत्पत्ति-ग्रंथ के पहले अध्याय में वर्णित भिन्न-भिन्न जीव-जातियों की परमेश्वर द्वारा सृष्टि विज्ञान के जाति-विकास का विरोध करता है। पर पाठक को यह याद रखना पड़ेगा कि 6ठी शताब्दी ई. पू. में रचित उत्पत्ति-ग्रंथ की दृष्टि अनिवार्य रूप से प्राग्वैज्ञानिक ही है। शाब्दिक प्रतिपादन से बढ़कर उक्त लेख का वास्तविक तात्पर्य महत्त्व का है; अर्थात् सृष्ट तत्त्वों की संपूर्णता परमेश्वर से ही उत्पन्न हुई। इस सिद्धान्त का विकासवाद से समन्वय असम्भव नहीं है।

जो सृष्टिवाद का समर्थन करता है, उसे विकासवाद का खंडन करना पड़ता है, ऐसा मानना भ्रम ही है। कारण, ये दोनों सिद्धान्त पारस्परिक विरोधी नहीं हैं, बल्कि भिन्न-भिन्न प्रश्नों के उत्तर हैं। जिस समस्या का समाधान सृष्टिवादी

प्रस्तुत करता है, वह संपूर्ण सृष्टि के मूलकारण से सम्बन्ध रखता है। इसके विपरीत विकासवादी भिन्न-भिन्न तत्त्वों की उत्पत्ति की समस्या हल करने का प्रयास करता है। शायद किसी-न-किसी के मन में यह आपत्ति उत्पन्न हो : यदि विकासवादी संपूर्ण विश्व के प्रत्येक तत्त्व की उत्पत्ति के पर्याप्त कारणों को खोज निकालने में सफल हो, तो इसके अतिरिक्त और किसी सृष्टिकर्त्ता की और कोई आवश्यकता नहीं बनी रहती। आपत्ति वास्तव में निराधार है। कारण, जिस विश्व के संपूर्ण तत्त्व उत्पत्ति की दृष्टि से आत्मनिर्भर नहीं है, उनका समष्टि की दृष्टि से भी परतन्त्र होना अनिवार्य हैं। विचारणीय है कि पराश्रित तत्त्वों की समष्टि किस प्रकार स्वयंभू हो सकती है ? इसके अतिरिक्त, क्या विपक्षी का पूर्वधारणा सही है ? क्या संसार में सम्मिलित भौतिक कारण वास्तव में भिन्न-भिन्न तत्त्वों को उत्पन्न करने में समर्थ हैं ? इस प्रश्न का कुछ विस्तृत रूप से अनुसंधान करना अनुचित नहीं होगा।

जीव-जातियों के विकास का उदाहरण लीजिए। इस सिद्धान्त के अनुसार जीव-जातियों की वर्तमान विविधता एक (या अनेक) प्रारम्भिक अविकसित जीवों से उत्पन्न हुई। अब तक प्राप्त जीवाश्म इस सिद्धांत का पर्याप्त प्रमाण प्रस्तुत करते हैं। इतना ही नहीं, जीव-विज्ञान विकास-प्रक्रिया की व्याख्या देने में भी किसी हद तक सफल हुआ है। उत्पत्ति-सामग्री में यदि उत्परिवर्तन[10] घटित हों, और नव-डार्विनवाद के सिद्धान्तों के अनुसार इनमें से 'योग्यतम की उत्तर जीविता' हो, तो हमारी समझ में यह आने लगता है कि जातियों की विविधता कैसे उत्पन्न हो सकी। और, यदि विज्ञान से अन्वेषित भौतिक कारण पर्याप्त प्रतीत होते हैं, तो इस प्रसंग में सृष्टिकर्त्ता की आवश्यकता कहां ? उस पर भी जाति-विकास में सौद्देश्यता एक ऐसा असंदिग्ध तथ्य है जिसकी व्याख्या देना विज्ञान की क्षमता के परे ही है, इस बात को कोई वैज्ञानिक अस्वीकार नहीं कर सकता है कि प्राथमिक जीवों से लेकर मानवोत्पत्ति तक विकास प्रगति करता रहा है। अब प्रश्न उठता है : इस निरन्तर प्रगति का अन्तिम लक्ष्य क्या है ? यदि मानव, विकास का उच्चतम परिणाम होते हुए भी, अपने आपके परे किसी लोकातीत उद्देश्य की ओर आगे बढ़ता है, तो क्या यह सच नहीं कि संपूर्ण विकास की सौद्देश्यता परम तत्त्व की ओर संकेत करती है ?

इस तरह मात्र भौतिक कारण जाति-विकास के लिए पर्याप्त प्रतीत होते हैं, लेकिन उनकी पर्याप्तता जीवोत्पत्ति के लिए संदेहास्पद तथा मानवोत्पत्ति के लिए अस्वीकार्य ही है। निर्जीव प्रकृति से किस प्रकार जीव उत्पन्न हुए, इस समस्या को हल करने की कोशिश ओपैरिन और कैल्विन से प्रतिपादित सिद्धान्त करते हैं[11] फिर

---

10 Mutations. विकासवाद से सम्बन्धित वैज्ञानिक सिद्धांतों के लिए देखें : L. Pereira से संपादित '**Origins. A Symposium on How the Universe, Life and Man came to be**, Phoona, 1964.

11. **Origins** नामक उपर्युक्त पुस्तक को देखें. पृ. 85–101।

भी इस क्षेत्र में जीव-रसायन की आश्चर्यजनक प्रगति के बावजूद अनुतरित प्रश्न और अनसुलझी समस्याएं बहुत-सी हैं। दूसरी ओर, मानवोत्पत्ति के विषय में वैज्ञानिक व्याख्या का अनुपलब्ध होना स्वाभाविक हैं है। कारण, आध्यात्मिक होने से मानव चेतना भौतिक विज्ञान का विषय नहीं हो सकती है। दार्शनिक दृष्टिकोण से भी हमें इस निष्कर्ष पर पहुंचना पड़ेगा कि जीव मात्र से आत्मा का प्रादुर्भाव असंभव ही है। जीवात्मा के विपरीत, जो प्रकृति में मानो विलीन है, मानव-आत्मा भौतिक परिस्थितियों पर निर्भर न होकर अपने आप में स्थित या 'स्ववर्ती' ही है। लेकिन उत्पत्ति की रीति अस्तित्व के ढंग से भिन्न नहीं हो सकती है। फलतः प्रकृति से स्वतन्त्र आत्मा मात्र भौतिक कारण से उत्पन्न नहीं हो सकी।

अब, यदि हम सिंहावलोकन से विकास की सम्पूर्णता पर चिंतन करते हैं, तो निम्नलिखित बातें स्पष्ट दिखाई पड़ती हैं कालक्रम के सिलसिले में निम्नतर तत्त्वों में से किसी-न-किसी प्रकार से उच्चतर तत्त्व उत्पन्न हुए विश्वोत्पत्ति के बाद जीवोत्पत्ति, फिर जाति-विकास के अन्त में मानवोत्पत्ति। मौटे तौर से ये हैं विकास-प्रगति की मुख्य अवस्थाएं। फिर, पूर्ववर्ती अवस्था का परिणाम किसी अगले विकास का आधार बन जाता है। अतः सही अर्थ में यह कहा जा सकता है कि विकास एक निरन्तर 'स्वातिक्रमण' की प्रक्रिया है। जीव को उत्पन्न करने से निर्जीव प्रकृति अपने से आगे बढ़ती है, उच्चतर जातियों को विकसित करने से जीव का स्तर क्रमशः उन्नत हो जाता है, मानवोत्पत्ति के फलस्वरूप भौतिक मात्र जीवन पूर्णतया आप के परे चढ़ता है। इस 'स्वातिक्रमण' की दृष्टि से यह कहना उचित होगा कि किसी भी पूर्ववर्ती अवस्था की सार्थकता उसको परवर्ती अवस्था में निहित है। भौतिक तत्त्व इसलिए अस्तित्व रखते हैं कि उनके वातावरण में जीव उत्पन्न हो सकें; उसी प्रकार जीव-मण्डल का वास्तविक उद्देश्य मानवोत्पत्ति की सम्भावना स्थापित करना ही है। अब, यदि संपूर्ण विकास की सौद्देश्यता के विषय में प्रश्न उठाया जाय, तो मानव-लक्ष्य की दिशा में देखना पड़ेगा जो ऐहिक विकास का चरम बिन्दु ही है। लेकिन ऊपर जाति-विकास के सन्दर्भ में हम यह कह चुके हैं कि मानव के परे होकर संपूर्ण विकास का परम उद्देश्य लोकातीत ही है।

उपर्युक्त विवेचन का परिणाम यह है कि विकास की सार्थकता, अतः उसकी व्याख्या भी, संसार में नहीं, लोकातीत तत्त्व में ही निहित है। इस दृष्टि से स्पष्ट हो जाता है किस प्रकार सृष्टिवाद विकासवाद का सम्पूरक हो सकता है। विकास की प्रगति एक 'स्वातिक्रमण' की प्रक्रिया है। इसके अतिरिक्त, अनेक अवसरों पर विकास-परिणाम के लिए भौतिक कारण अपर्याप्त प्रतीत होते हैं, विशेषकर मानवोत्पत्ति के प्रसंग में। जिस परिणाम को भौतिक तत्त्व उत्पन्न करने में असमर्थ हैं, उसे वे लोकातीत कारण के प्रभाव से वास्तव में उत्पन्न करते हैं। किन्तु इस प्रभाव को किसी बाह्य हस्तक्षेप के अर्थ में न समझा जाय। जीवोत्पत्ति या मानवोत्पत्ति के अवसर पर सृष्टिकर्त्ता की ओर से सहायता का तात्पर्य यह है कि भौतिक तत्त्व उस

प्रभाव के फलस्वरूप स्वयं ही उक्त परिणाम को उत्पन्न करते हैं। अतः "स्वातिक्रमण' का अर्थ न केवल 'अपने आपके परे' चढ़ना है, अपितु 'अपने से' ही ऐसा करना भी है। इसके अतिरिक्त सृष्टिकर्त्ता का विकास पर प्रभाव उपर्युक्त अवसरों तक सीमित नहीं है। जिस प्रकार विश्व अपने अस्तित्व के प्रत्येक क्षण में सृष्टिकर्त्ता पर आश्रित है, उसी प्रकार विकास अपनी प्रगति की सब अवस्थाओं में लोकातीत कारण से प्रभावित है। इस दृष्टि से विकासवाद और सृष्टिवाद, दोनों का सामंजस्य युक्तियुक्त प्रतीत होता है।[12]

III : ईश्वरवाद का प्रतिपादन

(क) परमेश्वर लोकातीत भी और अन्तर्यामी भी :

ईश्वरवाद की भूमिका के रूप में परमेश्वर की दो तरफा विशिष्टताओं अर्थात् लोकातीतत्व और अन्तर्यामिता का वर्णन करना अनुचित नहीं होगा। ऊपर विश्व-कारण सम्बन्धी प्रकरण में परमेश्वर का लोकातीतत्व निम्नलिखित तर्क से सिद्ध किया गया है। विश्वकारण का तत्त्वों की संपूर्णता के बाहर होना अनिवार्य है। कारण, कोई तत्त्व अपने आप का कारण हो नहीं सकता है। अतः विश्व रचना में निहित मूलकारण को सम्पूर्ण तत्त्वों का कारण नहीं कहा जा सकता। लेकिन, तत्त्वों की संपूर्णता के बाहर होते हुए भी, विश्व-कारण असत् नहीं हो सकता है। अतः हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि विश्वकारण का लोकातीत परम तत्त्व होना अनिवार्य है। इसलिए, 'लोकातीतत्व' की धारणा मे ये दोनों विशेषताएं निहित हैं, अर्थात् विश्व से पृथक्ता और उसकी अपेक्षा में प्रथमता। इस बात पर भी ध्यान आकर्षित करना अनावश्यक नहीं कि लोकातीतत्व को दैशिक अर्थ में न समझाया जाए, मानो परमेश्वर आकाश के ऊपर किसी स्वर्ग में निवास करता है। उपर्युक्त लोकातीतत्व की परिभाषा से स्पष्ट है कि उसमें किसी 'ऊंचाई' की कल्पना समाविष्ट नहीं है। परन्तु 'अन्तर्यामिता' की यह व्याख्या भी कम असंतोषजनक नहीं होगी, जिसके अनुसार परम तत्त्व शाब्दिक अर्थ में तत्त्वों के "भीतर" रहता, अर्थात् ऊंचाई में नहीं, बल्कि गहराई में।

शुद्ध तत्वमीमांसा की दृष्टि से सही अर्थ की 'अन्तर्यामिता' इस प्रकार स्थापित की जा सकती है। परमेश्वर एक ऐसे विश्व की सृष्टि करता है जिसकी अपनी स्थिरता या दृढ़ता है। इस 'स्वतः स्थित' विश्व में मानव भी सम्मिलित है। जैसे मानव-दर्शन के सन्दर्भ में स्पष्ट किया गया है, विश्व की भौतिक स्थिरता से

---

12. विकासवाद के विषय में इस संपूर्ण प्रकरण के लिए हमें प्रेरणा निम्नलिखित लेख से मिली : K. Rahner, "Evolution" in **Sacramentum Mundi**, Vol. 2, pp. 289–94.

बढ़कर मानव को आध्यात्मिक 'स्ववर्तिता' ही प्राप्त है, अर्थात् मानव का न केवल अपना अस्तित्व है, बल्कि वह अपने अस्तित्व का चेतन भी है। आत्मचिंतन करने के फलस्वरूप मानव मानो अपनी आंतरिकता में उतरता है। पर इस आंतरिकता का आधार क्या है, मानव को "स्ववर्तिता" कहां से प्राप्त हुई ? सृष्टिवाद का मर्म इसमें है कि सृष्टिकर्ता ने ही जगत् की स्थिरता और मानव की स्ववर्तिता स्थापित की है। अतः चेतन रूप से अपनी आंतरिकता में उतरकर मानव इस बात की अंतः प्रज्ञा प्राप्त करता है कि उसकी स्ववर्तिता का अन्तिम आधार उससे भिन्न परम तत्त्व ही है। अतः मानव की आंतरिकता का मूलाधार होकर सृष्टिकर्ता परमेश्वर ठीक ही "अंतर्यामी" कहा जा सकता है। फिर, जो तथ्य मानव को चेतन रूप से ज्ञात है, वह भौतिक जगत् में भी अचेतन रूप से उपलब्ध है। फलतः विश्व को उसके अपनापन में स्थापित करने से सृष्टिकर्ता परमेश्वर भौतिक तत्त्वों का भी अंतर्यामी मालूम पड़ता है।

उपर्युक्त बातों से स्पष्ट होगा कि अंतर्यामिता लोकातीतत्व का विपर्याय नहीं, उसका संपूरक ही है। सबसे पहले यह बात उल्लेखनीय है कि दोनों प्रत्ययों का एक सामान्य अवयव है : लोकातीत विश्वकारण की अपेक्षा अंतर्यामी सृष्टि से कम पृथक् नहीं है। इस सामान्य "पृथक्ता" के अतिरिक्त लोकातीतत्व और अंतर्यामिता की अपनी-अपनी विशेषताएं भी हैं, अर्थात् क्रमशः "प्रथमता" और "आंतरिकता"। लेकिन भिन्नता के बावजूद लोकातीत कारण को साथ ही अन्तर्यामी होना आवश्यक है। विश्व की सत्ता का मूल कारण होकर परमेश्वर सृष्ट तत्वों की आन्तरिकता में भी वर्त्तमान है। कारण, सत्ता किसी भी तत्त्व का सबसे आंतरिक अवयव है।

(ख) परमेश्वर में व्यक्तित्व :

ईश्वरवाद में लोकातीत परम तत्त्व के अतिरिक्त उसका व्यक्ति-स्वरूप भी निहित है। पूर्ववर्ती प्रकरण में हमने यह सिद्ध किया है कि परमेश्वर अंतर्यामी होने पर भी विश्व से पृथक् ही है। प्रस्तुत प्रकरण में हमें यह दिखाना है कि किस अर्थ में परम तत्त्व को व्यक्ति-स्वरूप कहा जा सकता है। इस सन्दर्भ में महत्त्व की बात है कि "व्यक्ति" प्रत्यय अनिवार्य रूप से मानवतारोपण से सम्बन्ध नहीं रखता है। ईसाई विचारधारा में "व्यक्ति" प्रत्यय की ऐतिहासिक उत्पत्ति इस कथन का पर्याप्त प्रमाण प्रस्तुत करती है। चौथी और ५वीं शताब्दी के धर्मसैद्धांतिक वाद-विवाद में hypostasis, persona जैसे प्रत्ययों की रचना इस प्रभेद को स्थापित करने के निमित्त की गयी, अर्थात् परमेश्वर स्वभाव की दृष्टि से एक होकर, "व्यक्तियों" की दृष्टि से "त्रित्व" भी है[13]। वास्तव में, परवर्ती विकास के फलस्वरूप ही मानव के

---

13. ऊपर, अध्याय ३, प्रकरण २, क: "त्रियेक परमेश्वर का धर्म-सिद्धान्त" देखें।

विषय में भी इस 'व्यक्ति' प्रत्यय का प्रयोग किया गया, जिसकी रचना पहले परमेश्वर के लिए की गयी थी। अतः, विरोधाभासी सत्य यह है कि परमेश्वर के विषय में "व्यक्ति का प्रयोग मानवतारोपण नहीं है, बल्कि मानव को एक "व्यक्ति" कहना मानो "देवतारोपण" ही है। इस परिप्रेक्ष्य में जिस दार्शनिक समस्या का हमें सामना करना पड़ता है, वह स्पष्ट ही है; अर्थात् परमेश्वर किस प्रकार दोनों, व्यक्तिस्वरूप और लोकातीत – या मानवातीत – हो सकता है? दूसरे शब्दों में, लोकातीतत्व और व्यक्तित्व का समन्वय तभी सिद्ध होगा, जब 'व्यक्ति' प्रत्यय को सब प्रकार की ससीमता से वंचित किया जाय।

यद्यपि ऐतिहासिक दृष्टि से व्यक्ति-प्रत्यय का प्रयोग पहले परमेश्वर के विषय में, बाद में मानव के लिए किया गया, तार्किक दृष्टि से हमारी प्रक्रिया विपरीत होगी; अर्थात् सृष्टि से सृष्टिकर्ता का अनुमान करना पड़ता है। इसके अतिरिक्त दूसरा मार्ग नहीं है। परमेश्वर का अस्तित्व सृष्ट तत्त्वों के आधार पर ही अनुमानित किया गया है; अब उसी प्रणाली से उसका स्वभाव भी निर्धारित किया जाएगा। पहले हम यह पूछें कि वास्तव में सृष्टि क्या है? निस्संदेह, विश्व ही सृष्टि। किन्तु, विश्व भौतिक मात्र नहीं है, इसके विपरीत विश्व मानव केंद्रित तत्त्व ही है। कारण, मानव विश्व का चरम बिन्दु प्रतीत होता है, जैसे विकासवाद से स्पष्ट है। फिर, विश्व-केन्द्र स्वरूप मानव का मर्म क्या है? ऊपर प्रस्तुत मानव-दर्शन से यह दिखाई पड़ता है कि "स्ववर्तिता" और उससे सम्बन्धित आत्मचेतना और स्वतन्त्रता मानव व्यक्ति की मौलिक विशेषताएं हैं। अब, सृष्टिकर्ता परमेश्वर पर उसकी सृष्टि की उत्तम विशेषताओं को आरोपित करना उचित ही होगा, बशर्ते इनमें निहित ससीमता का निराकरण किया जा सके। अतः परम तत्त्व को मानव के विपरीत किसी भी इन्द्रिय-ज्ञान के अभाव में शुद्ध, साक्षात् आत्मचेतना प्राप्त होगी। फिर, मानव के विपरीत वह किसी प्रकार से भी बाध्य न होकर पूर्णतया स्वतन्त्र भी होगा। अन्त में स्वयंभू होकर, परमेश्वर को "स्ववर्तिता" अपने आप ही प्राप्त होगी। इसके विपरीत, मानव स्ववर्तिता, उसकी अपनी होते हुए भी, अन्ततः उसे सृष्टिकार्य के फलस्वरूप मिली। अतः उपर्युक्त अर्थ में परम तत्त्व पर "व्यक्तित्व" का आरोप किया जा सकता है। किसी भी ससीमता के अभाव में व्यक्तित्व लोकातीतत्व का विरोध नहीं करता है।

उपर्युक्त लक्षणों के अतिरिक्त व्यक्तित्व की धारणा में एक और महत्त्व का पहलू निहित है, अर्थात् "सह-व्यक्तित्व"। यह तो स्वयंसिद्ध ही है कि मानव दूसरों के अभाव में वास्तव में एक व्यक्ति नहीं हो सकता है। मानव केवल समाज की गोद में ही अपना व्यक्तित्व विकसित कर सकता है। उदाहरणार्थ, मानव दूसरों के साथ वाद-विवाद में चिन्तन करता है, तो दूसरों की सहायता से ही, जैसे गुरु की सहायता से आत्म-सिद्धि प्राप्त करने का प्रयत्न करता है। अस्तित्व की दृष्टि से भी, मानव

स्ववर्ती होते हुए भी अन्य व्यक्तियों के साथ ही सह-अस्तित्व रखता है। अतः यदि दूसरों से सम्बन्ध व्यक्तित्व की धारणा में निहित है, तो प्रश्न उठता है: क्या व्यक्ति-स्वरूप परमेश्वर के विषय में भी "सह-व्यक्तित्व" की चर्चा हो सकती है? यह सहज में स्वीकार किया जाएगा कि परमेश्वर मानव से व्यक्ति-व्यवहार करता है। कारण, अन्तर्यामिता के फलस्वरूप वह मानव की आंतरिकता से ही घनिष्ठ सम्बन्ध रखता है। फिर, जिस सृष्टिकर्ता से मानव को व्यक्तित्व प्राप्त हुआ, उसका स्वयं ही व्यक्ति-स्वरूप होना अनिवार्य है। और सृष्टिकर्ता परमेश्वर न केवल मानव का स्रोत है, उसका लक्ष्य भी है। मानव तभी व्यक्तित्व की संपूर्णता तक पहुंचेगा, जब वह व्यक्ति-स्वरूप परमेश्वर से संयुक्त हो जाएगा। अतः मानव से सम्बन्ध की दृष्टि से परमेश्वर पर सम्पूर्ण अर्थ में "व्यक्तित्व" को आरोपित किया जा सकता है, अर्थात् वह मानव से व्यक्ति-व्यवहार करता है।

अब स्वाभाविक रूप से यह प्रश्न उठता है: क्या मानव से उसके सम्बन्ध के अतिरिक्त परम तत्त्व के अभ्यन्तर में भी सह-व्यक्तित्व को स्वीकार किया जा सकता है? यदि ऐसा हो, तो इसका परिणाम यह होगा कि **व्यक्ति-स्वरूप** परम तत्त्व एक-मात्र **व्यक्ति** नहीं, बल्कि "व्यक्तियों की अनेकता" ही है। लेकिन, उक्त प्रश्न को हल करने के पहले हमें परम तत्त्व की एकता को स्थापित करना पड़ेगा। बाद में इसका 'व्यक्तियों की अनेकता' से सामंजस्य दिखाना होगा। परम तत्त्व को इस अर्थ में विश्व का एकमात्र मूलकारण कहा जाता है कि सृष्ट तत्त्वों की **संपूर्णता** उसके अतिरिक्त और किसी अन्य कारण से उत्पन्न नहीं हुई। यदि परम तत्त्व वास्तव में **संपूर्ण** सृष्टि का स्रोत है, तो मूलकारण का द्वैत अस्वीकार्य प्रतीत होता है। इससे "एकेश्वरवाद" का सही तात्पर्य भी स्पष्ट हो जाता है। शब्द का अर्थ संख्यात्मक और निषेधात्मक, दोनों है, अर्थात् परम तत्त्व एकमात्र ही है, उसके अतिरिक्त और कोई दूसरा नहीं है। फिर, यदि परम तत्त्व को "परमेश्वर" माना जाता है, तो परम तत्त्व की एकता से "एकेश्वरवाद" का पारिभाषिक शब्द उत्पन्न होता है।

ऊपर हमने यह प्रश्न उठाया है कि क्या परम तत्त्व में "व्यक्तियों की अनेकता" स्वीकार की जा सकती है। अभी हमने परम तत्त्व की एकता सिद्ध की है। स्पष्ट रूप से दोनों परस्पर विरोधी नहीं हैं। एक ओर ईश्वरत्व, अर्थात् ईश-स्वभाव की एकता, दूसरी ओर एक ही ईश्वरत्व में सम्मिलित ईश-स्वभाव-सम्पन्न ईश-व्यक्तियों की अनेकता। उसी प्रकार मानव व्यक्तियों की अनेकता भी मानवता की एकता का खण्डन नहीं करती है। लेकिन तुलना में भिन्नता भी है। एक ही मानव स्वभाव में भाग लेने से भिन्न-भिन्न मानव उसकी संपूर्णता को प्राप्त नहीं कर सकते हैं। इस अनिवार्य ससीमता के साथ मानव व्यक्ति किसी-न-किसी रूप से एक दूसरे का विरोध भी करते हैं। यदि हम एकमात्र परम तत्त्व में ईश-व्यक्तियों की अनेकता स्वीकार करें, तो साथ ही उक्त अपूर्णता का निराकरण भी करना होगा। ईश-स्वभाव की

संपूर्णता को प्राप्त करने से ईश-व्यक्ति, अनेक होते हुए भी, सीमित नहीं होंगे। फिर, इस समानता के परिणामस्वरूप भिन्न-भिन्न ईश-व्यक्तियों का परस्पर सम्बन्ध भी सम्पूर्ण होगा। अतः ईश्वरत्व की एकता को इस दोहरे अर्थ में माना जा सकता है, अर्थात् ईश-स्वभाव अविभाज्य है, क्योंकि उसकी सम्पूर्णता प्रत्येक ईश-व्यक्ति में है; फिर, ईश-व्यक्तियों का पारस्परिक सम्बन्ध अखण्डनीय है। उपर्युक्त बातों से यह स्पष्ट है कि "त्रियेक परमेश्वर" का ईसाई धर्म-सिद्धान्त एकेश्वरवाद का खण्डन नहीं करता है।

(ग) अशुभ समस्या का विवेचन

अशुभ-विषयक प्रश्न यहां केवल ईश-दर्शन की दृष्टि से उठाया जाता है, अर्थात् अशुभ का तथ्य शुभ परमेश्वर से कैसे समन्वित किया जा सकता है? प्रस्तुत सन्दर्भ के विपरीत नीति-शास्त्र भौतिक अशुभ को छोड़कर नैतिक अशुभ से ही संबंध रखता है सृष्टिकर्ता के दृष्टिकोण से नहीं, बल्कि मानवकर्ता के दृष्टिकोण से । दूसरी ओर दोनों में अशुभ सम्बन्धी प्रश्न पूर्णतया भिन्न नहीं है। नीति-शास्त्र पूछता है कि कौन-से कार्य क्यों नहीं करने चाहिए? ईश-दर्शन में यह आपत्ति उठायी जाती है कि शुभ सृष्टिकर्ता की उपस्थिति में किसी प्रकार का अशुभ नहीं होना चाहिए था। फिर भी वास्तव में अशुभ एक अखण्डनीय तथ्य है। अतः ईश्वरवादी को इन दो तथ्यों का सामंजस्य स्थापित करना पड़ता है, अर्थात् ईशास्तित्व और अशुभ की यथार्थता। कठिनाई निम्नलिखित दो तरफे रूप से प्रतिपादित की जा सकती है। यदि शुभ परमेश्वर संपूर्ण तत्त्वों का सृष्टिकर्ता है, तो उसे अशुभ का स्रोत भी मानना पड़ेगा; अतः सृष्टिकर्ता में अशुभ विद्यमान है और फलतः परमेश्वर शुभ मात्र नहीं है या परमेश्वर यदि विश्व का विधाता है, तो उसे अपने से अशुभ को दूर करना चाहिए। अशुभ की उपस्थिति इस बात का प्रमाण है कि विधाता विश्व को अशुभ से बचाने में असमर्थ है। संक्षेप में अशुभ का तथ्य परमेश्वर के शिवत्व और उसकी सर्वशक्तिमत्ता का विरोध करता है।

पहले हम तत्वमीमांसा की दृष्टि से उक्त आपत्तियों का सामना करें। सिद्धांत के रूप में अशुभ की धारणा इस प्रकार प्रस्तुत की जा सकती है कि 'अशुभ शुभ का अभाव मात्र है'। परिभाषा का तात्पर्य यह है कि शुभ के विपरीत, अशुभ की, अपनी स्वाधीन यथार्थता नहीं है। दूसरे शब्दों में, अशुभ के अभाव में भी शुभ अस्तित्व रख सकता है, जबकि अशुभ की संभावना शुभ की वास्तविकता पर ही आश्रित है। कारण, अशुभ शुभ का निषेध ही है, जैसे शब्द की रचना से प्रतीत होता है। अतः हमारा दावा यह है कि शुभ-अशुभ सफेद-काला जैसे दो परस्पर विरोधी तत्त्व नहीं हैं, बल्कि एक तत्त्व है, दूसरा उसका अभाव, एक सत्ता है और दूसरा उसकी कमी। सामान्य रूप से प्रस्तुत सिद्धान्त का प्रमाण इसमें है कि किसी

बात के निषेध के पहले उसी बात की भावात्मक धारणा आवश्यक है। कुरूपता की कल्पना सुन्दरता की तुलना में ही हो सकती है; या, किसी भावात्मक तत्त्व की पूर्ववर्ती उपलब्धि में ही उसी बात के अभाव की चर्चा हो सकती है। अतः निष्प्राण तत्त्व की मृत्यु निरर्थक मालूम पड़ती है। जो बात तार्किक दृष्टि से स्पष्ट है, उसका तत्त्वमीमांसा में भी अविचल आधार है। सत् के समान असत् को कोई तत्त्व नहीं माना जा सकता है, बल्कि असत् सत् का अभाव मात्र है। सत् की इसलिए प्राथमिकता है क्योंकि असत् से सत् नहीं, उसके विपरीत सत् के नाश से असत् उत्पन्न होता है। अब सत् के सदृश शुभ को भी प्राथमिकता देनी पड़ती है, कारण शुभ के अभाव में ही अशुभ की स्थिति है। परन्तु ध्यान देने योग्य है कि अभावात्मक होते हुए भी, अशुभ अवास्तबिक नहीं है। अशुभ का अशिवत्व इसमें है कि कोई शुभ नष्ट हो जाता है। उदाहरणार्थ, मृत्यु इसलिए अशुभ है क्योंकि वह जीवन-स्वरूप शुभ का नाश करती है। अधर्म इसलिए पाप है क्योंकि वह धर्म का खण्डन करता है। अतः उपर्युक्त अशुभ संबंधी सिद्धांत का सही तात्पर्य यह है कि असंदिग्ध यथार्थता होने पर भी अशुभ आधारभूत तत्त्व नहीं हो सकता है। कारण, अशुभ शुभ का अभाव मात्र है, उसका विरोधी तत्त्व नहीं।

उक्त धारणा की सहायता से अब अशुभ-समस्या का समाधान किया जा सकता है। यदि अशुभ वास्तव में कोई तत्त्व होता, तो अनिवार्य रूप से यह निष्कर्ष निकलता कि जिस सृष्टिकर्ता से संपूर्ण तत्त्व उत्पन्न हुए, उसमें अशुभ-स्वरूप तत्त्व भी मूलतः विद्यमान है। इसके विपरीत अभाव मात्र होने के कारण अशुभ की उत्पत्ति सृष्टिकर्ता परमेश्वर से नहीं हो सकी : सृष्टिकार्य का परिणाम भावात्मक सत्ता ही है, अभाव की स्थापना नहीं। फिर, भले सृष्टिकर्ता के अतिरिक्त और किसी अन्य मूलकारण की सम्भावना भी नहीं हो सकती है, जिससे अशुभ सृष्ट होता। अभाव का मूलभूत कारण स्वयं परम अभाव, अतः असत् ही होता, अर्थात् कुछ नहीं। लेकिन, यदि सृष्टि का एकमात्र स्रोत शुभ ईश्वर ही है, तो उसमें अशुभ कहां से उत्पन्न हुआ ? वास्तव में अशुभ की संभावना सृष्टि में ही विद्यमान है। कारण, सृष्टि अपूर्ण है। पर ध्यान देने योग्य बात है कि यह अपूर्णता स्वयं ही अशुभ नहीं, केवल अशुभ का आधार है, नहीं तो उक्त बातों का विरोध होता। शुभ सृष्टिकर्ता से अशुभ उत्पन्न होना, यह असम्भव ही था। किन्तु उसका अपूर्ण सृष्टि करना अनिवार्य भी था। सृष्टि का सम्पूर्ण सृष्टिकर्ता से भिन्न, फलतः अपूर्ण होना इसलिए आवश्यक है कि सृष्टि के लिए अनुत्पन्न होना असम्भव है। इसके विपरीत सृष्टिकर्ता की कोई उत्पत्ति नहीं हुई। इसलिए एक ओर स्वयंभू परमेश्वर है, दूसरी ओर परतन्त्र विश्व। निरुपाधिक सृष्टिकर्ता के विपरीत **सोपाधिक** सृष्टि अनिवार्य तत्त्व नहीं है। सृष्टि की इस अनावश्यकता में उसके अभाव की सम्भावना भी निहित है : जो अनिवार्य रूप से अस्तित्व नहीं रखता है, उसका अभाव भी हो

सकता है। लेकिन ऊपर कहा गया है कि अशुभ ही सत्ता का अभाव है। अतः सृष्ट तत्त्वों की अपूर्णता, अशुभ न होते हुए भी, अशुभ की सम्भावना का आधार मालूम पड़ती है। यहां सर्वशक्तिमत्ता के बल पर यह आपत्ति न उठायी जाय कि सृष्टिकर्ता को अपने समान एक ऐसी सम्पूर्ण सृष्टि करनी चाहिए थी जिसमें अशुभ की संभावना तक नहीं होती। कारण, सृष्टिकर्ता के सदृश एक अ-सृष्ट सृष्टि स्पष्टतया स्वतोविरोधी बात है। एक ऐसी सृष्टि जिसकी अपूर्णता में अशुभ की संभावना निहित है सृष्टिकर्ता के शिवत्व भी खण्डन नहीं करती है। कारण, इन दो विकल्पों में से कौन अधिक वांछनीय है : या तो अशुभ और सृष्टि दोनों का अभाव, या अपूर्ण सृष्टि की उपलब्धि ? याद कीजिए : विश्व का अभाव स्वयं विपक्षी की अनुपस्थिति भी होती !

अब तक हमने बिलकुल सामान्य और अमूर्त रूप से अशुभ-समस्या का विवेचन किया है। लेकिन अशुभ दैनिक जीवन की यथार्थता है। मृत्यु का उदाहरण लीजिए, जिसे अशुभ का निचोड़ माना जा सकता है। जीवन का नाश होकर, मृत्यु के विषय में अशुभ की परिभाषा, अर्थात् शुभ का अभाव, प्रयोज्य प्रतीत होती है। ऐसा तो कोई नहीं है जो दुःख के बावजूद जीवन को शुभ नहीं मानता, नहीं तो मृत्यु से भय क्यों ? । दूसरी आकस्मिक विपत्तियों के विपरीत जैसे रोग या दुर्घटना, मृत्यु अनिवार्य दिखाई पड़ती है। जीव स्वभाव से ही नश्वर है, मरणशील। बीज के उदाहरण में मृत्यु आवश्यक भी प्रतीत होती है : उसकी विकृति से ही नया पौधा उत्पन्न हो सकता है। लेकिन स्वाभाविकता के बावजूद मृत्यु कम अशुभ नहीं है। अमरता के परिप्रेक्ष्य में भी उसकी बुराई बनी रहती है, जैसे ऐहिक जीवन के नाश या किसी प्रिय व्यक्ति की अनुपस्थिति से स्पष्ट है। अब मृत्यु की उक्त अनिवार्यता के फलस्वरूप प्रारम्भ में उठायी गयी आपत्तियां और अधिक अखण्डनीय मालूम पड़ती हैं। जिस सृष्टि में अशुभ अनिवार्य है, वह किस प्रकार शुभ परमेश्वर से उत्पन्न हुई ? । जो विधाता अनिवार्य अशुभ को दूर करने में असमर्थ है, उसकी सर्वशक्तिमत्ता कहां ? वास्तव में मृत्यु की अनिवार्यता के फलस्वरूप सर्वशक्तिमत्ता का निषेध नहीं हो सकता है, क्योंकि सर्वशक्तिमत्ता का तात्पर्य इसमें नहीं है कि परमेश्वर को असम्भव बातें करने की क्षमता प्राप्त होती। जिस क्षयशील तत्त्व की सृष्टि हुई, उसका अनश्वर अर्थात् अमर होना स्वतोविरोधी होता। ईश-शिवत्व का निषेध भी नहीं हो सकता है। जीवन का दान मृत्यु की बुराई से बढ़कर शुभ है। फिर, मृत्यु के परिणामस्वरूप जीवन पूर्णतया नष्ट हो जाता है। व्यक्ति-विशेष के अभाव में भी जाति बनी रहती है, या मरणशील जीवन की समाप्ति पर अमरता प्राप्त की जाती है। इस प्रकार अशुभ के बावजूद सृष्टिकर्ता की भलाई और सर्वशक्तिमत्ता दोनों सिद्ध की जाती हैं। उस पर भी सृष्टि में विद्यमान अशुभ दुःखमय ही बना रहता है, इसलिए अशुभ की व्याख्या के अतिरिक्त उससे मुक्ति कहीं अधिक आवश्यक

है। अब अशुभ का कारण न होने पर भी परमेश्वर हमें उससे बचा सकता है, जैसे पुस्तक के पहले दो अध्यायों में स्पष्ट किया गया है।

भौतिक अशुभ के विवेचन के पश्चात् अब हम नैतिक अशुभ की चर्चा करें। भौतिक अशुभ के विपरीत नैतिक अशुभ विश्व के स्वभाव से नहीं, बल्कि मानव संकल्प से ही उत्पन्न होता है। नैतिक अशुभ भौतिक अशुभ से इस दृष्टि से भी भिन्न है कि निर्णय से उत्पन्न होकर वह अनिवार्य नहीं, स्वतन्त्र ही है। फिर, जबकि भौतिक अशुभ विश्व के स्वभाव के अनुकूल प्रतीत होता है, पाप मानव स्वभाव पर अंकित नैतिक नियम के प्रतिकूल ही है; फलतः वह सृष्टिकर्ता का विरोध भी करता है। इन प्रारम्भिक विचारों से नैतिक अशुभ-विषयक समस्या की विशेषता स्पष्ट है। पहली बात यह है कि उसके विषय में उत्पत्ति का प्रश्न नहीं उठता है : परिभाषा के बल पर नैतिक अशुभ मानव से ही उत्पन्न होता है, परमेश्वर से नहीं। दूसरी ओर, भौतिक अशुभ के समान नैतिक अशुभ की सम्भावना भी मानव की सृष्टि में निहित है। जो तत्त्व आवश्यक रूप से अस्तित्व नहीं रखता है, उसका अभाव भी हो सकता है, इस तर्क के आधार पर हमने ऊपर भौतिक अशुभ की संभावना स्पष्ट की। लेकिन जहां स्वतन्त्रता की प्राप्ति है, वहां आवश्यकता और कम, अतः अशुभ की सम्भावना अधिक रहती है। कहने का तात्पर्य यह है कि मानव अनिवार्य रूप से परमेश्वर से सम्बन्ध नहीं रखता है, अपने स्वतन्त्र निर्णय के फलस्वरूप उससे वियुक्त हो सकता है। पर परमेश्वर से संयोग मानव के लिए परम शुभ ही है, वियुक्ति अशुभ। फलतः मानव का शुभ और अशुभ, दोनों उसके स्वतन्त्र संकल्प पर निर्भर रहते हैं। वर्तमान दृष्टिकोण से यह निष्कर्ष महत्त्व का है कि नैतिक अशुभ की सम्भावना मानव स्वतन्त्रता में ही निहित है।

यह संभावना सृष्टिकर्ता के शिवत्व का खण्डन नहीं, उसका मण्डन ही करती है। स्वतन्त्रता के दान से मानव को परमेश्वर से प्रेम रखने की क्षमता मिली : प्रेम स्वतन्त्र संकल्प पर आश्रित है। उसी प्रकार परमेश्वर की सर्वशक्तिमत्ता भी स्वतन्त्र तत्त्व की सृष्टि से स्पष्ट दिखाई पड़ती है : मानव जो अस्तित्व की दृष्टि से परतन्त्र है, वह संकल्प की दृष्टि से स्वतन्त्र ही है। ऊपर कहा गया है कि पाप परमेश्वर का विरोध करता है। क्या पापी का नाश उसके सृष्टिकर्ता का आनन्द भी नष्ट कर सकता है? यह अवश्य ही एक गूढ़ रहस्य है। इस सम्बन्ध में शायद इतना ही कहा जा सकता है कि जिस प्रकार सृष्टि के फलस्वरूप सृष्टिकर्ता की संपूर्णता कम नहीं हो जाती है, उसी प्रकार पापी के अशुभ के बावजूद परमेश्वर का आनन्द परिपूर्ण बना रहता है। फिर भी, अशुभ एक रहस्य है। सृष्टिकर्ता के शिवत्व से सृष्टि में अशिवत्व की सम्भावना उत्पन्न हुई : जीवन से मृत्यु, ईश-प्रेम से ईश-द्वेष। जितना अधिक सृष्टिकर्ता का दान, उतना अधिक उसकी विकृति की संभावना। यहां हमने सन्तोषजनक रूप से यह दिखाया है कि सभी प्रकार का अशुभ परमेश्वर के शिवत्व,

उसकी सर्वशक्तिमत्ता, उसके आनन्द का भी विरोध नहीं करता है। फिर भी, यह एक आश्चर्यजनक बात है कि शुभ सृष्टिकर्ता के शुभ सृष्टिकार्य में अशुभ, स्वतन्त्र रूप से भी, उत्पन्न हो सकता है।

उपसंहार

इस अध्याय के अन्त में हम निम्नलिखित तीन बातों पर ध्यान दें। पहली बात है ईश–विषयक भिन्न-भिन्न सिद्धांतों का अन्तः सम्बन्ध। सृष्टिवाद को प्रस्तुत ईश-दर्शन का मूलाधार माना जा सकता है। यदि विश्व अपने आपसे उत्पन्न नहीं, हुआ, तो विश्वोत्पत्ति का मूल कारण विश्व में **निहित** कोई मूल तत्त्व नहीं हो सकता है, वरन् अनिवार्य रूप से विश्व से पृथक् लोकातीत परम तत्त्व ही होगा। फिर, यदि यह परम तत्त्व वास्तव में सृष्ट तत्त्वों की संपूर्णता का मूल कारण है, तो "शून्य से सृष्टि" का सिद्धान्त भी स्वीकार करना पड़ेगा। कारण, यदि सृष्टि के पूर्व सृष्टिकर्ता के अतिरिक्त किसी और तत्त्व का प्रागभाव होता, तो परमेश्वर संपूर्ण तत्त्वों का कारण नहीं होता। अन्त में यदि कार्य-स्वरूप विश्व एक मानव-केन्द्रित तत्त्व है, और यदि कारण-कार्य की कोई-न-कोई समानता भी स्वीकार्य है; तो सृष्टिकर्ता का व्यक्ति-स्वरूप होना आवश्यक है, क्योंकि व्यक्तिविहीन मूलकारण से किस प्रकार एक ऐसा विश्व उत्पन्न हो सकता जिसका मर्म मानव का व्यक्तित्व ही है?

दूसरी बात यह है: यद्यपि हमारा तात्पर्य बिल्कुल विवादात्मक नहीं है, फिर भी ईसाई ईश-दर्शन के सही प्रतिपादन के फलस्वरूप इससे सम्बन्धित अनेक भ्रांत धारणाओं का खंडन भी किया गया है। उदाहरणार्थ, 'शून्य से सृष्टि' की यह भ्रांत व्याख्या काफी सामान्य है, मानो असत् से सत् उत्पन्न होता, या सृष्टिकर्ता ने असत्-स्वरूप किसी उपादान से सृष्ट तत्त्वों को गढ़ा गया होता। उपर्युक्त संदर्भ में हमने उक्त सिद्धांत का वास्तविक तात्पर्य स्पष्ट किया है, अर्थात् सृष्टि के सम्पूर्ण प्रागभाव की स्थिति में सृष्टिकर्ता ने उसकी संपूर्णता की सृष्टि की। इसके अतिरिक्त हमने यह दिखाया है कि सृष्टिवाद की स्वीकृति विकासवाद को अपवर्जित नहीं करती है। दूसरी भ्रांत धारणा के अनुसार ईसाई दर्शन में वर्णित परमेश्वर लोकातीत मात्र होता, उसे किसी प्रकार से भी अंतर्यामी नहीं कहा जा सकता। सत्य उलटा ही है: लोकातीतत्व में अन्तर्यामिता ही निहित है। लोकातीत होते हुए भी परम तत्त्व सृष्टि की सम्पूर्णता का मूलकारण है, अतः सृष्ट तत्त्वों की, और विशेषकर मानव की, आंतरिकता का आधार भी। फलतः परम तत्त्व, अपनी सृष्टि से दूर न होकर, उसके अभ्यन्तर में ही विद्यमान है। व्यक्ति-स्वरूप परमेश्वर के विषय में यह गलत विचार भी व्यापक है, मानो व्यक्तित्व निरुपाधिक परम तत्त्व से असंगत होता। ऊपर हमने विस्तार से यह समझाया कि व्यक्ति-प्रत्यय में कोई ससीमता का गुणार्थ निहित नहीं है, कोई मानवतारोप भी नहीं है।

तीसरी बात निम्नलिखित प्रश्न के रूप में प्रस्तुत की जा सकती है किस हद तक उपर्युक्त ईश-दर्शन को **ईसाई** दर्शन की विशेषता माना जा सकता है ? क्या इस अध्याय में प्रतिपादित ईश-विषयक धारणा ईसाई दर्शन की अपनी धारणा है ? उत्तर यह है कि हमारा ईश-दर्शन इस अर्थ में 'ईसाई' कहा जा सकता है कि उसका ईसाई धर्मसिद्धांत से सामंजस्य स्थापित किया जा सकता है। तिस पर भी हमने बाइबिल शब्द प्रमाण का प्रयोग कभी नहीं किया है; इसके विपरीत प्रयुक्त प्रणाली दार्शनिक मात्र थी। ईश-दर्शन और धर्मसिद्धांत के सामंजस्य का एक उदाहरण यह है एक ओर दार्शनिक "एकेश्वरवाद" या व्यक्तिस्वरूप परम तत्त्व का अद्वैत, दूसरी ओर "त्रियेक परमेश्वर" का धर्मसिद्धांत : **ईश्वरत्व** की एकता और **ईश-व्यक्तियों** की अनेकता का प्रभेद उक्त दोनों सिद्धांतों का विरोध निकाल देता है। किन्तु हमारे ईश-दर्शन को इस अर्थ में "ईसाई" नहीं माना जाय कि उसमें प्रस्तुत परम तत्त्व की धारणा अन्य अर्थात् गैर-ईसाई दर्शनों में पूर्णतया अनुपलब्ध है। वास्तव में भिन्न-भिन्न धार्मिक परम्पराओं में प्रस्तुत ईश-विषयक दर्शन अनेक दृष्टिकोणों से परस्पर मेल खाते हैं।

अध्याय 8

नीति-शास्त्र

भूमिका

प्रस्तुत अध्याय का ढांचा दोहरे प्रभेद पर आधारित है : पहला, सामान्य और विशेष नीतिशास्त्र का; दूसरा, दार्शनिक और ईसाई नीतिशास्त्र का। दार्शनिक नीतिशास्त्र में, सामान्य और विशेष दोनों नीतिशास्त्र सम्मिलित हैं। सामान्य नीतिशास्त्र का तात्पर्य स्पष्ट ही है : उसमें नैतिकता का सारतत्व निर्धारित किया जाता है, उसके अन्तिम आधार का अनुसंधान किया जाता है तथा उसके मौलिक सिद्धांत प्रतिपादित किये जाते हैं। इसके विपरीत, विशेष नीतिशास्त्र उन सामान्य सिद्धांतों का भिन्न-भिन्न समस्याओं के विषय में प्रयोग करता है। कारण, नीतिशास्त्र एक व्यावहारिक विज्ञान है किन्तु विशेष नीतिशास्त्र को विशिष्ट परिस्थितियों में नैतिक नियमों के प्रयोग से अभिन्न न समझा जाये। वास्तव में उस अन्तिम प्रश्न की सामान्य नीतिशास्त्र के प्रसंग में चर्चा होगी।

सामान्य नीतिशास्त्र के विषय इसप्रकार हैं। जिस नीतिशास्त्र का हम प्रतिपादन करते हैं, वह मूल्याश्रित नीतिशास्त्र है; इसलिए सबसे पहले हमें कर्त्तव्य स्वरूप नैतिक मूल्यों का अस्तित्व स्थापित करना है। उसके बाद यह प्रश्न उठाया जाता है कि नैतिक मूल्य का सारतत्व किसमें है? इस प्रश्न का उत्तर काफी जटिल है, लेकिन संक्षेप में कहा जा सकता है कि नैतिकता किसी अनुरूपता में है, अर्थात् स्थापित मूल्यों में मानव स्वभाव की अनुरूपता। विशेष रूप से, आध्यात्मिक स्वभाव के अनुसार मानव "सद्बुद्धि" विभिन्न मूल्यों के विषय में निरपेक्ष दृष्टि से निर्णय करती है। अतः तत्त्वमीमांसा की दृष्टि से भी यह पूछना पड़ता है कि किस-मूल्य-स्वरूप परम तत्त्व पर भिन्न-भिन्न नैतिक मूल्य निर्भर हैं? "स्वभावगत धर्म"[1] की स्कोलावाद में प्रचलित व्याख्या भी प्रस्तुत की जाएगी। अन्त में यह समझाया जाएगा कि क्यों व्यष्टि को सब परिस्थितियों में अपने अन्तर्विवेक या अन्तःकरण के आदेश का पालन करना है।

---

1. Natural Law (नैतिक अर्थ में, भौतिक या वैज्ञानिक अर्थ में नहीं)।

विशेष नीतिशास्त्र का क्षेत्र व्यावहारिक यथार्थता से कम विस्तृत नहीं है। फलतः, हमें समस्याओं की अनेकता में से एक दो ऐसे प्रश्नों का चयन करना होगा, जो ईसाई नीतिशास्त्र के दृष्टिकोण से समकालीन परिस्थितियों में अधिक महत्त्वपूर्ण प्रतीत होते हैं। वे निम्नलिखित होंगे : पहला, समाज और व्यष्टि की समस्या; दूसरा, परिवार-सम्बन्धी प्रश्न; तीसरा, धन-सम्पत्ति और श्रम का विषय। इन विशेष प्रश्नों के निरूपण से यह दिखाई पड़ेगा कि प्रस्तुत नीतिशास्त्र हमारे मानव-दर्शन से घनिष्ठ सम्बन्ध रखता है। दोनों में व्यक्ति की श्रेष्ठता पर बल दिया जाता है, और दोनों में सामाजिक पहलू को व्यक्ति का एक अनिवार्य अवयव माना जाता है। मानव के संश्लिष्ट स्वभाव के आधार पर आध्यात्मिक मूल्यों के अतिरिक्त भौतिक मूल्यों को भी महत्त्व दिया जाता है।

दूसरा प्रभेद दार्शनिक और ईसाई नीतिशास्त्र का है। लेकिन उसकी सम्भावना के विषय में सन्देह हो सकता है। जो नीतिशास्त्र वास्तव में बौद्धिक है, उसका सामान्य भी होना अनिवार्य है। अतः तथाकथित ईसाई नीतिशास्त्र को या तो दार्शनिक होकर विशेष रूप से "ईसाई" नहीं कहा जा सकता है, या ईसाई धर्म की विशेषता मात्र होकर वह दार्शनिक नहीं होगा। उस उभय संकट से बचने के लिए हमें याद रखना होगा कि धर्म प्रायः दर्शन पर अपना प्रभाव डालता है। और, सामान्य रूप से यह भी कहा जा सकता है कि प्रत्येक संस्कृति धर्म विशेष से प्रभावित है। फिर, संस्कृति का एक मुख्य अंश उसमें प्रचलित नीतिशास्त्र ही है, क्योंकि नीति का सार मानव की मूल्यों के प्रति अभिवृत्ति है। इस दृष्टि से हमें ऐसा लगता है कि "ईसाई नीतिशास्त्र" दर्शन-विरोधी धारणा नहीं है। अब यह एक सर्वज्ञात बात है कि ईसाई नीतिशास्त्र की विशेषता है उसका प्रेम पर बल देना। अतः इस अध्याय के तीसरे भाग में कुछ इस प्रकार के प्रश्नों की चर्चा होगी : भिन्न-भिन्न सद्गुणों में प्रेम की प्रधानता; पड़ौसी-प्रेम का ईश-प्रेम से सम्वन्ध; बैरी से प्रेम रखने का आदेश; अन्त में प्रेम कैसे किसी "आदेश" का विषय हो सकता है।

I सामान्य नीतिशास्त्र

(क) कर्त्तव्य-स्वरूप नैतिक मूल्यों की यथार्थता[2]

इस प्रारंभिक प्रकरण में निम्नलिखित विषयों की चर्चा होगी : पहले "मूल्य" की सामान्य परिभाषा प्रस्तुत की जाएगी, फिर विशेष रूप से नैतिक मूल्य का वर्णन किया जाएगा। इसके बाद यह दिखाया जाएगा कि कम-से-कम चेतना की दृष्टि से नैतिक मूल्य अन्य मूल्यों से भिन्न और श्रेष्ठ प्रतीत होते हैं। अन्त में, नैतिक मूल्यों

2– इस पहले भाग का मूलस्रोत है : J. De Finance, **Ethica Generalis**, Rome, 1959.

की विशेषता, अर्थात् उनके आबन्धक स्वभाव का उल्लेख किया जाएगा। प्रारंभिक रूप में हम इस सामान्य सिद्धांत को स्वीकार कर सकते हैं, अर्थात् हमारा संकल्प शुभ से ही प्रेरित है। निषेधात्मक रूप से, जो अशुभ प्रतीत होता है, उसकी अभिलाषा कोई नहीं कर सकता है। दूसरे शब्दों में : केवल शुभ ही संकल्प का उद्देश्य हो सकता है। लेकिन शुभ तभी संकल्प का लक्ष्य हो जाएगा, जब विषयी ने उसे विषयी के रूप में पहचाना होगा। विषय की यह विशेषता को ही 'मूल्य' कहा जायेगा, जिसके बल पर वह विषयी के लिए उद्देश्य हो जाता है। अब प्रश्न पूछा जा सकता है : अमुक विषय क्यों मानव के लिए एक मूल्य के रूप में प्रतीत होता है ? प्रश्न का उत्तर सामान्य रूप से इस प्रकार होगा कि विषय विषयी से सम्बन्ध रखता है। विशेषतः जिस आत्मसिद्धि को मानव प्राप्त करने की चेष्टा करता है, उसकी प्राप्ति के लिए 'विषय' उसे सहायक मालूम पड़ता है। मूल्य का सार आत्मसिद्धि से इसी सम्बन्ध में है। उससे मूल्य की यह मौलिक विशेषता भी निष्कर्ष स्वरूप निकलती है कि मूल्य एक प्राप्त करने योग्य बात है। सिद्धि की दृष्टि से मूल्य "साध्य" प्रतीत होता है। अब, किसी को ऐसा लग सकता है कि मूल्यों का द्वंद्वात्मक स्वभाव उक्त बात का विरोध करता है। शुभ के अतिरिक्त अशुभ भी है, सत्य के विपरीत अ-सत्य, इत्यादि। इस तरह प्रत्येक अस्ति-मूल्य के साथ-साथ एक नास्ति-मूल्य भी मिलता है। लेकिन, अशुभ होने से कोई नास्ति-मूल्य प्राप्त करने योग्य नहीं हो सकता है। यदि हम केवल अस्ति-मूल्यों को सच्चे नाम के मूल्य मानें, तो आपत्ति का खडन आसानी से किया जा सकता है।

मूल्यों की विविधता में नैतिक मूल्य एक विशेष-वर्ग मात्र ही नहीं है, उनमें से उत्तम भी वही हैं। भिन्न-भिन्न मूल्य निश्चित तारतम्य में व्यवस्थित किए जा सकते हैं। इस तारतम्य का तात्त्विक आधार सत्ता की दृष्टि से मूल्यों का स्तर है। निम्नतम श्रेणी के संवेदन-मूल्य हैं, जैसे सुख-दुःख और दैहिक या जैविक मूल्य, जैसे स्वास्थ्य व रोग। इनसे उच्चतर वर्ग में ऐसे मूल्य आते हैं, जो वास्तव में मानवीय होते हुए भी नैतिक मूल्य नहीं हैं, अर्थात् आर्थिक, प्रज्ञात्मक, सौन्दर्यात्मक, सामाजिक और चारित्रिक मूल्य। उत्तम मूल्य नैतिक मूल्य ही हैं। यह सच है कि वे व्यावहारिक अर्थात् क्रिया के क्षेत्र में ही सम्मिलित हैं, लेकिन स्वतन्त्र क्रिया से उत्पन्न होकर, वे मानव संकल्प से सम्बन्ध रखते हैं। अतः नैतिक मूल्य व्यक्तित्व के मर्म से ही सम्बन्धित हैं। जबकि उपर्युक्त मूल्य मानो मानव के बाहर रहते हैं, सद्गुण और पाप व्यक्ति की आंतरिक विशेषताएं हैं। आत्मतत्त्व से इस घनिष्ठ संबंध के फलस्वरूप उत्तरोक्त मूल्यों को पूर्वोक्त मूल्यों से बढ़कर माना जाता है। नैतिकता के बल पर उसकी क्रियाओं मात्र का नहीं, स्वयं मानव का मूल्यांकन किया जाता है। इसके अनुसार मानव को ही भला या बुरा माना जाता है। इतना ही नहीं, स्वतन्त्र क्रिया का फल होने से, सद्गुण या पाप द्वारा मानव अपने आपको ही भला या बुरा बनाता

है। उक्त बातों से अन्य मूल्यों की अपेक्षा नैतिक मूल्यों की श्रेष्ठता दिखाई पड़ती है। धार्मिक मूल्यों की स्थिति विशिष्टता लिए है, क्योंकि नैतिक मूल्यों के विपरीत वे परम मूल्य-स्वरूप परमेश्वर से अव्यवस्थित संबंध रखते हैं। धार्मिक मूल्य नैतिक मूल्यों से अभिन्न न होते हुए भी, उनसे पूर्णतया भिन्न भी नहीं हैं। जबकि नैतिकता के अभाव में धर्म नहीं बना रह सकता है, धर्म के अभाव में नैतिकता अपूर्ण ही है। धार्मिक मूल्यों का उपयुक्त संदर्भ धर्म-संबंधी नौवां अध्याय है।

अगले प्रकरण (ख) में शुद्ध दार्शनिक प्रणाली से नैतिक मूल्यों का सारतत्व निर्धारित किया जाएगा और तत्त्वमीमांसात्मक दृष्टि से उनका आधार स्थापित किया जाएगा। प्रस्तुत अनुच्छेद में नैतिक मूल्यों की पूर्वोक्त विशिष्टता मात्र चेतना के बल पर पुष्ट की जाएगी। जब हम किसी के सेवा-भाव की प्रशंसा करते हैं, तो हमारे अनुमोदन का विषय उस आदमी की निपुणता नहीं है, जैसे क़लाकार की। फिर, जब हम किसी के स्वार्थ की निन्दा करते हैं, तो हमारे अनुमोदन का विषय व्यक्ति की अदक्षता नहीं है, जैसे अकुशल कारीगर की। नैतिक भलाई या बुराई अन्य गुणों से भिन्न मालूम पड़ती है। न्याय का भाव सभी में जन्मसिद्ध है, अन्याय के प्रति हम सब रोष का अनुभव करते हैं। सौभाग्य की बात को हम सद्गुण का पुरस्कार समझते हैं, दुर्घटना पाप का दण्ड। अपराध करने के फलस्वरूप हम दोषी होकर पश्चात्ताप करते हैं। उपर्युक्त सभी मनोभाव इस तथ्य की ओर संकेत करते हैं कि मूल्यों की विविधता में नैतिक मूल्यों का विशेष स्थान है। उन्हें अन्य मूल्यों से अभिन्न नहीं माना जा सकता है, हां मूल्यों के तारतम्य में वे प्रायः सर्वोत्तम प्रतीत होते हैं।

परन्तु नैतिक मूल्यों की मुख्य विशेषता उनमें निहित आबन्ध का भाव है। अतः नैतिकता का सार समझने के लिए उस बाध्यकर स्वभाव का परिशुद्ध विश्लेषण करना महत्त्व की बात है। पहले, नैतिक मूल्य अन्य मनःशक्तियों की अपेक्षा संकल्प से ही अपनी मांग करते हैं। लेकिन नैतिक आबन्ध की आवश्यकता ऐसी नहीं है, जो कि संकल्प की स्वतन्त्रता नष्ट करती हो। यदि मानव नैतिक आदेश का पालन करता है, तो अपने स्वतन्त्र निर्णय के फलस्वरूप। फिर भी, नैतिक आबन्ध हमारे संकल्प का मानदण्ड बना रहता है: उसके आदेश की स्वीकृति या अस्वीकृति के अनुसार संकल्प का निर्णय उचित या अनुचित माना जाता है। संकल्प पर उस अधिकार के कारण नैतिक आबन्ध अपना प्रभाव स्वयं व्यक्ति पर डालता है, क्योंकि जिस शक्ति से आत्मनिर्णय उत्पन्न होता है, वह संकल्प ही है, और व्यक्ति की स्वाधीनता संकल्प पर ही आधारित है। उक्त आवश्यकता विषयनिष्ठ भी है: विषयी नैतिक आदेश या निषेध का पालन करे या न करे, इस पर भी आबन्ध बना रहता है, किसी भी परिस्थिति में 'कर्त्तव्य' मालूम पड़ जाता है। इस दृष्टि से नैतिक आबन्ध किसी अर्थ में "निरपेक्ष" कहा जा सकता है, क्योंकि उसमें "सामान्यता" निहित है। अब,

चूंकि आध्यात्मिक प्रवृत्ति के बल पर मानव निरपेक्ष तत्त्व की ओर अभिमुख है, अतः निरपेक्ष आबंध का पालन करने से वह अपने व्यष्टित्व की विशिष्टता से बचकर अपने व्यक्तित्व की सामान्यता पूरी करता है। इस दृष्टि से भी नैतिकता आत्मसिद्धि से संबंध रखती है।

किन्तु आत्मसिद्धि मात्र वैकल्पिक बात नहीं है। अतः उससे संबंधित नैतिक आबन्ध किसी शर्त पर निर्भर नहीं है। उसका आदेश इस प्रकार नहीं है कि 'यदि अमुक मूल्य को प्राप्त करना चाहिए, तो इस नियम का पालन करना है'। दूसरे शब्दों में, नैतिक आबन्ध "सापेक्ष नियोग" मात्र नहीं है, वरन् कांत की शब्दावली में वह एक "निरपेक्ष नियोग" है। उसका आदेश बाध्यकर सुनाई पड़ता है : 'शुभ करना पड़ता है, अशुभ करना निषिद्ध है'। संक्षेप में, नैतिक मूल्य शाब्दिक अर्थ में : "कर्त्तव्य-स्वरूप प्रतीत होते हैं"। अब उल्लेखनीय बात है कि नैतिक आबन्ध की उक्त आवश्यकता मात्र इससे उत्पन्न नहीं हो सकती है कि आत्मसिद्धि या किसी भी नैतिक मूल्य की प्राप्ति मानव के लिए स्वाभाविक है। जो स्वभाव के अनुसार है, वह भले ही उपयुक्त हो, उसे आवश्यक नहीं कहा जा सकता है। आत्मसिद्धि या कोई भी नैतिक मूल्य न केवल एक ऐसी बात है, जिसे प्राप्त करना चाहिए, वरन् एक ऐसी बात जिसे प्राप्त करना पड़ता है। दूसरे शब्दों में, नैतिक आबन्ध का आधार मात्र 'करणीय' नहीं हो सकता है, नैतिक मूल्य मे आवश्यकता भी निहित है। यह आवश्यकता अन्ततः भिन्न-भिन्न मूल्यों के परम या निरपेक्ष तत्त्व से सम्बन्ध पर आश्रित है, इस बात को अगले प्रकरण में समझाया जाएगा। इस विश्लेषण के अंत में यह पूछा जा सकता है : नैतिक आबंध हमारे लिए बाध्यकर क्यों लगता है ? इसका 'बन्धनकारी' स्वरूप इससे उत्पन्न होता है कि नैतिक मूल्य आध्यात्मिक होकर प्रायः मानव की भौतिकता का विरोध करते हैं, इन्द्रियों को मानो 'बांधते' हैं। लेकिन इससे यह निष्कर्ष न निकाला जाये कि आध्यात्मिक मूल्यों के अतिरिक्त कोई भौतिक मूल्य नहीं हैं। हां, मूल्यों के तारतम्य में निम्नतम होने से, उत्तरोक्त मूल्य पूर्वोक्त मूल्यों के अधीन हैं।

(ख) नैतिक मूल्यों का मानदण्ड और उनका मूलभूत आधार

नैतिक व्यवहार नैतिक मूल्यों से सम्बन्ध रखता है; कारण, नैतिक मूल्य नैतिक क्रिया के लिए साध्य प्रतीत होते हैं। फलतः नैतिक क्रिया का मानदण्ड निर्धारित करने के फलस्वरूप किसी हद तक नैतिक मूल्य के स्वभाव का प्रश्न भी सुलझाया जाएगा। दूसरे शब्दों में, नैतिक मूल्य का स्वभाव नैतिक क्रिया की अपने मानदण्ड से अनुरूपता पर आधारित है। अतः प्रश्न उठता है : नैतिक क्रिया का मानदंड क्या है ? पहले संक्षेप में तद्विषयक सिद्धांत प्रतिपादित किया जाएगा, बाद में कुछ विस्तार से उसकी व्याख्या दी जाएगी। हमारी क्रिया तभी पूर्णतया मानवीय कही जा सकती है, जब वह संकल्प से प्रेरित हो। सहजप्रावृत्तिक क्रिया, भौतिक मात्र

होने से, वास्तव में मानवीय ही है, आध्यात्मिक क्रिया नहीं है। मानव-दर्शन के संदर्भ में यह सिद्ध किया गया है कि काम करते समय बुद्धि संकल्प को निर्दिष्ट करती है। कुछ करने के पहले कर्ता को यह जानना आवश्यक है कि उसे क्या करना चाहिए। फलतः **मानव-क्रिया** का मानदंड बुद्धि का विवेक है। परन्तु **नैतिक-क्रिया** के लिए मात्र बुद्धि पर्याप्त मानदंड नहीं हो सकती है। आखिर अपराध भी बुद्धि-निर्देश के अनुसार किया जाता है। अतः बुद्धि के अतिरिक्त नैतिक मानदंड के लिए किसी और लक्षण की आवश्यकता है। ईसाई दर्शन में प्रचलित नीतिशास्त्र के अनुसार "सद्बुद्धि[3]" ही नैतिक क्रिया का उपयुक्त मानदंड है, अर्थात् अपने "स्वधर्म" के अनुकूल निर्णय करने वाली बुद्धि।

बुद्धि के "स्वधर्म" से तात्पर्य क्या है, यह भी मानव-दर्शन के आधार पर स्पष्ट किया जा सकता है। मानव स्वभाव की मूलभूत प्रवृत्ति संपूर्ण सत्ता या निरपेक्ष तत्त्व की ओर अभिमुख है। अब बुद्धि मानव स्वभाव की ज्ञानशक्ति होकर तभी सद्-बुद्धि होगी, जब वह उस प्रवृत्ति के अनुसार तत्त्वों के विषय में निर्णय करती है। कारण, किसी शक्ति का "स्वधर्म" उस शक्ति की अपने विषयी के स्वभाव से अनुकूलता है। अतः उसके "स्वधर्म" के बल पर मानव ज्ञान के दृष्टिकोण को निरपेक्ष होना चाहिए। फिर, नैतिकता के सन्दर्भ में जिस बुद्धि की चर्चा है, वह व्यावहारिक बुद्धि है, अर्थात् मूल्य या साध्य के विषय में निर्णय करने वाली बुद्धि। क्या अमुक मूल्य विषयी के स्वभाव के अनुकूल है या नहीं? क्या प्रस्तुत मूल्य विषयी की प्रवृत्ति के अनुरूप है, अतः उसके लक्ष्य की प्राप्ति का सहायक है, या नहीं? इन प्रश्नों का उत्तर देने के लिए, बुद्धि मात्र भौतिक दृष्टि अपनाकर मूल्य की उपयुक्तता देख सकती है। उदाहरणार्थ, क्या अमुक विषय भौतिक विषयी के अनुकूल है? स्वास्थ्य-कर है या नहीं? स्पष्टतया, आध्यात्मिक दृष्टि को छोड़ने से, उस उदाहरण में बुद्धि अपने स्वधर्म के अनुसार निर्णय नहीं करती है। इसके विपरीत बुद्धि आध्यात्मिक विषयी से मूल्य की अनुरूपता को देख सकती है; अर्थात् क्या प्रस्तुत विषय उसकी मूलभूत प्रवृत्ति के अनुकूल है? क्या विषय उस विषयी के अनुकूल है, जो निरपेक्ष तत्त्व की ओर अभिमुख है? इस उदाहरण मे, बुद्धि मानव के आध्यात्मिक स्वभाव के अनुसार निर्णय करने से, अपने स्वधर्म के अनुरूप अर्थात् निरपेक्ष दृष्टि से निर्णय करती है। एक शब्द में, वह "सद्बुद्धि" के रूप में मूल्यों की उपयुक्तता के विषय में निर्णय करती है। वही सद्बुद्धि नैतिक नूल्यों का मानदण्ड है। संक्षेप में, 'नैतिक मूल्य भौतिक स्वभाव के विषयी से नहीं, आध्यात्मिक विषयी से ही सम्बन्ध रखते हैं। अब आध्यात्मिक विषयी अपनी मूलभूत प्रवृत्ति के बल पर निरपेक्ष तत्त्व की ओर अभिमुख है। अतः केवल उसी दृष्टि से मूल्यों की उपयुक्तता के विषय में निर्णय करने वाली बुद्धि नैतिक मूल्यों का मानदण्ड हो सकती है। इसी को "सद्बुद्धि" कहा जाता है।

---

3. Right Reason.

ऐसा प्रतीत हो सकता है कि सद्बुद्धि का उपर्युक्त सिद्धांत नैतिकता के प्रसंग में मात्र एक विषयिनिष्ठ मानदण्ड को प्रस्तुत करता है : विषय स्वयं ही नैतिक मूल्यों के बारे में निर्णय करता है। अब अनुच्छेद् में सिद्धांत का पूरक पहलू प्रस्तुत किया जाएगा, जिससे उसमें निहित विषयनिष्ठ अवयव भी दिखाई पड़ेगा। उचित रीति से नैतिक मूल्यों के विषय में निर्णय करने वाली बुद्धि सद्बुद्धि है, अर्थात् स्वधर्म अनुकूल बुद्धि। लेकिन बुद्धि का स्वधर्म बुद्धि-निर्णय के फलस्वरूप निर्धारित नहीं किया जाता है, वस्तुतः वह मानव-स्वभाव पर ही आधारित है। अब मानव-स्वभाव विषयनिष्ठ यथार्थता होने से मात्र बुद्धि की रचना नहीं है। अतः इस दृष्टि से भी सद्बुद्धि को एक विषयनिष्ठ मानदंड नहीं माना जा सकता है। इसके अतिरिक्त हमसे स्वीकृत यथार्थवादी ज्ञान-मीमांसा के अनुसार बुद्धि अपने विषयों का निर्माण नहीं करती है, इसके विपरीत उसे तत्त्वों की यथार्थता को स्वीकार करना है। अब, यथार्थता में विषयों के अलावा स्वयं विषयी सम्मिलित है, और दोनों का पारस्परिक सम्बन्ध भी। अतः मूल्य-स्वरूप तत्त्वों की मानव से अनुरूपता के विषय में विचार करने वाली बुद्धि उसे यथार्थ सम्बन्ध के रूप में स्वीकार करती है। फलतः बुद्धि विषयनिष्ठ अनुरूपता से निर्धारित की जाती है, न कि अनुरूपता बुद्धि से। नैतिक मूल्यों का आत्मसिद्धि से संबन्ध भी विषयनिष्ठ पक्ष के लिए एक प्रमाण दे सकता है। यदि अमुक तत्त्व इसलिए एक नैतिक मूल्य है, क्योंकि वह व्यक्तित्व की संपूर्णता की प्राप्ति के लिए सहायक है, अर्थात् व्यक्ति की मूलभूत प्रवृत्ति के अनुरूप है, तो स्पष्टतया वह तत्त्व मात्र बुद्धि-निर्णय के फलस्वरूप नैतिक मूल्य का स्तर नहीं प्राप्त करता है। आध्यात्मिक प्रवृत्ति से संपन्न व्यक्ति बुद्धि का आधार है, न कि बुद्धि व्यक्ति का।

पूर्ववर्ती दो अनुच्छेदों के परिणामस्वरूप एक विरोधाभास उत्पन्न होता है। एक ओर सद्बुद्धि को मूल्यों का मानदण्ड कहा गया है; दूसरी ओर मानव स्वभाव और उससे मूल्य की अनुरूपता भी नैतिकता को निर्धारित करते हैं। अतः नैतिकता का मानदण्ड विषयनिष्ठ और विषयीनिष्ठ दोनों प्रतीत होता है। इनमें से प्रत्येक को भिन्न-भिन्न दृष्टि से प्राथमिकता दी जा सकती है। निःसंदेह तात्त्विक दृष्टि से मानव मूल्य का सम्बन्ध बुद्धि का नैतिकता-विषयक निर्णय निर्धारिन करता है। लेकिन जब तक मूल्य की मानव से अनुरूपता आवश्यक नहीं मालूम पड़े, तब तक नैतिकता की चर्चा नहीं हो सकती है। यहां सद्बुद्धि की दृष्टि से ही दोनों का संबंध "निरपेक्ष नियोग" के रूप में प्रतीत होता है। कारण, सद्बुद्धि का निर्णय मानव की मूलभूत प्रवृत्ति के अनुकूल है, जो स्वयं निरपेक्ष तत्त्व की ओर अभिमुख है। उस निरपेक्ष दृष्टि से ही, अर्थात् सद्बुद्धि के निर्णय के फलस्वरूप, मूल्य की प्राप्ति आवश्यक दिखाई पड़ेगी। अतः इसी अर्थ में सद्बुद्धि को नैतिकता का मुख्य मानदण्ड कहा जाता है।

नैतिक मूल्यों का मानदंड स्थापित करने के बाद यह प्रश्न पूछा जा सकता है कि उसकी दृष्टि से नैतिक आदर्श क्या है ? सद्बुद्धि-सिद्धांत के आधार पर हम उसे मात्र बौद्धिक आदर्श न समझें; वास्तव में यह मानव व्यक्ति की संपूर्णता से सम्बन्ध रखता है। कारण, मानव-स्वभाव की मूलभूत प्रवृत्ति सद्बुद्धि के नैतिक निर्णय को निर्धारित करती है। अतः उसी के विश्लेषण से नैतिक विकास का दिग्दर्शन और अन्तिम लक्ष्य प्रकट हो जाते है। बिलकुल सामान्य रूप से नैतिक आदर्श का वर्णन इस प्रकार है : मानव अपनी ज्ञान-शक्ति और संकल्प द्वारा सत्ता की संपूर्णता को प्राप्त करने की चेष्टा करता है; इस बात को मानव-दर्शन के सन्दर्भ में समझाया गया है, लेकिन प्रत्यक्ष तत्त्वों में से मानव को उसके सहव्यक्ति ही उत्तम "विषय" मालूम पड़ते हैं। कारण, वे भी उसके समान परम तत्त्व की ओर अभिमुख हैं। फलतः मानव मानो अपने सह-व्यक्तियों को प्राप्त करने की चेष्टा करता है, इस अर्थ में नहीं कि वह उन्हें अपने अधिकार में लेने का प्रयत्न करता है, बल्कि उनसे प्रेममय एकता में संयुक्त होने की अभिलाषा करता है। कारण, प्रेम ही उनके व्यक्तित्व का आदर कर दूसरे व्यक्तियों की "प्राप्ति" कर सकता है। अतः इस दृष्टि से मानव समाज की प्रेमपूर्ण एकता आदर्श-स्वरूप मूल्य दिखाई पड़ती है। फिर भी, उसे इसलिए परम मूल्य नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि मानव अपने आप के परे किसी और परम तत्त्व की ओर अभिमुख है। उसी परम तत्त्व की "प्राप्ति" नैतिक प्रयास का अन्तिम उद्देश्य मालूम पड़ती है। मानव समाज की प्रेम-पूर्ण एकता के परिप्रेक्ष्य में अंतिम लक्ष्य भी मानव की परम तत्त्व से प्रेमपूर्ण एकता ही प्रतीत होता है। फलतः, जिस पड़ौसी-प्रेम पर मानव-समाज की एकता आश्रित है, वह अन्तिम लक्ष्य स्वरूप ईश-प्रेम से घनिष्ठ सम्बन्ध रखता है। यह बात अन्य सन्दर्भ में, इस अध्याय के तीसरे प्रकरण में कुछ और विस्तार से समझाई जाएगी। सामान्य नीतिशास्त्र के प्रसंग में इन दो बातों का मूलभूत आधार स्थापित करना उचित था, अर्थात् ईसाई नीतिशास्त्र का प्रेम का आदेश और ईसाई धर्म की दृष्टि से मानव जाति की सिद्धि।

किसी के मन में यह सन्देह उत्पन्न हो सकता है : नैतिक प्रयास का उपर्युक्त आदर्श-स्वरूप परम मूल्य एक आदर्श मात्र तो नहीं है ? कारण, इस सिद्धान्त पर बल दिया गया है कि सद्बुद्धि नैतिक मूल्यों का मानदंड है। अतः ऐसा प्रतीत हो सकता है कि नैतिक दृष्टि का चरम लक्ष्य मानव बुद्धि का प्रक्षेपण मात्र है; परम मूल्य कल्पना ही है, तत्त्व नहीं। यदि यह आपत्ति सत्य होती, तो यहां प्रस्तुत नीति-शास्त्र मात्र मूल्य-प्रत्ययवाद होता। आपत्ति का खंडन तब होगा, यदि उपर्युक्त परम **मूल्य** परम **तत्त्व** से अभिन्न दिखाया जा सकता है। अब, पूर्ववर्ती अध्याय में परमेश्वर स्वरूप परम तत्त्व की यथार्थता सिद्ध की गई है। दूसरी ओर, मूल्यों का तारतम्य भिन्न-भिन्न मूल्यों की अपनी-अपनी सत्ता पर निर्भर है। कारण, सत्ता ही संपूर्ण यथार्थता का आधारभूत पक्ष है, जिसके अभाव में मूल्य अस्तित्व भी नहीं रखता।

अतः परम-तत्त्व को परम-मूल्य भी होना अनिवार्य है। कारण, अन्य तत्त्वों की अपेक्षा परम तत्त्व को ही सत्ता की संपूर्णता प्राप्त है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि निरपेक्ष दृष्टि से जिस आदर्श मूल्य की चिन्तन सद्बुद्धि करती है, वह निराधार कल्पना मात्र नही है। वास्तव में नैतिक दृष्टि का अन्तिम लक्ष्य ईश-स्वरूप परम तत्त्व से अभिन्न है। अतः परम तत्त्व से एकता का आदर्श सद्बुद्धि से कल्पित आकाश-कुसुम नहीं, यथार्थ उद्देश्य ही है।

मानव का नैतिक आदर्श ईश-स्वरूप परम मूल्य से सम्बन्ध रखता है। नीति-शास्त्र का यह सिद्धांत मानव-दर्शन की उस विशेषता से मेल खाता है, जिसके अनुसार मानव को परमेश्वर का प्रतिरूप माना जाता है। एक ओर मानव परमेश्वर का प्रति-रूप, दूसरी ओर परमेश्वर मानव का आदर्श : आदर्श प्रतिरूप की संपूर्णता ही है। नैतिकता की दृष्टि से मानव-दर्शन की उस धारणा का विस्तार इस प्रकार किया जा सकता है : जबकि अपनी मूलभूत प्रवृत्ति के बल पर मानव को परम मूल्य साध्य-स्वरूप प्रतीत होता है, परमेश्वर परम तत्त्व होने से उस परम मूल्य की संपूर्ण सिद्धि ही है। एक ओर, नैतिक सिद्धि मानव के आत्मनिर्णय से सम्बन्ध रखती है; कारण, स्वतन्त्रता के अभाव में नैतिकता की चर्चा नहीं हो सकती है। दूसरी ओर, परमेश्वर स्वयंभू होकर आत्मनिर्णय का आदर्श ही है। यह भी कहा गया है कि नैतिक सिद्धि व्यक्ति की संपूर्णता है। अब, त्रियेक परमेश्वर में व्यक्तित्व की परिपूर्णता उपलब्ध है। अतः व्यक्ति-स्वरूप परमेश्वर हमारे नैतिक प्रयास के लिए आदर्श मूल्य जान पड़ता है। कारण, ईश-व्यक्तियों का पारस्परिक संबंध प्रेम-स्वरूप एकता है। लेकिन, प्रेम नैतिक सद्गुणों में सर्वश्रेष्ठ है, जैसा इस अध्याय के तीसरे प्रकरण में समझाया जाएगा।

अन्त में नैतिक आबन्ध का आधार-सम्बन्धी प्रश्न सुलझाना पड़ता है, नैतिक आदेश के "निरपेक्ष नियोग" का स्वरूप कहां से उत्पन्न होता है ? प्रश्न का उत्तर इस प्रकार है। नैतिक मूल्यों की आवश्यकता के विषय में निर्णय ही नैतिक आबन्ध है। फलतः नैतिक आबन्ध का आधार नैतिक मूल्यों के आधार से भिन्न नहीं होगा। अब, नैतिक मूल्य आदर्श मूल्य से संबद्ध होकर परम तत्त्व पर आश्रित हैं। इसलिए नैतिक आबंध की आवश्यकता भी ईश-स्वरूप परम तत्त्व पर आधारित है। फिर भी, इस कथन का तात्पर्य यह नहीं, कि नैतिक चेतना में ईश-ज्ञान व्यक्त रूप से सम्मिलित होता है। "शुभ करना पड़ता है, अशुभ करना निषिद्ध है", इस मूलभूत नैतिक आदेश की आवश्यकता इसी से मालूम पड़नी है कि सद्बुद्धि अपने निरपेक्ष दृष्टिकोण से मूल्य के विषय में निर्णय करती है। नैतिक चेतना स्पष्ट ईश-ज्ञान के अभाव में भी बनी रहती है।

(ग) "स्वभावगत धर्म" और अंतर्विवेक :

स्कोलावाद में प्रचलित "स्वभावगत धर्म" का सिद्धांत यहां प्रस्तुत नीति-शास्त्र की दृष्टि से इस प्रकार प्रतिपादित किया जा सकता है। सद्बुद्धि को नैतिकता

का मानदंड कहा गया है । अब, सद्बुद्धि की निरपेक्ष दृष्टि से नैतिक मूल्य कर्त्तव्य-स्वरूप जान पड़ते हैं । दूसरे शब्दों, में सद्बुद्धि का निर्णय नैतिक आबन्ध या धर्म को निर्धारित करता है । दूसरी ओर, सद्बुद्धि को इसलिए "सद्बुद्धि" कहा जाता है क्योंकि वह अपने स्वधर्म के अनुसार निर्णय करती है, अर्थात् मानव स्वभाव के अनुसार ही निर्णय करती है । फलतः सद्बुद्धि से प्रस्तुत नैतिक आबंध मानव स्वभाव के अनुरूप धर्म ही है । एक शब्द में, नैतिकता "स्वभावगत धर्म" से नियन्त्रित है । परम्परागत स्कोलावाद इसी सिद्धांत को सृष्टिवाद की दृष्टि से प्रतिपादित करता है । इस तरह मानो भिन्न-भिन्न सृष्ट तत्त्वों के स्वभाव पर सृष्टिकर्ता का विधान अंकित किया गया है । इस प्रकार भौतिक जगत् प्राकृतिक नियमों से नियन्त्रित होकर विश्व-विधाता द्वारा संचालित है । दूसरी ओर, मानव स्वतन्त्र संकल्प के बल पर अपने स्वभाव में अभिव्यक्त दिव्य आदेश का पालन करता है, या उसका उल्लंघन भी कर सकता है । जबकि "स्वभावगत धर्म" नैतिक व्यवहार का आधारभूत नियम है, समाज विशेष के लिए शासक या विधायक द्वारा रचित नियम भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में उसका विनियोग करते हैं । केवल वे मानव नियम न्यायसंगत हो सकते हैं, जो स्व-भावगत धर्म के विरुद्ध नहीं है ।

"स्वभावगत धर्म" शब्द से ही जान पड़ता है कि उसका तात्त्विक आधार मानव स्वभाव ही है । इससे यह पहला निष्कर्ष निकलता है कि वह एक सर्वव्यापक धर्म भी है, क्योंकि सभी मानव उसी स्वभाव में सहभागी हैं । इसी कारण, स्वभाव-गत धर्म का अपरिवर्त्तनीय होना भी आवश्यक है । देश-काल, संस्कृति, इतिहास आदि की परिस्थितियां भले ही बदल जायें, मानव-स्वभाव मूलतः एक ही बना रहता है । फलतः उस पर आधारित मानव-स्वधर्म भी निर्विकार रहता है । इससे स्पष्ट है कि यहां प्रस्तुत नीतिशास्त्र की दृष्टि से नैतिक सापेक्षवाद अस्वीकार्य है । स्वभावगत धर्म की सर्वव्यापकता से एक और निष्कर्ष निकलता है कि वह सर्वज्ञात भी है : यदि वह अनेक को अज्ञात होता, तो सभी के लिए किस प्रकार आबंधक हो सकता था ? इसके अतिरिक्त स्वभावगत धर्म के मुख्य नियम मानव स्वभाव से इतना घनिष्ठ संबंध रखते हैं कि उनके विषय में अज्ञान आत्मचेतन मानव के लिए असम्भव ही है । वास्तव में कम-से-कम आधारभूत नैतिक नियम सभी को ज्ञात हैं, इस बात की इति-हास या मानव-विज्ञान भी पुष्टि करते हैं : 'दस-नीज' जैसा मूलभूत नियम प्रायः सब संस्कृतियों या जातियों में उपलब्ध हैं । यह सच है कि अन्य अनेक मौलिक नियमों के विषय में मतभेद हो सकता है । इसका एक स्पष्ट उदाहरण एकपत्नीत्व है, जिसे किसी काल विशेष या संस्कृति विशेष में स्वीकृत नहीं किया गया है । स्वभावगत धर्म के समर्थक उसे मात्र एक आभासी अपवाद समझते हैं । सांस्कृतिक या ऐतिहा-सिक परिस्थितियों की जटिलता के फलस्वरूप इस प्रकार के नियमों का स्वभावगत

धर्म से संबंध अस्पष्ट-सा होने लगा; फलतः उनके विषय में नैतिक चेतना अंधी-जैसी हो गयी।

अब यह महत्त्वपूर्ण प्रश्न उठता है कि स्वभावगत धर्म में कौन-कौन नियम सम्मिलित हैं ? सर्वाधिक सामान्य सिद्धांत का उल्लेख ऊपर किया गया है, अर्थात् "शुभ को करना पड़ता है, अशुभ को करना निषिद्ध है"। मानव-स्वभाव के विश्लेषण से यह आधारभूत नियम भी निकाला जा सकता है। उदाहरणार्थ, आत्महत्या इसलिए निषिद्ध है, क्योंकि मानव एकता के फलस्वरूप शरीर भी व्यक्ति की श्रेष्ठता में सहभागी है। अतः शारीरिक जीवन की सुरक्षा आत्मा की श्रद्धा से पृथक् नहीं की जा सकती है। दूसरे मनुष्यों से हमारा व्यवहार उसी व्यक्तित्व की पवित्रता से निर्धारित है। फलतः किसी व्यक्ति से बैर नहीं रखना चाहिए; प्रत्येक मानव आदर, हां प्रेम के योग्य भी है। न्याय का मूलसिद्धांत, अर्थात् नियम की दृष्टि से मनुष्यों की समता भी सभी में आत्मतत्त्व की समानता पर आधारित है। संयुक्त राष्ट्र से स्वीकृत 'मानवाधिकार' इस सिद्धान्त से निकलते हैं कि सभी मनुष्यों को आत्मसिद्धि प्राप्त करने का अवसर मिलना चाहिए। अतः स्वभावगत धर्म में कौन-कौन आदेश निहित हैं, वह काफी स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। उल्लेखनीय बात है कि संत थोमस ईसाई धर्म का प्रेम-आदेश भी स्वभावगत धर्म का अंग मानते है। ईश-प्रेम और पड़ौसी-प्रेम विषयक 'दो आदेश स्वभावगत धर्म के मौलिक और सर्वव्यापक आदेश हैं; वे मानव बुद्धि के लिए स्वयंसिद्ध ही हैं।'[4]

सामान्य नीतिशास्त्र के इस विवरण के अंत में अंतर्विवेक या अंतःकरण के विषय में कुछ कहना है। एक ओर स्वभावगत धर्म के नियम अन्य नियमों के सदृश सामान्य हैं; दूसरी ओर दैनिक जीवन की परिस्थितियाँ विशेष है। अब, नियम का परिस्थिति में विनियोग बुद्धि के निर्णय द्वारा किया जाता है। लेकिन उक्त निर्णय को किसी अधिकारी या समाज का नहीं, बल्कि व्यष्टि का ही निर्णय होना चाहिए। कारण, नैतिक व्यवहार स्वयं व्यष्टि के आत्मनिर्णय पर निर्भर है। विशिष्ट परिस्थितियों में किसी कार्य का नैतिक मूल्यांकन करने की शक्ति को अंतर्विवेक या अंतःकरण कहा जाता है। उपर्युक्त सूक्ष्म-सा विवेचन इस महत्त्वपूर्ण बात की ओर संकेत करता है कि नैतिकता अंततः स्वयं व्यष्टि के उत्तरदायित्व की भावना पर निर्भर है। सद्बुद्धि-सम्पन्न व्यक्ति को ही नैतिक मूल्यों का मानदंड प्राप्त है; वही व्यक्ति अपने अंतर्विवेक के आधार पर विशिष्ट परिस्थिति की नैतिकता के विषय में निर्णय करता है। व्यक्ति के इस नैतिक उत्तरदायित्व के बल पर नैतिक व्यवहार का यह मूलसिद्धान्त प्रस्तुत किया जाता है कि, 'सभी परिस्थितियों मे व्यक्ति को अपने अंतर्विवेक के अनुसार काम करना चाहिए।'

4– Summa Theologica, I–II, 100, 3, ad 3m.

अंतर्विवेक के भ्रांतिपूर्ण होते हुए भी उपर्युक्त सिद्धान्त बना रहता है। मान लीजिए कि वास्तव में कोई कार्य अशुभ है; फिर भी कर्ता उसे शुभ समझता है। स्पष्टतया, कर्ता जानबूझकर नहीं, अनजाने ही उस कार्य की नैतिकता के विषय में गलत निर्णय लेता है। विषयनिष्ठ दृष्टि से अशुभ कार्य करने पर भी कर्ता निर्दोष है। क्यों? संकल्प को शुभ करना पड़ता है; लेकिन संकल्प को बुद्धि के प्रकाश में कोई कार्य शुभ या अशुभ दिखाई पड़ता है। यदि बुद्धि अनजाने गलत निर्णय करती है, तो उसमें कोई नैतिक दोष नहीं। इसके विपरीत, यदि संकल्प जो कार्य शुभ दिखाई पड़ता है, उसे नहीं करता है, तो वह नैतिकता के मूलादेश का उल्लंघन करने से दोषी प्रतीत होता है।

II विशेष नीतिशास्त्र[5]

(क) समाज और व्यष्टि

उदाहरणार्थ प्रस्तुत की गयी विशेष नैतिक समस्याओं में से पहली समस्या सामाजिक व्यवस्था की है। प्रश्न का क्षेत्र बहुत विस्तृत है; अतः इस संदर्भ में ईसाई दृष्टिकोण से केवल आधारभूत सिद्धांतों का निरूपण किया जाएगा। मानव का स्वभाव सामाजिक है; इसलिए उसका स्वाभाविक वातावरण मानव समाज ही है। इस सत्य की ओर अनेक तथ्य संकेत करते हैं। व्यष्टि की उत्पत्ति परिवार की गोद में हुई; इस तरह परिवार को ठीक ही समाज की इकाई कहा जाता है। इसके अतिरिक्त मानव का मूलभूत पहलू उसका व्यक्तित्व है; लेकिन व्यक्ति केवल सह-व्यक्तियों के साथ व्यवहार करने के फलस्वरूप अपनी व्यष्टिगत आत्मसिद्धि प्राप्त कर सकता है। मानव का प्रयास यह भी है कि वह भौतिक परिस्थितियों से स्वतंत्र होकर आत्मिक सम्पूर्णता की खोज कर सके। परन्तु आधुनिक उद्योग इस बात का एक स्पष्ट प्रमाण देता है कि भौतिक आवश्यकताओं पर विजय केवल सम्पूर्ण समाज के सहयोग के परिणामस्वरूप प्राप्त की जा सकती है।

समाज व्यष्टि का अनिवार्य प्रतिवेश है, इसका कोई निषेध नहीं करेगा। समाज का ढांचा किस प्रकार होना चाहिए, इसके विषय में मतभेद हो सकता है। सामान्य रूप से यह कहा जा सकता है कि राष्ट्र या राजनीतिक समाज के अतिरिक्त और कोई दूसरा समाज मानव की **सम्पूर्ण** आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं कर सकता है। यह सच है कि परिवार, समाज की आधारभूत इकाई होने से, मानव की मूलभूत आवश्यकताओं को, जैसे प्रजनन, पालन-पोषण, प्रारम्भिक शिक्षा और विशेषकर प्रेम, पूरा करने में समर्थ है। फिर, भिन्न-भिन्न 'मध्यवर्ती' संस्थाएँ भी, जैसे

5-- प्रस्तुत प्रकरण का मूलस्रोत है : J.-M. Aubert, **Vivre en chretien au XXe siecle,** Vol. 2.

औद्योगिक, सांस्कृतिक और धार्मिक संघ, विशेष बातों का प्रबन्ध कर सकती हैं। परन्तु केवल राजनीतिक समाज उन विविध संघों का समन्वय करने से सर्वहित का पालन करता है। राजनीतिक समाज को इसलिए सामाजिक व्यवस्था का परम संगठन मानना है, कि वही सब की भलाई का आधार हो सकता है। मानव के सामाजिक स्वभाव से उसके घनिष्ठ सम्बन्ध के कारण ईसाई परम्परा राजनीतिक समाज को सृष्टिकर्ता के निर्णय से ही स्थापित मानती है। अतः बाइबिल-ग्रंथ का आदेश है कि "प्रत्येक व्यक्ति अधिकारियों के अधीन रहे, क्योंकि ऐसा कोई अधिकार नहीं, जो ईश्वर का दिया हुआ न हो।"[6]

सामाजिक नीतिशास्त्र की एक मौलिक समस्या समाज और व्यष्टि का सम्बन्ध है। यहाँ 'व्यष्टि' की अपेक्षा 'व्यक्ति' कहना कहीं अधिक उपयुक्त होगा। कारण, व्यक्तिगत श्रेष्ठता की दृष्टि से समाज को नहीं, व्यक्ति को ही प्रधानता देनी पड़ती है। उसकी आध्यात्मिकता, स्वतन्त्रता और नैतिक उत्तरदायित्व के बल पर व्यक्ति का मूल्य अपार है। फलतः व्यक्ति-स्वरूप व्यष्टि समाज के अधीन नहीं हो सकता है। इस आधार पर समाज व्यक्ति का किसी तत्त्व के रूप में प्रयोग नहीं कर सकता है। इसके विपरीत समाज को व्यक्ति की आत्मसिद्धि के प्रयास के लिए उपयुक्त परिस्थितियों का निर्माण करना चाहिए। फिर भी, दूसरी दृष्टि से व्यक्ति की अपेक्षा समाज को भी प्रधानता देनी होगी। अनेक होने से भिन्न-भिन्न व्यक्तियों के अधिकारों का परस्पर विरोधी होना अनिवार्य है। फिर, समष्टि की भलाई के अभाव में व्यष्टि की भलाई भी नहीं हो सकती है, क्योंकि व्यष्टि समष्टि का अंग-जैसा प्रतीत होता है। अतः सर्वहित की प्राप्ति तभी संभव होगी, जब समाज के अधिकारी सभी की भलाई देखकर विविध व्यष्टिगत अधिकारों का सामंजस्य स्थापित करेंगे। व्यक्ति को उनके निर्णयों का पालन करना पड़ता है, जिसके फलस्वरूप उसकी स्वतन्त्रता प्रतिबद्ध की जाएगी। सामान्य परिस्थितियों में उसे अपनी धन-सम्पत्ति से समाज को आर्थिक सहयोग (कर) भी देना पड़ता है। यहां तक कि देश की रक्षा करने के लिए व्यक्ति का आत्मबलिदान तक करना आवश्यक हो सकता है। उपर्युक्त दो तरफी प्रधानता की विकृति होने के परिणाम-स्वरूप या तो समष्टिवाद उत्पन्न होगा, जो व्यक्ति के अधिकारों का निषेध करता है, या उदारवाद जिसमें समाज उनका कोई नियन्त्रण नहीं करता है।

सर्वहित राजनीतिक समाज का अपना साध्य है। उसमें निम्नलिखित विषय सम्मिलित हैं: नागरिकों की धन-सम्पत्ति और व्यष्टिगत अधिकारों की रक्षा करना; सब के लिए रोजगार का प्रबन्ध करना; देश की आर्थिक समृद्धि का विकास करना; सांस्कृतिक कार्यों को प्रोत्साहन देना इत्यादि। लेकिन इस बात पर ध्यान देना न भूला

6- रोमियों के नाम सन्त पोलुस का पत्र १३, १।

जाए कि राष्ट्र और व्यष्टि के बीच में 'मध्यवर्ती संस्थाओं' के लिए भी स्थान होना चाहिए। प्रान्तीय या भाषायी समुदायों के स्तर पर, औद्योगिक या सांस्कृतिक क्षेत्रों में नाना प्रकार की संस्थाएं स्थापित की जा सकती हैं, जिनके अपने-अपने विशिष्ट और स्पष्टतया निर्धारित उद्देश्य हैं। विशिष्टीकरण के अतिरिक्त मध्यवर्ती संस्थाओं का एक और लाभ यह है कि राष्ट्र की अपेक्षा वे व्यष्टियों से घनिष्ट सम्बन्ध रखने के फलस्वरूप उन्हें राजनीतिक समाज में समाविष्ट करने के लिए सहायक हो सकती हैं। इस प्रकार अपनी अनेकता के बावजूद मध्यवर्ती समाजों का अन्तिम फल संपूर्ण समाज का एकीकरण है। जब तक वे संस्थाएं अपना उद्देश्य पूरा करने में समर्थ हैं, राष्ट्र को उनका स्थान नहीं लेना चाहिए। इसके विपरीत राष्ट्र को उन्हें उनका कार्य निभाने के लिए सहायता देनी है।

(ख) परिवार और मानव की लैंगिकता :

विशेष नीतिशास्त्र के सन्दर्भ में इस दूसरी समस्या का महत्व काफी स्पष्ट है; कारण, लिंग व्यष्टि और समाज दोनों से सम्बन्ध रखता है। व्यक्ति की दृष्टि से यह कहना कोई अत्युक्ति नहीं होगी कि लैंगिकता सम्पूर्ण मानव पर अपना प्रभाव डालती है। कारण, प्रजनन के अतिरिक्त लिंग का एक और पहलू है : जननेंद्रियों के साथ-साथ मानव के मनोभाव भी उसमें सम्मिलित हैं। अतः लिंग न तो केवल एक शारीरिक तत्त्व है, वास्तव में वह मनःशारीरिक तत्त्व ही है। अब, यदि लिंग संपूर्ण मानव का लक्षण है, तो उसका मानव से भी व्यक्ति-स्वरूप संबंध होगा। अनेक स्थलों पर हमने इस बात पर बल दिया है कि व्यक्ति केवल सहव्यक्तियों के साथ व्यवहार करने के फलस्वरूप अपनी आत्मसिद्धि प्राप्त कर सकता है। अतः शारीरिक संयोग (मैथुन) के अतिरिक्त लिंग को स्वयं व्यक्तियों की एकता भी स्थापित करना चाहिए। भौतिक एकता के माध्यम से आत्मिक एकता उत्पन्न होना भी आवश्यक है। लेकिन उस आदर्श की विकृति भी हो सकती है। अन्य संवेदनों के समान यौन सुख भी व्यष्टिगत मात्र है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि अपने-अपने भौतिक अनुभव में विलीन होकर पति-पत्नी वास्तव में एक दूसरे से संयुक्त नहीं, बल्कि पृथक्-पृथक् रहते हैं। पारस्परिक आत्मदान के अभाव में मात्र भौतिक एकता का परिणाम व्यक्तियों का पृथक्करण ही है। अन्त में एक और बात ऊपर यह कहा गया है कि लिंग संपूर्ण मानव से संबद्ध है : फिर भी लिंग मानव की सम्पूर्णता नहीं है। कहने का मतलब यह है कि जननेंद्रियों का यथार्थ प्रयोग आत्मसिद्धि के लिए अनिवार्य नहीं है। आजीवन ब्रह्मचर्य की भी अपनी सार्थकता हो सकती है, बशर्ते लैंगिकता का अन्तिम लक्ष्य, अर्थात् आत्मदान, मानव-सेवा या ईश-सेवा के क्षेत्र में प्राप्त किया जाय।

उपर्युक्त वैयक्तिक पहलू के अतिरिक्त लैंगिकता का सामाजिक पहलू भी है। यदि लिंग संपूर्ण व्यक्ति से सम्बन्ध रखता है, और व्यक्ति का आधारभूत लक्षण

सामाजिक पहलू है, तो लिग का समाज पर अपना प्रभाव डालना अनिवार्य है। इस सन्दर्भ में पहले सामान्य रूप से मानव समाज की चर्चा होगी, फिर समाज की ईकाई, अर्थात् परिवार की। भूमिका के रूप में यह कहना शायद अनावश्यक नहीं होगा कि जो मानव वास्तव में अस्तित्व रखता है, वह कोई "अमूर्त्त", अर्थात् लिग-रहित मानव नहीं है, बल्कि या तो पुरुष है या नारी। दूसरे शब्दों में पुरुष-जाति और नारी-जाति एकमात्र मानव स्वभाव की दो तरफी अभिव्यक्ति है। अतः दोनों की भिन्नता के बावजूद मानव श्रेष्ठता के बल पर दोनों की समता भी है। दूसरी ओर, समता में भिन्नता के फलस्वरूप दोनों परस्पर संपूरक भी हैं। उपर्युक्त सिद्धांत से पुरुष-नारी के सामाजिक व्यवहार के विषय में निम्नलिखित निष्कर्ष निकलते हैं। मानव अधिकार यदि वास्तव में सार्विक अधिकार हैं, तो उनमें नारी के अधिकार भी सम्मिलित होंगे। जिस प्रकार उस क्षेत्र में कोई रंग-भेद नहीं हो सकता है, उसी प्रकार लिंग-भेद के लिए भी कोई स्थान नहीं होना चाहिए। अतः सामाजिक जीवन में नारी-जाति का पृथक्करण अनुचित प्रतीत होता है। यह सच है कि लिंग-भिन्नता के फलस्वरूप सामाजिक कार्यों की विविधता भी होगी; लेकिन समाज-निर्माण के कार्य में पुरुष जाति की अपेक्षा नारी-जाति का उत्तरदायित्व कम नहीं है। अब तक इसमें पुरुष-जाति का हस्तक्षेप शायद अधिक हुआ है। यदि इस क्षेत्र में नारी-जाति का भी सहयोग होता, तो निःसन्देह इसका परिणाम एक अधिक मानवीय समाज भी होता। जिस प्रकार मातृ-भाव की अनुपस्थिति में परिवार अपूर्ण है, उसी प्रकार नारी-पहलू के अभाव में समाज भी एकपक्षीय है।

लैंगिकता का सामाजिक पहलू इस दूसरे तथ्य के कारण और स्पष्ट दिखाई पड़ता है, अर्थात् समाज विवाह और परिवार पर निर्मित्त है। अब विवाह की दो आधारभूत विशिष्टताएं, अर्थात् उसकी अवियोज्यता और एकपत्नीत्व, लैंगिकता की उपर्युक्त विशेषताओं से निष्कर्ष-स्वरूप निकलते हैं। एक और लिंग सम्पूर्ण व्यक्ति से संबंध रखता है; दूसरी ओर पुरुष और नारी परस्पर संपूरक हैं। फलतः विवाह-संस्कार में नर-नारी का पारस्परिक आत्मदान संपूर्ण दान ही है। तदनुसार विवाह-संबंध का सीमित काल तक नहीं, बल्कि जीवन भर बना रहना आवश्यक है। एक-पतित्व या एकपत्नीत्व इस पर आधारित है कि संपूर्ण आत्मदान अनेक व्यक्तियों को नहीं, बल्कि एक व्यक्ति को ही किया जा सकता है।

दाम्पत्य प्रेम में इन दो पहलुओं का प्रभेद किया जा सकता है, अर्थात् काम और स्नेह। इनमें से पूर्वोक्त लैंगिकता के शारीरिक पक्ष से तथा उत्तरोक्त आत्मिक पक्ष से संबद्ध है। काम अपने स्वभाव से आत्मकेंद्रित है, अपने विषय की शाब्दिक अर्थ में प्राप्ति करता है। लेकिन मानव किसी के अधिकार में नहीं रखा जा सकता है। अतः वास्तव में काम व्यक्तित्व से संपर्क स्थापित करने में असमर्थ है। इसके विपरीत स्नेह, दूसरे व्यक्ति की श्रेष्ठता का आदर करने से, उसकी

आंतरिकता या आत्मीयता में प्रवेश करता है। अतः स्नेह के अभाव में काम मात्र दो व्यक्तियों की एकता स्थापित नहीं कर सकता है। काम शारीरिक या भौतिक तत्त्वों से संबद्ध होकर, क्षणभंगुर प्रतीत होता है; आत्मिक तत्त्वों पर आश्रित होकर, प्रेम ही चिरस्थायी बना रहता है। अब लैंगिकता के मनः शारीरिक स्वरूप के कारण विवाह में उपर्युक्त दो प्रकार के प्रेम अविच्छेद्य हैं। पर मूल्यों का तारतम्य बनाये रखने के लिए काम को यथार्थ प्रेम के अधीन होना पड़ेगा। इसके विपरीत, जहां काम की प्रधानता है, वहां प्रेम का नाश भी होगा।

उपर्युक्त दो पहलुओं के अतिरिक्त दाम्पत्य प्रेम का दोहरा लक्ष्य भी है। पहला लक्ष्य पति-पत्नी की अपनी-अपनी आत्मसिद्धि है। किसी प्रिय व्यक्ति को अपने आपको स्नेहपूर्वक समर्पित करने से अवश्य ही गहरा संतोष उत्पन्न होता है। दूसरी ओर, स्वयं किसी अन्य व्यक्ति का प्रेमपात्र होना भी कम संतोषजनक अनुभव नहीं है। फिर, यह मानकर कि 'मैं प्रियतम की ओर से सम्मान का विषय हूं,' प्रेमी उस आदर के योग्य होने का प्रयत्न करेगा। साथ ही, अपूर्णता के प्रति भी पारस्परिक सहनशीलता के परिणामस्वरूप पति-पत्नी का चरित्र-मूल्य बढ़ता है। विवाह का दूसरा परिणाम प्रजनन है। उल्लेखनीय बात है कि वह लैंगिकता के जैविक पहलू मात्र का फल नहीं है, बल्कि प्रेम की सम्पूर्ण यथार्थता का परिणाम है। यदि, जैसा हम ऊपर कह चुके हैं, विवाह पति-पत्नी की शारीरिक और आत्मिक एकता भी है, तो उसका फल शरीर और आत्मा से संश्लिष्ट एक नवीन मानव है, यह स्वाभाविक ही प्रतीत होता है। बालक के जन्म में विवाह के दोहरे उद्देश्य की पूर्ति मिलती है। कारण, अपने समान एक दूसरे व्यक्ति की सृष्टि मानव की परम सिद्धि है। संतान का पालन-पोषण और धार्मिक शिक्षा प्रजनन का संपूरक पक्ष है। माता-पिता के उस सामान्य कार्य के फलस्वरूप उन दोनों की एकता और दृढ़ हो जाती है। इससे यह दिखाई पड़ता है कि संतान दामपत्य प्रेम का फल और स्रोत, दोनों ही हैं।

(ग) धन-संपत्ति और श्रम

विशेष नीतिशास्त्र का तीसरा क्षेत्र भौतिक तत्त्वों से सम्बन्ध रखता है। इस सन्दर्भ में दो बातों का उल्लेख होगा—अर्थात् न्याय और श्रम की प्रतिष्ठा। पहले हम सामाजिक न्याय का यह सिद्धांत प्रतिपादन करें : सब मनुष्यों को भौतिक तत्त्वों का उपयोग करने का समान अधिकार है। इस सिद्धान्त को इस प्रकार सिद्ध किया जा सकता है। आत्मा और शरीर से संश्लिष्ट होने के कारण, मानव के आत्मसिद्धि प्राप्त करने के लिए भौतिक तत्त्वों से भी सहायता लेनी अनिवार्य है। दूसरी ओर, मानव श्रेष्ठता की दृष्टि से भिन्न-भिन्न व्यक्ति एक दूसरे से कम नहीं हैं। अतः सब को आत्मसिद्धि के सहायक तत्त्वों पर समान अधिकार है। इसके अतिरिक्त एक दूसरी बात भी है : उपयोग और स्वामित्व, इन दोनों का स्पष्ट

प्रभेद करना है। पूर्वोक्त भौतिक तत्त्वों का भोग करने से सम्बन्ध रखता है, उत्तरोक्त उनका संचालन करने से। उपयोग-सम्बन्धी उपर्युक्त समता का सिद्धांत निजी सम्पत्ति से भी असंगत नहीं है; सार्वजनिक सम्पत्ति उसका एकमात्र निष्कर्ष नहीं है : यह बात अगले अनुच्छेद में स्पष्ट की जाएगी। राष्ट्रीय स्तर पर उपयोग समता का अभिप्राय यह है कि सभी नागरिकों को देश की आर्थिक प्रगति से लाभ उठाने का अवसर मिलना चाहिए। साथ ही सब को विकास के कार्य में सहयोग भी देना पड़ता है। यदि हमें मात्र भौतिकवादी आदर्श के परे होना है, तो याद रखना होगा कि उपभोग्य वस्तुओं की अपेक्षा सब के लिए उच्चतर मूल्यों को भी, जैसे शिक्षा और संस्कृति, सुलभ होना चाहिए। अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर विकसित और कम विकसित देशों की असमता से यह स्पष्ट दिखाई पड़ता है कि उपयोग-समता को स्थापित करने के लिए नयी आर्थिक व्यवस्था की तीव्र आवश्यकता है। महत्त्व की बात है कि यह समस्या दानशीलता की अपेक्षा न्याय से ही सम्बन्ध रखती है, जिसका आधार उपर्युक्त उपयोग-समता का सिद्धांत है।

पूर्ववर्ती अनुच्छेद में हमने इस बात की ओर संकेत किया है कि स्वामित्व का प्रश्न उपयोग से भिन्न है। जबकि उपयोग सबसे विस्तृत अर्थ में सार्वजनिक है, स्वामित्व राष्ट्र का या व्यष्टि का भी हो सकता है। वास्तव में ऐसा प्रतीत होता है कि निजी स्वामित्व मानव के लिए अधिक स्वाभाविक है। कारण, व्यक्ति की स्वतन्त्रता और उत्तरदायित्व तभी वास्तविक हैं, जब उसे अपनी सम्पत्ति को संचालन करने का अधिकार है। निजी धन-सम्पत्ति व्यक्ति की और उसके परिवार की स्वाधीनता का क्षेत्र जैसा लगती है। कम-से-कम उपभोग्य वस्तुओं की निजी संपत्ति के विषय में प्रायः सभी की सहमति है। उत्पादक वस्तुओं के विषय में जैसे कच्चा माल, जमीन, पूंजी—सार्वजनिक सम्पत्ति अधिक उपयुक्त जान पड़ती है, क्योंकि उन बातों के महत्त्व के कारण उनका प्रभाव सर्वहित पर पड़ता है। निजी स्वामित्व और सार्वजनिक उपयोग का सामंजस्य मानव समाज के भ्रातृभाव पर आश्रित है। निजी स्वामी, जो या तो व्यष्टि या राष्ट्र भी हो सकते हैं, दूसरे व्यक्तियों या राष्ट्रों को अपनी संपत्ति का उपयोग करने का अवसर तभी प्रदान करेंगे, जब वे भाईचारे से प्रेरित होकर एक न्यासंगत व्यवस्था स्थापित करने के लिए तत्पर होंगे। इस आदर्श के लिए न्याय और भ्रातृभाव के अतिरिक्त अनासक्ति की भी आवश्यकता है। उल्लेखनीय बात है कि संत थोमस निजि सम्पत्ति का समर्थन नहीं करते थे, जिसे वह आदि-पाप का एक परिणाम मानते थे।[7]

अन्त में श्रम के विषय में भी कुछ कहना चाहिए। श्रम का प्रभाव पहले भौतिक प्रकृति पर पड़ता है। अपने आपसे प्रकृति मानव आवश्यकताओं के लिए

---

7. देखें : **Summa Theologica, I, 98, 1,**

उपयुक्त नहीं है। यह उपयुक्तता मानव के श्रम के परिणामस्वरूप ही उत्पन्न होती है। अब, ईसाई दर्शन के दृष्टिकोण से मानव सृष्टिकर्त्ता परमेश्वर का प्रतिरूप बना हुआ है। अतः अपने श्रम द्वारा प्रकृति को मानवीय बनाने के फलस्वरूप, मानव उसे परमेश्वर के भी अधिकाधिक अनुरूप बनाता है। हम इसलिए "अधिक अनुरूप" कहते हैं क्योंकि सृष्ट होने के कारण भौतिक प्रकृति पर परमेश्वर की छाप मानव प्रभाव के अभाव में भी अंकित है। फलतः प्रकृति में सृष्टिकर्त्ता की महिमा का साक्षात्कार करने के अतिरिक्त श्रमिक उसे बढ़ाता भी है।

श्रम का प्रभाव स्वयं श्रमिक पर भी पड़ता है। श्रम का पहला परिणाम यह है कि मानव प्राकृतिक परिस्थितियों से स्वाधीन होकर उच्चतर मूल्यों की खोज करने में समर्थ हो जाता है। मानव समाज की एकता भी श्रम के फलस्वरूप बढ़ती है। उद्योग की दृष्टि से श्रम के विशिष्ट क्षेत्रों का अन्योन्याश्रय होना स्पष्ट दिखाई पड़ता है। शारीरिक और मानसिक श्रम को भी एक दूसरे की सहायता आवश्यक है। श्रम से उत्पन्न आर्थिक विकास के परिणामस्वरूप सम्पूर्ण विश्व का पारस्परिक सम्बन्ध और एकता दिनोंदिन बढ़ती जाती है। फिर, श्रम का अभावात्मक पहलू भी है: मानव को उन्नत करने के अतिरिक्त श्रम उसे पदावनत भी कर सकता है। उसका एक कारण यह है कि श्रम से कष्ट भी संबद्ध है। जब कष्ट अधिक हो जाता है, श्रमिक प्रकृति का स्वामी नहीं, उसका दास बनता है। हाल तक ईसाई परम्परा ने, श्रम को आदि पाप का दण्ड मानकर, उसके कष्टकर पहलू पर अधिक ध्यान दिया है। उदारवादी पूंजीवाद की व्यवस्था में मानव-श्रम को मात्र माल माना जाता है, लेकिन श्रम श्रमिक से अभिन्न है। फलतः श्रम के साथ श्रमिक को भी किराये पर लिया जाता है। साम्यवादी समष्टिवाद में भी श्रमिक के व्यक्तित्व की अपेक्षा की जाती है। व्यक्तिगत उत्तरदायित्व के अभाव में श्रम व्यक्ति की उन्नति नहीं कर सकता है। श्रमिक को मानव व्यक्ति की अपेक्षा कम आदर नहीं देना चाहिए।

III—ईसाई नीतिशास्त्र की विशेषता : प्रेम की प्रधानता

(क) प्रेम का दार्शनिक विश्लेषण :—

प्रेम इसलिए नैतिक व्यवहार का केंद्र है, क्योंकि वह आत्मसिद्धि से घनिष्ठ सम्बन्ध रखता है। इस सिद्धांत को सिद्ध करने के फलस्वरूप हम इस बात की भी व्याख्या देंगे कि ईसाई दर्शन में प्रेम को दूसरे सद्गुणों की अपेक्षा प्रथमता क्यों मिलती है। पहले हम मानव स्वभाव के तीन मूलभूत पक्षों की दृष्टि से आत्मसिद्धि का विवेचन करें। मानव-दर्शन के सन्दर्भ में यह दिखाया गया है कि अन्य प्राणियों के विपरीत मानव को उसकी आत्मचेतना के बल पर एक स्ववर्ती तत्त्व कहा जा सकता है। दूसरे शब्दों में, मानव एक ऐसा प्राणी है, जिसकी अपनी आंतरिकता

है। अतः आत्मज्ञान और आत्मसंयम के द्वारा उस आंतरिकता या एकता का विकास करना मानव के लिए आत्मसिद्धि का तात्पर्य है। स्ववर्तिता का सम्पूरक लक्षण व्यष्टि का सहव्यक्तियों से सम्बन्ध रखना है। भिन्न-भिन्न व्यष्टियों के एक ही मानव स्वभाव में सहभागी होने के फलस्वरूप समाज में सम्मिलित होना व्यष्टि के लिए स्वाभाविक ही है। अतः व्यष्टि की आत्मसिद्धि सामाजिक पक्ष के अभाव में अपूर्ण ही होती। तदनुसार अपनी-अपनी आंतरिकता के अतिरिक्त भिन्न-भिन्न व्यष्टियों की पारस्परिक एकता भी आत्मसिद्धि का एक अनिवार्य पहलू है। फिर, ईश-दर्शन के प्रसंग में यह भी कहा गया है कि सृष्ट तत्त्व होने के कारण मानव का अस्तित्व सृष्टिकर्त्ता से सम्बन्ध पर आश्रित है। इस तरह किसी तत्त्व के अस्तित्व का आधार उसकी आत्मसिद्धि का आदर्श निर्धारित करता है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि मानव की परमेश्वर से एकता उसकी संपूर्णता का अंगभूत पहलू है।

उपर्युक्त विवेचन से यह दिखाई पड़ता है कि आत्मसिद्धि इस तिहरी एकता से निर्मित है, अर्थात् व्यष्टि की अपने आपसे, सहव्यक्तियों से और परमेश्वर से एकता। लेकिन, एकता प्रेम से अभिन्न ही है। कारण, प्रेम की विशिष्टता है : संयुक्त करना, एकता स्थापित करना। अतः आत्मसिद्धि का आदर्श प्रेम की पूर्णता में निहित है। अब आत्मसिद्धि से सम्बद्ध होने के कारण प्रेम के ये दो अवियोज्य पहलू देखने में आते हैं।[8] एक ओर सहव्यक्तियों और परमेश्वर से एकता के परिणामस्वरूप व्यष्टि अपनी पूर्णता प्राप्त करता है। इस आत्मसिद्धि की दृष्टि से प्रेम अनिवार्य रूप से आत्मकेंद्रित प्रतीत होता है। विरोधाभासी होने पर भी उस पहली दृष्टि से प्रेम का फल व्यष्टि का 'स्वार्थ', अर्थात् उसकी अपनी समृद्धि ही है। दूसरी ओर, प्रेम का फल परार्थ, दूसरों का कल्याण भी है। कारण, प्रेमभाव का जो व्यक्त विषय है, वह व्यष्टि का अपना आत्मतत्व नहीं, दूसरों का अन्यत्व ही है। यद्यपि यह सच है कि प्रेममय एकता से आत्मसिद्धि उत्पन्न होती है; फिर भी उक्त एकता प्रेम की एकता नहीं होती, यदि व्यष्टि अपने हित की अपेक्षा अन्यों का हित नहीं देखता। अतः यथार्थ प्रेम में परार्थ की तुलना में स्वार्थ गौण ही है। फिर, प्रेम का तात्पर्य इसमें है कि एक व्यष्टि किसी दूसरे व्यष्टि से एकता में संयुक्त है। इसलिए उस प्रेममय एकता में एक का हित दूसरे के हित से वियुक्त नहीं किया जा सकता है। इस दृष्टिकोण से प्रेम के दो पहलुओं, अर्थात् 'स्वार्थ' और "परार्थ" का समन्वय स्थापित किया जा सकता है। प्रेम के आत्मसिद्धि से सम्बद्ध होने के कारण स्वार्थ-परार्थ की कठिनाई को सुलझाना उचित था।

8. स्कोलावादी शब्दावली में : Love of Concupiscence (आत्मकेन्द्रित प्रेम) Love of Benevolence or Friendship (पराया प्रेम) आधुनिक शब्दावली में क्रमशः eros/agape.

यह कहा गया है कि प्रेम का सारतत्व एकता में है किन्तु, उल्लेखनीय बात है कि 'एकता' से तात्पर्य 'तादात्मय' नहीं है। इसके विपरीत प्रेम की विशेषता यह है कि जिस एकता को वह स्थापित करता है, उसमें संयुक्त किये हुए तत्त्वों की भिन्नता बनी रहती है। यदि ऐसा नहीं होता, यदि प्रेम की एकता में भिन्न-भिन्न व्यष्टि एक तरह से विलीन हो जाते, तो उनकी स्ववर्तिता के अभाव में उनके व्यक्तित्व की सिद्धि भी स्थापित नहीं की जा सकती। वास्तव में प्रेम के फलस्वरूप घनिष्ठ व्यष्टियों की जितनी अधिक एकता हो जाती है, उनकी भिन्नता भी उतना ही अधिक स्पष्ट हो जाता है। अतः प्रेम की एकता में व्यष्टिगत आत्मा का विनाश नहीं, उसकी सिद्धि प्राप्त की जाती है। इससे यह बोधगम्य हो जाता है कि सही अर्थ में 'स्वप्रेम' की चर्चा क्यों नहीं हो सकती है। यह सच है कि उसकी आंतरिकता के और गहरी हो जाने से व्यष्टि की एकता भी और घनिष्ठ हो जाती है, लेकिन अन्यत्व के अभाव में व्यष्टि की उस आंतरिक एकता को **प्रेम** की एकता नहीं कहा जा सकता है। अवश्य ही आंतरिक एकता आत्मसिद्धि का अंगभूत पहलू है, परन्तु आत्मसिद्धि तभी संपूर्ण होगी, जब वह प्रेम की एकता के स्तर पर पहुंचती है, अर्थात् जब वह अपनी आंतरिक एकता में दूसरों को भी सम्मिलित करती है। इससे प्रेम का द्वयर्थक तात्पर्य फिर दिखाई पड़ता है : प्रेम का विषय परार्थ होते हुए भी, आत्मसिद्धि की दृष्टि से उसका परिणाम स्वयं व्यष्टि का 'स्वार्थ' भी होगा। प्रेम का विरोधाभास इसमें है कि दूसरों के हित के लिए आत्मदान करने के परिणामस्वरूप मानव अपनी आत्मसिद्धि को भी प्राप्त करता है।

अन्यत्व प्रेम की एकता का मूलभूत पहलू है। इसके अतिरिक्त पारस्परिकता भी प्रेम का लक्षण है। प्रेम में भिन्न-भिन्न व्यक्ति एक दूसरे को आत्म-दान करते हैं। लेकिन दान का स्वीकृत किया जाना अनिवार्य है। अतः दोनों ओर से आत्मदान के साथ दोनों ओर से स्वीकृति भी होगी : इस आदान-प्रदान में प्रेम की पारस्परिकता है। अब, चूंकि दान एक व्यक्ति की ओर से अपने आत्मतत्व का है, स्वीकृति दूसरे व्यक्ति की ओर से उसकी अपनी आत्मा की आंतरिकता में होगी। फलतः प्रेम की एकता भिन्न-भिन्न व्यक्तियों की पारस्परिक आंतरिकता होगी। फिर, प्रेम के लिए क्रमशः बढ़ना स्वाभाविक है। कारण, आत्मदान की भूमिका आत्म-प्राप्ति है। जिसे अपना आत्मतत्व प्राप्त नहीं है, वह उसे किस प्रकार दूसरों को प्रदान करेगा? जैसा पूर्ववर्ती अनुच्छेद में कहा गया है कि प्रेम का फल आत्मसिद्धि भी है; अतः आत्मदान के फलस्वरूप आत्मप्राप्ति बढ़ती है। दूसरी ओर, आत्मप्राप्ति के बढ़ने से आत्मदान की संभावना भी बढ़ती है। आत्मसिद्धि और आत्मदान के इस अन्योन्याश्रय के बल पर प्रेम का निरन्तर विकसित होना अनिवार्य है। प्रेम की पारस्परिक एकता का एक और परिणाम व्यष्टि का स्वाति-

क्रमण है । व्यष्टि जब तक प्रेम में दूसरों से सम्पर्क स्थापित नहीं करता है, तब तक अपने अकेलापन में पृथक् रहता है । लेकिन मानव का आत्मतत्व सीमित ही है । प्रेम में सहव्यक्तियों के साथ सम्बद्ध होने से ही व्यक्ति अपनी ससीमता से बचकर मानव-समाज की उच्चतर एकता में उठा लिया जाता है ।

पड़ौसी-प्रेम से बढ़कर ईश-प्रेम में व्यष्टि का स्वातिक्रमण कहीं अधिक महत्त्व का है । यदि ससीम मनुष्यों से एकता के फलस्वरूप हमारा व्यक्तित्व बढ़ता है, तो असीम परम तत्त्व से एकता के विषय में क्या कहें प्रेमपात्र और आत्मसिद्धि दोनों की दृष्टि से ईश-प्रेम सर्वश्रेष्ठ है । ईश-प्रेम की एकता में भी भिन्न-भिन्न व्यक्तियों का अन्यत्व बना रहता है, इस बात को अन्तिम अध्याय में समझाया जाएगा । यहां पारस्परिकता के विषय मे कुछ संदेह हो सकता है । मानव, ससीम होकर, किस प्रकार असीम परमेश्वर की ओर से आत्मदान को स्वीकार करे ? दूसरी ओर, परमेश्वर को मानव के आत्मदान से कौन-सा लाभ हो सकेगा ? ईश-मानव के सम्बद्ध में अनुपात का अभाव स्पष्ट ही है । ईश-प्रेम के इस रहस्य के विषय में यहां इतना ही कहा जाएगा । पहले, यदि वास्तव में परमेश्वर मानव को प्रेम-दान देता है, तो प्रतिदान के रूप में मानव का अपनी सम्पूर्णता प्रदान करना आवश्यक है । दूसरी बात : मानव की संपूर्णता परमेश्वर की दृष्टि से नगण्य होते हुए भी, हम यह न समझें कि परमेश्वर मानव-प्रेम की लापरवाही करता है । परमेश्वर प्रेम ही है;[9] अतः परम प्रेम की दृष्टि से कोई भी प्रेमदान अस्वीकार नहीं किया जा सकता है ।

(ख) ईश-प्रेम और भ्रातृ-प्रेम का आदेश

पूर्ववर्ती प्रकरण में हम यह देख चुके हैं कि आत्मसिद्धि ईश-प्रेम और भ्रातृ-प्रेम से घनिष्ठ सम्बन्ध रखती है । साथ ही, प्रेम से उत्पन्न व्यष्टि का 'स्वार्थ' प्रेम-पात्र के परार्थ से गौण है; इसके अतिरिक्त 'स्वप्रेम' इसलिए निरर्थक है क्योंकि प्रेम का सारतत्व अन्यों की चिन्ता ही है । फलतः दार्शनिक दृष्टि से ईश-प्रेम और पड़ौसी-प्रेम की प्रधानता सिद्ध प्रतीत होती है । अब उल्लेखनीय बात है कि ईसाई नीति-संहिता में भी इसी दोहरे प्रेम के सद्गुण को प्रथमता दी जाती है । बाइबिल-ग्रंथ में नैतिकता के मूलभूत आदेश को इस प्रकार प्रस्तुत किया जाता है : 'अपने प्रभु ईश्वर को अपने सम्पूर्ण हृदय, अपनी सारी आत्मा और अपनी सारी बुद्धि से प्यार करो । यह सबसे बड़ी और पहली आज्ञा है । दूसरी आज्ञा इसी के सदृश है—अपने पड़ौसी को अपने समान प्यार करो ।[10] इसे आश्चर्यजनक न समझा जाये यदि

---

9. संत योहन का पहला पत्र 4. 8 : "ईश्वर प्रेम है ।"

10. मत्ती 22.37 39 ।

दार्शनिक विवेचन के प्रसंग में हम धर्मग्रन्थ का एक उद्धरण प्रस्तुत करें। नीति-शास्त्र किसी संस्कृति में प्रचलित नैतिक आचरण पर दार्शनिक चिन्तन है, किन्तु नैतिक मूल्य दर्शन से नहीं, धर्म से ही उत्पन्न हुए। धर्म का दर्शन पर प्रभाव किसी अन्य प्रसंग में उतना स्पष्ट नहीं जितना नीतिशास्त्र के विषय में। अतः धर्म-ग्रन्थ का उद्धरण यहां प्रमाण-स्वरूप प्रस्तुत नहीं किया जाता है, बल्कि दार्शनिक चिंतन के विषय-स्वरूप में। अब पहले हम ईसाई नैतिक चेतना की दृष्टि से उपर्युक्त पड़ौसी-प्रेम की व्याख्या देंगे, बाद में ईश-प्रेम की।

ऊपर उद्धृत बाइबिल-कथन से ऐसा प्रतीत हो सकता है कि पड़ौसी-प्रेम का मानदण्ड स्वयं व्यष्टि का स्वप्रेम ही है: 'अपने पड़ोसी को अपने समान प्यार करो'। लेकिन इस तथाकथित 'स्वर्ण नियम' के विषय में यह सन्देह उत्पन्न हो सकता है: यदि स्वप्रेम को सही अर्थ में 'प्रेम' नहीं कहा जा सकता है, तो उसे कैसे पड़ौसी-प्रेम के आदर्श के रूप में प्रतिपादित किया जा सकता है। कठिनाई उसी संत मत्ती के सुसमाचार से उद्धृत किसी दूसरे कथन के आधार पर सुलझायी जा सकती है. अर्थात् 'दूसरों से अपने साथ जैसा व्यवहार चाहते हो, तुम भी उनके साथ वैसा ही किया करो'।[11] अतः प्रेम का मानदण्ड स्वप्रेम या अपने साथ व्यवहार नहीं, बल्कि दूसरों की ओर से अपेक्षित हमारे साथ व्यवहार है। अब उल्लेखनीय बात है कि पड़ौसी-प्रेम का उक्त मानदण्ड ईसाई नैतिकता की ही विशेषता नहीं है; यह उन्हीं शब्दों में बाइबिल के पूर्वार्द्ध में भी मिलता है। लगभग छठी शताब्दी ई० पू० में रचित लेवी-ग्रंथ में वैसा ही लिखा हुआ है, 'तुम अपने पड़ौसी को अपने समान प्यार करो'।[12] फलतः ईसा-मसीह से प्रस्तुत पड़ौसी-प्रेम का आदेश वास्तव में यहूदी संहिता की पुनरुक्ति है। फिर भी ईसाई पड़ौसी-प्रेम की अपनी विशेषता है, जिसका आदर्श स्वयं ईसा-मसीह का मानव के प्रति अद्‌भुत प्रेम है। यहूदी संहिता की तुलना में ईसा-मसीह से दिया हुआ आदेश वास्तव में अनसुना है: "मैं तुम लोगों को एक नयी आज्ञा देता हूं—तुम एक दूसरे को प्यार करो। जिस प्रकार मैंने तुम लोगों को प्यार किया, उसी प्रकार तुम भी एक दूसरे को प्यार करो'।[13] अब, जिस आदर्श को ईसा-मसीह ने क्रूस पर मृत्यु द्वारा प्रमाणित किया है, उसके अनुसार आत्मदान की पूर्ति आत्मबलिदान ही है। 'अपने मित्रों के लिए अपने प्राण अर्पित करने से बड़ा किसी का प्रेम नहीं'।[14]

भ्रातृ-प्रेम का पात्र प्रत्येक व्यक्ति है। वर्ण, जाति, धर्म का कोई भेद नहीं

---

11. मत्ती. 7.12।
12. लेवी-ग्रन्थ 19.18।
13. यौहन 13.34।
14. यौहन 15, 13।

करना चाहिए; उसके विपरीत व्यक्तित्व की समता ही मानव अधिकारों का आधार है, इतना ही संयुक्त राष्ट्र भी स्वीकार करते हैं। ईसाई नीति-संहिता से निर्धारित पड़ौसी-प्रेम की मांग इस सिद्धांत से कहीं अधिक व्यापक है: मानव को अपने सभी सहव्यक्तियों के साथ न तो केवल न्यायसंगत व्यवहार करना पड़ता है; बल्कि सब से प्रेम भी रखना है। हां, इसमें कोई असमानता अवश्य हो सकती है, अर्थात् दरिद्रों और पददलितों को दूसरों की अपेक्षा अधिक प्रेम देना पड़ता है। तथाकथित 'भले समारी' का दृष्टान्त इसका एक स्पष्ट उदाहरण प्रस्तुत करता है।[15] अपने शत्रु से भी प्रेम रखना, यह ईसा मसीह के प्रेम-आदर्श की उत्तम मांग है। इतने श्रेष्ठ आदर्श का आधार धर्म ही हो सकता है। यह जानकर कि उसके पापों को परमेश्वर क्षमा करता है, मानव दूसरों से अपने विरुद्ध किये हुए अन्याय को भी क्षमा कर सकता है। ईसा-मसीह ने अपने शिष्यों को इस प्रकार पिता परमेश्वर से प्रार्थना करना सिखाया : 'हमारे अपराध क्षमा कर, जैसे हमने भी अपने अपराधियों को क्षमा किया है'।[16] व्यक्तियों की मात्र समता उस परम आदेश का पर्याप्त आधार नहीं हो सकती है, उसे इस धार्मिक विचार की आवश्यकता भी है, कि परमेश्वर सब मनुष्यों का न तो केवल रचयिता है, अपितु उसका पिता भी है। अतः मनुष्यों को परस्पर भ्रातृ-प्रेम का भाव रखना चाहिए। तदनुसार ईसा-मसीह का कहना है : 'अपने शत्रुओं से प्रेम करो और जो तुम पर अत्याचार करते हैं, उनके लिए प्रार्थना करो। इससे तुम अपने स्वर्गिक पिता की संतान बन जाओगे'।[17] प्रार्थना के अतिरिक्त शत्रु के लिए नाना प्रकार का सत्कार भी करना है :'यदि आपका शत्रु भूखा है, तो उसे खिलायें और यदि वह प्यासा है, तो उसे पिलायें....। आप लोग बुराई से हार न मानें, बल्कि भलाई द्वारा बुराई पर विजय प्राप्त करें'।[18] अवश्य ही इस आदेश का पालन करना अति कठिन है; लेकिन यह सच भी है कि यदि हम बैर पर प्रेम द्वारा विजय प्राप्त न करें, तो बैर से पराजित होकर हम भी बैर रखने लगेंगे। शत्रुता को समाप्त करने का एकमात्र उपाय प्रेम ही है।

प्रेम-पालन अन्य सद्गुणों से घनिष्ठ संबंध रखता है। एक ओर, अन्य सद्-गुणों के अभाव में प्रेम नहीं बना रह सकता है। कारण, प्रेम उत्तम सद्गुण ही है। इस तरह निम्नतर सद्गुण की अनिवार्य भूमिका प्रतीत होते हैं। जो प्रारम्भिक आदेशों का पालन नहीं करता है, वह महान् आदेश कैसे पूरा करेगा ? दूसरी ओर, प्रेम के अभाव में दूसरे सद्गुण भी नहीं बने रह सकते हैं। उदाहरणार्थ, न्याय को लीलिए। न्याय विधि-विषयक अधिकारों का संतुलन मात्र नहीं हो सकता है। न्याय

---

15. देखें : लूकस 10. 29 इति।
16. मत्ती 6. 12।
17. मत्ती 5. 44-45।
18. रोमियों के नाम संत पौलुस का पत्र–12, 20–21।

वास्तव में व्यक्ति-स्वरूप मानव से संबंध रखता है, क्योंकि जिन अधिकारों को न्याय निर्धारित करता है, वे स्वयं व्यक्ति के अधिकार हैं। फिर, मानव से एकमात्र उचित व्यवहार उसके व्यक्तित्व का आदर करना है, जबकि आदर स्वयं ही यथार्थ प्रेम का आधार है। दूसरे शब्दों में, यदि नैतिक मूल्य वास्तव में व्यक्ति-संबंधी मूल्य हैं तो वे प्रेम-रहित नहीं हो सकते हैं, क्योंकि व्यक्ति अपने स्वभाव से प्रेम पात्र ही है। इस दृष्टि से संत पौलुस का कथन बोधगम्य हो जाता है : 'प्रेम पड़ौसी के साथ अन्याय नहीं करता; इसलिए जो प्यार करता है, वह संहिता के सभी नियमों का पालन करता है'।[19]

इस संदर्भ में यह पूछा जा सकता है किस अर्थ में प्रेम किसी आदेश का विषय हो सकता है ?। "प्रेम-आदेश" के विरुद्ध शेलर की ओर से प्रस्तुत आपत्ति इस प्रकार है कि प्रेम स्वतः ही उत्पन्न होने से परतः निर्धारित नहीं किया जा सकता है। आपत्ति निराधार नहीं है। कानून इसलिए उच्चतम मांग नहीं, निम्नतम मांग ही करते हैं, कि वे सामान्य नियम होकर सभी के लिए बाध्यकारी हैं। अब सभी की ओर से उच्चतम सद्गुण की प्रतीक्षा नहीं की जा सकती है। फिर, यह सच है कि दूसरी आज्ञाओं का पालन किये बिना प्रेम बना नहीं रह सकता है। पर दूसरी ओर, प्रेम-मात्र आदेश-पालन तक सीमित नहीं रह सकता है; उसे उन्हें पार करना ही है। अतः जबकि एक दृष्टि से प्रेम नियम के अधीन है, दूसरी दृष्टि से वह किसी भी नियम के परे है। इसके अतिरिक्त प्रेम इसलिए भी किसी आज्ञा का विषय नहीं हो सकता, क्योंकि अन्य आदेशों के विपरीत जिनका अपना-अपना विशिष्ट विषय हैं, प्रेम का क्षेत्र असीम होने से किसी निश्चित नियम द्वारा निर्धारित नहीं किया जा सकता है। प्रेम-आदेश की मांग सीमा-रहित है, यह संपूर्णता की मांग है। फिर भी भ्रातृ-प्रेम को "आदेश" कहना निरर्थक नहीं होगा, यदि हम उसकी कठिनाई पर ध्यान देंगे : ईश-आदेश के अभाव में कौन शत्रु से प्रेम रखने, आत्मबलिदान और स्व-प्रेम का विरोध करने के लिए तत्पर होगा ?। अन्त में, प्रेम-आदर्श का तात्पर्य इसमें है कि भिन्न-भिन्न आज्ञाओं का जबरदस्ती से नहीं, बल्कि स्वतन्त्र निर्णय से ही पालन करना चाहिए। इस तरह प्रेम और स्वतन्त्रता परस्पर संबद्ध हैं; अतः प्रेम एकमात्र आदेश है। संत याकूब के शब्दों में ईसाई नैतिकता की विशेषता इसमें है कि स्वतन्त्रता के अतिरिक्त और कोई नियम नहीं है; वह "स्वतन्त्रता की संहिता'[20] ही है।

ईश-प्रेम भ्रातृ-प्रेम से पृथक् "आदेश" नहीं है; वास्तव में ये दोनों अन्योन्याश्रित हैं। कारण, यथार्थ ईश-प्रेम भ्रातृ-प्रेम के अभाव में हो ही नहीं सकता है;

१९-- रोमियों के नाम पत्र १३.१०।

२०-- संत याकूब का पत्र २,१२।

दूसरी ओर यथार्थ भ्रातृ-प्रेम में ईश-प्रेम भी सन्निहित है। उक्त पारस्परिक संबंध के बावजूद ईश-प्रेम और भ्रातृ-प्रेम प्रेमपात्र की भिन्नता के कारण भिन्न-भिन्न भी हैं। पड़ौसी-प्रेम ईश-प्रेम की भूमिका है। ईश-दर्शन के प्रसंग में यह कहा गया है कि परम तत्त्व व्यक्ति-स्वरूप और प्रेम-स्वरूप दोनों है। अब अप्रत्यक्ष होने के कारण, परमेश्वर क्या है, उसका प्रत्यक्ष अनुभव मानव व्यक्ति से प्रेममय व्यवहार करने के फलस्वरूप ही प्राप्त किया जा सकता है। यही संत योहन की शिक्षा है। प्रेम-स्वरूप परमेश्वर को जानने का एकमात्र मार्ग प्रेम मार्ग ही हो सकता है : जो प्यार नहीं करता, वह ईश्वर को नहीं जानता, क्योंकि ईश्वर प्रेम है; । परन्तु प्रेम-स्वरूप परम तत्त्व का साक्षात्कार केवल अपरम तत्त्व के माध्यम द्वारा प्राप्त किया जा सकता है। "यदि वह अपने भाई को, जिसे वह देखता है, प्यार नहीं करता, तो वह ईश्वर को, जिसे उसने कभी देखा नहीं, प्यार नहीं कर सकता"।[21] भ्रातृ-प्रेम में ईश-प्रेम भी निहित है। कारण, प्रेम परम नैतिक मूल्य है, क्योंकि नैतिकता और प्रेम दोनों व्यक्तित्व से संबंध रखते हैं। लेकिन परमेश्वर नैतिकता का विषय नहीं हो सकता है, बल्कि धर्म का। दूसरी ओर नैतिकता और धार्मिकता, दोनों को अन्योन्याश्रित माना जा सकता है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि प्रेमपात्रों की भिन्नता के बावजूद भ्रातृ-प्रेम नैतिकता का शिखर होकर धार्मिकता के सार, अर्थात् ईश-प्रेम से अभिन्न ही है।

उपसंहार

ऊपर प्रस्तुत प्रतिपादन से, विशेषकर अध्याय के पहले प्रकरण से यह प्रतीत होता है कि हमारा नीति-शास्त्र मानव-केंद्रित ही है। "स्वभावगत धर्म" के सिद्धान्त के अनुसार नैतिकता का मानदण्ड मानव स्वभाव से अनुकूलता द्वारा निर्धारित किया जाता है। इसके अतिरिक्त नैतिक उपयुक्तता के विषय में मानव की "सद्बुद्धि" अन्तिम निर्णय करती है। यह मानव केंद्रित दृष्टिकोण पूर्ववर्ती अध्यायों में प्रयुक्त प्रणाली के अनुकूल है। मानव-दर्शन आत्मचेतना के विश्लेषण पर ही आश्रित है। ईश-दर्शन के संदर्भ में भी ईशास्तित्व का समीक्षात्मक प्रमाण बुद्धि के निहितार्थों और मानव की मूलभूत प्रवृत्ति पर निर्मित है। फिर भी, प्रस्तुत नीतिशास्त्र को निरीश्वरवादी नहीं कहा जा सकता है। परम तत्व के अभाव में "निरपेक्ष नियोग" की संतोषजनक व्याख्या नहीं दी जा सकती है। तत्त्वमीमांसात्मक दृष्टि से परम मूल्य-स्वरूप परमेश्वर ही भिन्न-भिन्न अपरम मूल्यों का मूलभूत आधार जान पड़ता है। अतः संपूर्ण नैतिक प्रयास का अंतिम लक्ष्य आत्मसिद्धि की अपेक्षा मानव समाज की परमेश्वर से एकता में ही है।

२१-- संत योहन का पहला पत्र 4.8 और 20।

नीतिशास्त्र के उक्त मानवकेंद्रित दृष्टिकोण के अनुसार प्रस्तुत अध्याय में "धर्म"[22] का कोई उल्लेख नहीं किया गया है। नीति और धर्म का प्रभेद इसमें है कि धर्म के विपरीत नीति परमेश्वर से अव्यवहित संबंध नहीं रखती है। इस प्रभेद को इसलिए निषेधात्मक रूप में अभिव्यक्त किया जाता है कि वास्तव में अपरम मूल्यों के माध्यम से नीति परम मूल्य से ही संबंध रखती है। तत्त्वमीमांसात्मक दृष्टि से परम तत्त्व पर आधारित होने के कारण अपरम तत्त्व नैतिक प्रयास के लिए अंतिम लक्ष्य की खोज में मध्यवर्ती लक्ष्य ही प्रतीत होते हैं। इस बात का एक स्पष्ट उदाहरण भ्रातृ-प्रेम में मिलता है: भ्रातृ-प्रेम इसलिए ईश-प्रेम से अभिन्न है, क्योंकि वह पूर्वोक्त के अभाव में नहीं बना रह सकता है। सामान्य रूप से नीति धर्म के अभाव में अपूर्ण ही है। अतः धर्म-विषयक अगला अध्याय प्रस्तुत अध्याय का अनिवार्यतः संपूरक दिखाई पड़ता है।

अन्त में यह प्रश्न उठाया जा सकता है किस हद तक किसी दार्शनिक नीतिशास्त्र को "ईसाई" कहा जा सकता है। बौद्धिक अनुसंधान का परिणाम होकर दर्शन पर आश्रित नीति किसी एक धर्म की विशेषता नहीं, बल्कि अनिवार्य रूप से मानव धर्म ही होगी। इस बात का कोई विरोध नहीं करेगा कि जिस प्रणाली को हमने अपनाया है, वह शुद्ध दार्शनिक ही है। दूसरी ओर, जिन मूल्यों पर हमने बल दिया है, उन्हें ईसाई दृष्टिकोण से दूसरों की अपेक्षा महत्त्वपूर्ण माना जाता है।

समाज और व्यष्टि की समस्या, न्याय और श्रम का प्रश्न तथा उनके संदर्भ में प्रयुक्त मूल्यांकन व्यक्ति की श्रेष्ठता और मानव के सामाजिक पहलू पर आश्रित है। अब ईसाई मानव-दर्शन के अनुसार ये मानव तत्त्व के आधारभूत पक्ष हैं; फलतः उन्हें मूलभूत मूल्य भी माना जाता है। विवाह और परिवार संबंधी नीति भी ईसाई मानव-दर्शन के सिद्धांतों से अनुप्राणित है: व्यक्ति की उत्तमता के अतिरिक्त मानव का आत्मा और शरीर से संश्लिष्ट स्वभाव लैंगिक व्यवहार को निर्दिष्ट करता है। स्वयं "सद्‌बुद्धि" का सिद्धांत, "स्वभावगत धर्म" से अविच्छेद्य होकर, ईसाई मानव-दर्शन से निष्कर्ष-स्वरूप निकलता है। निःसंदेह पूर्वोक्त मूल्य अन्य-गैर-ईसाई-दर्शनों में भी मिल सकते हैं, और वास्तव में मिलते भी हैं। इसका एकमात्र निहितार्थ यह है कि ईसाई दर्शन मानव-विरोधी नहीं, मानव-अनुकूल ही है। फिर भी, ईसाई नीतिशास्त्र की अपनी विशेषता यह है कि प्रेम के अभाव में अन्य मूल्यों को—वे कितने श्रेष्ठ क्यों न हों,—मूल्यहीन माना जाता है। इस कठिनाई के बावजूद कि व्यावहारिक जीवन में इस आदर्श का पालन किया जाय या नहीं,—स्वयं आदर्श कम श्रेष्ठ नहीं है।

२२-- अंग्रेजी "Religion" के अर्थ में।

अध्याय 9

धर्म-दर्शन

भूमिका

पहले यह स्पष्ट करना उचित होगा कि प्रस्तुत संदर्भ में "धर्म-दर्शन" का अभिप्राय क्या है। सामान्य रूप से धर्म-दर्शन को धार्मिकता पर दार्शनिक चिंतन माना जाता है, लेकिन उस अमूर्त्त-से विषय के अतिरिक्त धर्म-दर्शन भिन्न-भिन्न ऐतिहासिक धर्म-परम्पराओं पर भी विचार कर सकता है। अतः **विषय** की दृष्टि से "ईसाई" धर्म-दर्शन वही होगा जो ईसाई धर्म पर ही चिंतन करता है। दृष्टिकोण के अनुसार भी धर्म-दर्शन "ईसाई" कहा जा सकता है। इसका तात्पर्य यह है कि धर्म के विषय में अन्वेषण ईसाई दर्शन के परिप्रेक्ष्य में किया जाता है, यद्यपि अन्वेषण का विषय ईसाई धर्म के अतिरिक्त गैर ईसाई धर्म भी हो सकते हैं। यहां प्रस्तुत धर्म-दर्शन विषय और दृष्टिकोण दोनों की दृष्टि से सही अर्थ में ईसाई दर्शन है। फलतः इस अध्याय में गैर-ईसाई धर्मों का उल्लेख नहीं होगा, यद्यपि दूसरे प्रकरण में ईसाई धर्म का अन्य धर्मों से संबंध निर्धारित किया जाएगा।

अपने धर्म-दर्शन का विषय और स्पष्ट करने के लिए हम यह पूछ सकते हैं कि ईसाई धर्म कौन-सा 'तत्त्व' है। वास्तव में वह तीन निम्नलिखित तत्त्वों से निर्मित है, धर्म-ग्रंथ या बाइबिल, धर्म-प्रवर्तक या ईसा मसीह और ईसाई समुदाय या कलीसिया (चर्च)[1] बाइबिल विचारधारा इस पुस्तक के पहले और दूसरे अध्याय में कुछ विस्तार से वर्णित की गयी है। उसी संदर्भ में ईसा मसीह के ईश्वरत्त्व और उनके मुक्ति-कार्य का उल्लेख भी हुआ है। (दूसरे अध्याय के पहले और दूसरे प्रकरण में)। कलीसिया की भी चर्चा न केवल उसी नाम से बाइबिल-उत्तरार्द्ध के संदर्भ में (दूसरा अध्याय, तीसरा प्रकरण, क), बल्कि ईश प्रज्ञा के नाम से पूर्वार्द्ध में भी (पहला अध्याय, दूसरा प्रकरण ग) की गई है, परन्तु उस विशेष संदर्भ के कारण, ईसाई-धर्म के उपर्युक्त तीन मूलभूत तत्त्वों का निरूपण अब तक धर्मशास्त्रीय दृष्टिकोण से ही किया गया है। फलतः धर्म-दर्शन के प्रस्तुत प्रसंग में

---

1. 'कलीसिया' यूनानी 'ekklesia' अर्थात 'church के अनुरूप गढ़ा हुआ फारसी शब्द है।

उन पर दार्शनिक दृष्टि से फिर चिंतन कर आवश्यक है। तदनुसार बाइबिल के विषय में यह प्रश्न उठाना चाहिए कि ईसाई धर्म में शब्द-प्रमाण या "प्रकाशना" का क्या स्थान है ? ईसा मसीह के व्यक्तित्व पर दार्शनिक चिंतन वास्तव में किसी हद तक किया जा चुका है : ईश-मानव संबंधी सिद्धांत धर्मशास्त्र के सिद्धांत होते हुए भी दार्शनिक प्रत्ययों का प्रयोग करते हैं (देखें : तीसरा अध्याय, दूसरा प्रकरण) । प्रस्तुत अध्याय में पूर्वोक्त दो प्रश्नों को छोड़कर हमने ईसाई धर्म विषयक दार्शनिक चिंतन के लिए ईसाई समुदाय को ही चुना है । कारण, ऐतिहासिक दृष्टि से कलीसिया न केवल बाइबिल विचारधारा और ईसा मसीह के विपरीत वर्तमान तथ्य है, बल्कि वह उन दोनों से अपनी वर्तमान स्थिति में भी घनिष्ठ संबंध रखती है । अतः प्रस्तुत ईसाई धर्म-दर्शन कलीसिया मात्र तक सीमित होने पर भी अपूर्ण नहीं है, क्योंकि, जैसा बाद में स्पष्ट किया जाएगा, धर्म-संघ में धर्म-ग्रंथ और धर्म-प्रवर्तक भी समाविष्ट हैं ।

यहां प्रस्तुत दृष्टिकोण ईसाई और दार्शनिक, दोनों है—इस बात को कुछ और स्पष्ट करना उपयुक्त ही होगा । यदि सामान्य रूप से चिंतन का अनिवार्य आधार अनुभव है, तो किसी धर्म-विशेष पर चिंतन करने के लिए उसी धर्म का अनुभव आवश्यक ही है । इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि दूसरी धार्मिक परम्पराओं के प्रतिनिधियों से बढ़कर ईसाई स्वयं ही अपने धर्म का उपयुक्त व्याख्याता है । अब ईसाई धर्म की विशेषता यह है कि धर्म मात्र व्यष्टिगत अनुभव का विषय नहीं है, वरन् अधिकारों के साथ संपूर्ण समुदाय के अनुभव का विषय है । अतः ईसाई धार्मिक समुदाय क्या है, इसकी एकमात्र प्रामाणिक व्याख्या स्वयं ईसाई समुदाय से ही मिल सकती है । इसी कारण प्रस्तुत ईसाई धर्म-दर्शन का मूलस्रोत रोमन कैथोलिक कलीसिया का वह आत्म-प्रतिपादन होगा, जिसे 1962 से 1965 तक वैटिकन में एकत्र उसकी विश्वसभा ने प्रकाशित किया है ।[2] फिर भी, स्पष्टतया ईसाई समुदाय-विषयक उसकी व्याख्या प्रस्तुत करने में हमारा दृष्टिकोण दार्शनिक ही बना रहेगा । विशेष रूप से हम किसी भी "आधिकारिक" उक्ति के विषय में सत्य के निर्णय से दूर रहेंगे । यह दार्शनिक दृष्टिकोण भी **ईसाई** दर्शन का होगा क्योंकि प्रयुक्त धारणाओं का अभिप्राय पुस्तक के द्वितीय भाग में प्रतिपादित दर्शन के अनुकूल होगा । यदि अब तक प्रस्तुत दर्शन बौद्धिक प्रतीत होता है और ईसाई धर्म-दर्शन उसके अनुकूल होगी, तो एकमात्र निष्कर्ष यही है कि ईसाई धर्म-दर्शन बुद्धिनिरोधी नहीं है ।

---

2. उक्त महासभा से प्रकाशित रिपोर्ट का संग्रह देखें : A. flannery (ed.), **Vatican Council II, 1975 or . Abbott (ed.), The Documents of Vatican II, 1966.**

I. कलीसिया अथवा ईसाई धार्मिक समुदाय

(क) कलीसिया के अध्यात्मिक और सामाजिक पहलू

प्रस्तुत प्रकरण का मूलस्रोत कैथोलिक कलीसिया का वह आत्म-प्रतिपादन है जिसे तथाकथित "द्वितीय वैटिकन महासभा" ने 1964 में प्रख्यापित किया है ।[3] उसके विषय में किए हुए दावे वास्तव में सत्य हैं या नहीं, यह प्रश्न धर्म-दर्शन की दृष्टि से असंगत है । इसके विपरीत महत्त्व की बात यह है कि विवरण ईसाई समुदाय की अपनी धारणा के अनुकूल हो । यदि ऐसा हो, तो हमारा कलीसिया का निरूपण इस अर्थ में प्रमाणित होगा कि वह उसके विश्वास की सत्य अभिव्यक्ति है—इस प्रश्न को छोड़कर कि उक्त विश्वास विषयनिष्ठ यथार्थता के अनुकूल है या नहीं । धर्म-दर्शन के संदर्भ में सत्य का प्रश्न किसी धार्मिक परम्परा के प्रामाणिक प्रतिपादन तक सीमित रहेगा ।

उपर्युक्त बातें ईसाई समुदाय की इस धारणा को समझने के लिए पर्याप्त भूमिका हैं, कि वह अपने को मात्र एक मानव संस्था नहीं, वरन् परमेश्वर द्वारा ही स्थापित मानता है । ऐतिहासिक दृष्टि से यह एक असंदिग्ध तथ्य है कि ईसवी सन् के प्रारम्भ में ईसा मसीह की प्रेरणा से ईसाई धर्म प्रादुर्भूत हुआ । उनके धर्मोपदेश का सार यह था कि 'ईश्वर का राज्य निकट आ गया है ।'[4] इस संदेश से ईसा मसीह ने उस ईश-राज्य का आगमन घोषित किया जिसकी प्रतीक्षा इस्रायल जाति लगभग दस शताब्दियों से करती आयी थी, जैसा पहले अध्याय में समझाया गया है ।[5] फिर, जिस आध्यात्मिक राज्य का ईसा मसीह ने स्वयं उद्घाटन किया था, उसका प्रचार करने का उन्होंने अपने चेलों को आदेश भी यह कहकर दिया कि 'तुम लोग जाकर सब राष्ट्रों को शिष्य बनाओ' ।[6] इस प्रकार ईसा मसीह वर्तमान ईसाई समुदाय के प्रारम्भिक प्रवर्तक हुए ।

यह उल्लेखनीय है कि ईसा मसीह परमेश्वर को अपना निजी 'पिता' मानते थे, और तदनुसार उनसे स्थापित धर्म-संघ भी उन्हें 'ईश-पुत्र' मानने लगा । 'पिता परमेश्वर' और ईश-पुत्र' धार्मिक धारणाओं के विषय में यह याद रखना अत्यन्त आवश्यक है किस निश्चित अर्थ में उन्हें ईसाई धर्म में समझाया जाता है । जैसा इस प्रकरण के पहले अनुच्छेद में स्पष्ट किया गया है धर्म-दर्शन की दृष्टि से 'सत्य' इसमें है कि धर्म विशेष का अपना विश्वास उसी में प्रचलित अर्थ के अनुसार प्रतिपादित किया जाय । ईसा मसीह धर्म-प्रचार के जिस आदेश को अपने चेलों

---

3. देखें : "constitution on the church". flannery., op, cit., pp., 350—423 abbott. op. cit. pp., 14—96
4. देखें : मारकुस, ११५ ।
5. प्रस्तुत अध्याय को समझाने के लिए पहला और दूस,रा अध्याय बिलकुल आवश्यक हैं ।
6. मत्ती २८१६ ।

को सौंप देते थे, उसी को पिता-परमेश्वर की ओर से अपने आपको सौंपा हुआ आदेश मानते थे। अतः उन्होंने अपने प्रेरितों से वैसे ही कहा : जिस प्रकार पिता ने मुझे भेजा, **उसी प्रकार** मैं तुम्हें भेजता हूं।[7] अपने प्रवर्तक के उस विश्वास के आधार पर ईसाई समुदाय ने ठीक से यह निष्कर्ष निकाला कि अनादि काल से पिता परमेश्वर ने पुत्रेश्वर को मानव जाति का मुक्तिदाता नियुक्त किया है।। फिर, उस दृष्टिकोण के अनुसार, यदि ईसा मसीह को दिव्य अभिकल्प के बल पर मुक्ति का मध्यस्थ माना जा सकता है, तो ईसा-भक्तों का समुदाय भी पिता परमेश्वर के शाश्वत निर्णय के अनुकूल स्थापित प्रतीत होता है। अब ईसाई कलीसिया अपने आपको न केवल परमेश्वर से ही उत्पन्न मानती है, वरन् आज तक अन्तर्यामी के रूप में उन्हीं से अनुप्राणित भी समझती है। उसका विश्वास है कि पवित्र आत्मा अदृश्य रूप से ईसाई समुदाय में विद्यमान होकर भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में उसका पथप्रदर्शन करती रहती है। इस प्रकार ईसाई समुदाय आदि उत्पत्ति, ऐतिहासिक स्थापना और वर्त्तमान स्थिति में भी त्रियेक परमेश्वर से घनिष्ठ सम्बन्ध रखने का दृढ़ विश्वास करता है।

सामान्य रूप से किसी भी धर्म का तात्पर्य है कि मानव परम तत्त्व से एकता का संबंध रखने का प्रयास करता है। अब, ईसाई दृष्टिकोण से यदि ईसा मसीह को उस एकता का अनिवार्य मध्यस्थ माना जाता है, तो ईसाई समुदाय का उन्हीं से विशेष रूप से संयुक्त होना बोधगम्य ही है। पुत्रेश्वर मसीह से अपने उस संबंध को कलीसिया भिन्न-भिन्न दृष्टांतों द्वारा अभिव्यक्त करती है। स्वयं ईसा मसीह के शब्दों के बल पर कलीसिया अपनी तुलना उसी रेवड़ से करती है, जिसकी रक्षा मेषपाल के प्रेम से ईसा करते हैं; या कलीसिया एक ऐसे भवन के सदृश है, जिसकी आधार-शिला उसका प्रवर्तक है। किंतु कोई दृष्टांत संबंध की घनिष्ठता को उतना स्पष्ट नहीं करता है, जितना शरीर और शिर का। कलीसिया-रूपी शरीर का भौतिक शरीर से प्रभेद करने के निमित उसे रहस्यात्मक शरीर[9] कहा जाता है; लेकिन आध्यात्मिक होने पर भी उक्त संबंद्ध को कम वास्तविक नहीं माना जाता है। "आध्यात्मिक शरीर" दृष्टांत के अनेक पहलू हैं। एक दृष्टि से ईसा कलीसिया-रूपी शरीर का जीवन-स्रोत दिखाई पड़ते हैं। शरीर से संयुक्त होने से ही विभिन्न अंग अपने कार्य कर सकते हैं। एक अन्य की तुलना में ईसा अपने को एक दाखलता कहते हैं, जिससे वियुक्त होकर भक्त-रूपी टहनियों का मुरझाना अनिवार्य है।[10] फिर, यदि ईसा अपने भक्तों की जीवधारा हैं, तो उनके "अंग" इहलोक में "शीर्ष" के

7. योहन 2021।
8. देखें : योहव, 101—18।
9. Mystical Body.
10. देखें : योहन 15, 1-8।

दुःखभोग में सहभागी होने के बाद, परलोक में उनके पुनरुत्थान की महिमा को भी प्राप्त करेंगे। दूसरी ओर, शरीर का दृष्टांत भक्त-रूपी भिन्न-भिन्न अंगों का पारस्परिक संबंध भी अभिव्यक्त करता है। अंगों की विविधता के बावजूद शरीर की एकता बनी रहती है; अंततः ईसाई समुदाय की एकता भिन्न-भिन्न सदस्यों के ईसा मसीह से संबद्ध पर ही आश्रित है।[11]

पूर्ववर्ती अनुच्छेदों में हमने ईसाई धर्म-विश्वास के अनुसार कलीसिया का दिव्य स्वभाव वर्णित किया : उसकी स्थापना पिता-परमेश्वर के शाश्वत निर्णय के अनुकूल हुई ; वह अपने को पवित्र आत्मा से अनुप्राणित मानती है ; उसका दृढ़ विश्वास है कि वह किसी रहस्यमय, लेकिन कम यथार्थ रूप से नहीं, पुत्रेश्वर ईसा मसीह के जीवन में ही सहभागी है। परन्तु उसके दिव्य स्वभाव के विपरीत, ईसाई कलीसिया मानव संस्था दिखाई पड़ती है। उसका प्रवर्तक ईसा नामक एक ऐतिहासिक व्यक्ति है ; उसकी उत्पत्ति और विकास अन्य ऐतिहासिक धर्म-परम्पराओं के सदृश कालिक घटनाएं हैं ; उसके धर्माधिकार और सदस्य जन-साधारण से भिन्न नहीं हैं। इतना ही नहीं, अपनी श्रेष्ठता के बावजूद उसकी कमी, कमजोरी, हां उसके दोष भी प्रत्यक्ष ही हैं। कलीसिया इस तथ्य से अनजान नही है अपने को 'पवित्र' कहने पर भी कलीसिया स्वीकार करती है कि उसके सदस्य पापी मनुष्य हैं, जिन्हें मुक्ति की आवश्यकता है। वास्तव में कलीसिया का दो तरफा स्वभाव है : वह शाब्दिक अर्थ में दिव्य भी है, और मानवी भी ; लेकिन सांसारिक होने पर भी, वह अपने को मानव मात्र नहीं, बल्कि दिव्य ही समझती है। ईसाई समुदाय की अपने स्वभाव के विषय में उपर्युक्त धारणा उसके मुक्ति प्रत्यय से संगत भी है : यद्यपि ईसा मसीह ने मुक्ति–कार्य जारी रखने के लिए मानव का सहयोग लेने का निर्णय किया है। कलीसिया उस सिद्धि को प्राप्त करने का परमेश्वर से अनुप्राणित मानव साधन है।

कलीसिया के आध्यात्मिक पहलू का विवरण करने के बाद अब हम उसके सामाजिक पहलू पर ध्यान देंगे। वास्तव में दोनों परस्पर अविच्छेद्य हैं। "रहस्यात्मक शरीर" का दृष्टांत कलीसिया का ईसा मसीह से आध्यात्मिक संबंद्ध दिखाने के अतिरिक्त, सदस्यों की सामाजिक एकता भी प्रस्तुत करता है। उस सामाजिक पहलू में भी मुक्ति की विशिष्ट धारणा निहित है। ईसाई दृष्टिकोण से परमेश्वर का अभिकल्प पृथक-पृथक व्यष्टियों को मुक्त करना नहीं है, बल्कि उनके सह-व्यक्तियों से संबद्ध में ही मुक्ति अभिप्रेत है। अतः मानव-जाति को मुक्ति का वरदान देने के लिए, उसे कलीसिया-स्वरूप समाज में एकत्र करना आवश्यक है। उक्त धारणा पूर्णतः बाइबिल विचारधारा पर आश्रित है। बाइबिल पूर्वार्द्ध के अनुसार यहूदी

---

11. "आध्यात्मिक शरीर" सम्बन्धी विवरण बाइबिल के निम्नलिखित सन्दर्भ में देखें : कुरिंतियों के नाम संत पौलुस का पहला पत्र १२. 12—30।

जाति चयनित प्रजा है, जिसे परमेश्वर ने "विधान" द्वारा अपने से संयुक्त किया है। वही ईश-प्रजा शताब्दियों तक आगामी मसीह से मुक्ति की प्रतीक्षा करती रही।[12] उत्तरार्द्ध के अनुसार ईसा मसीह से स्थापित कलीसिया में उस प्रतीक्षा की पूर्ति हुई : ईसाई समुदाय अपने को यहूदी जाति की उत्तराधिकारीणी नयी ईश-प्रजा मानता है।[13] लेकिन प्रारम्भिक ईश-प्रजा के विपरीत, जो यहूदी जाति मात्र तक सीमित थी, कलीसिया में गैर-यहूदी भी सम्मिलित हुए। इस उदारता के परिणामस्वरूप ईसाई समुदाय के विस्तार की सीमा न रही। आज दुनिया भर में शायद ऐसा कोई देश- राष्ट्र या जाति नहीं है, जहां ईसा-भक्त नहीं हैं। यह सच है कि जन-संख्या की तुलना में ईसाई अल्पांश ही हैं, लेकिन इससे अधिक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि कलीसिया जाति-भेद या वर्ण-भेद न करते हुए अपनी गोद से किसी को भी अपवर्जित नहीं करना चाहती है। उसकी एकमात्र सीमा मानव-जाति ही है, और इसलिए कलीसिया अपने को "कैथोलिक"[14], अर्थात् "सार्वभौम कहती है। मुक्ति के उक्त सामाजिक परिप्रेक्ष्य में सार्वभौम धर्म-संघ का अंतिम उद्देश्य है : संपूर्ण मानव-जाति की एकता का पुनःस्थापना। "पुनः" इसलिए कि एक ही परमेश्वर से उत्पन्न होने के फलस्वरूप आदि में संपूर्ण मानव-जाति की एकता वर्तमान थी। यदि ईसाई दृष्टिकोण से मुक्ति सामाजिक एकना से संबंध रखती है, और सबों को मुक्ति प्राप्त करना चाहिए, तो संपूर्ण मानव-जाति की प्रारम्भिक एकता की पुनःस्थापना आवश्यक ही है।

इस सैद्धांतिक आदर्श को छोड़कर अब यह अधिक व्यावहारिक प्रश्न पूछा जा सकता है, कि तथाकथित "कैथोलिक कलीसिया" के सदस्य कौन-कौन हैं? कारण, सार्वभौम होने पर भी, कोई जाति-प्रभेद न करने पर भी, वास्तव में एकमात्र कलीसिया में सभी मनुष्य तो क्या, सभी ईसाई भी नहीं सम्मिलित हैं। दूसरे शब्दों में कैथोलिक कलीसिया की सदस्यता किस विशेष लक्षण से निर्धारित है? इन प्रश्नों के उत्तर में कहना है कि उसका मूलाधार ईसा मसीह द्वारा प्रस्तुत "सुसमाचार" की निष्ठापूर्ण स्वीकृति है। उस शुभ संदेश का सार यह है कि ईसाई कलीसिया का प्रवर्तक पुत्रेश्वर ही है और वही मानव-जाति का एकमात्र मुक्ति दाता है। अब, उस आन्तरिक विश्वास की बाह्य अभिव्यक्ति भी है। अतः ईसा-भक्ति के अतिरिक्त कैथोलिक कलीसिया में सम्मिलित होने के लिए दो और शर्तें हैं। पहली, 1, ईसा-भक्त को कलीसिया में प्रचलित सात संस्कारों को भी स्वीकार करना पड़ता है।। वे निम्नलिखित हैं : स्नान-संस्कार और दृढ़ीकरण या दीक्षा

---

12. ऊपर देखें : पहला अध्याय, प्रकरण 2 (ख,ग) और 3 (ख)।

13. ऊपर देखें : दूसरा अध्याय प्रकरण 3 (क)।

14. Catholic, एक यूनानी शब्द, जिसका अर्थ है : "विश्व भर में (फैला हुआ)"।

के संस्कार ; अपने अपराधों की क्षमा प्राप्त करने के लिए पाप की आत्म स्वीकृति ; परमप्रसाद : याजक या विवाह-संस्कार.रोगियों का अंतर्मलन। दिव्य जीवन प्राप्त करने के लिए उपर्युक्त साधनों को ईसा मसीह के निर्णय के अनुसार स्थापित माना जाता है, इसलिए ईसा-भक्तों को उन्हें निष्ठापूर्वक मान लेना पड़ता है । दूसरी शर्त है कैथोलिक कलीसिया के धर्म:तन्त्र की आत्म स्वीकृति। अगले प्रकरण में यह समझाया जाएगा कि कलीसिया के वर्तमान धर्माधिकारी स्वयं ईसा मसीह द्वारा नियुक्त अध्यक्षों के उत्तराधिकारी है । तदनुसार कलीसिया उन्हें ईसा मसीह का प्रामाणिक प्रतिनिधि मानती है ।

दुर्भाग्य की बात है कि इतिहास के सिलसिले में ईसाई कलीसिया में अनेक मतभेद उत्पन्न हुए, जिनके फलस्वरूप भिन्न-भिन्न ईसाई सम्प्रदाय कैथोलिक कलीसिया की एकता से अलग होने लगे । विच्छेद इससे स्पष्ट दिखाई पड़ता है कि वियुक्त ईसाई कलीसियाएं एकमात्र कैथोलिक कलीसिया के परमाध्यक्ष को अस्वीकार करती हैं। इसके बावजूद तथाकथित "रोमन" [15]कैथोलिक कलीसिया का दावा है कि वह स्वयं ही ईसा मसीह द्वारा स्थापित यथार्थ कलीसिया है। अवश्य ही यह विरोधाभासी बात है कि अनेक में से एक ईसाई संप्रदाय अन्य ईसाई कलीसियाओं की अपेक्षा अपने को ईसा मसीह द्वारा एकमात्र कैथोलिक या सार्वभौम कलीसिया कहने का साहस करता है। वास्तव में यह सत्य हो या न हो, उपर्युक्त दावा कैथोलिक कलीसिया का प्रामाणिक आत्म-प्रतिपादन है। अंत में उल्लेखनीय बात है कि वही कैथोलिक कलीसिया पृथक-पृथक कलीसियाओं की एकता की ओर समकालीन आंदोलन को बहुत प्रोत्साहन देती है । अतः उसका दृष्टिकोण वास्तव में "कैथोलिक" बना रहता है, क्योंकि वह अपनी गोद में से किसी को अपवर्जित नहीं करना चाहती है ।

(ख) धर्माधिकारी--वर्ग और अयाजक--वर्ग :

कोई भी सामाजिक संस्था किसी न किसी अधिकार के अभाव में थोड़ी देर तक भी नही बनी रह सकती है। एक दृष्टि से मानव संस्था होने के कारण, ईसाई समुदाय में भी धर्माधिकारियों का नियुक्त किया जाना आवश्यक है। लेकिन कलीसिया के मतानुसार वह एक दिव्य संस्था भी है। अतः यह स्वाभाविक ही है कि कलीसिया में प्रचलित धर्म तन्त्र दिव्य निर्णय के बल पर स्थापित माना जाता है । वास्तव में कलीसिया अपने मौलिक धर्म तन्त्र को पुत्रेश्वर ईसा मसीह द्वारा ही निर्मित्त मानती है। अब सुसमाचारों से यह तथ्य असंदिग्ध प्रतीत होता है कि ईसा मसीह ने धर्मप्रचार का कार्य अपने उन बारह इष्ट चेलों को सुपुर्द किया, जिन्हें यूनानी 'अपोस्तोलोस' (अक्षरशः भेजा हुआ) शब्द के अनुसार, प्रेरित कहा जाता है । 'ईसा ने उन (चेलों) में से बारह को नियुक्त किया, जिससे वे लोग उनके साथ रहें

15. ।"रोमन" इसलिए क्योंकि कैथोलिक कलीसिया का परमाध्यक्ष रोम का धर्माध्यक्ष है ।

ग्रौर वह उन्हें सुसमाचार का प्रचार करने भेज सकें।[16] उल्लेखनीय बात है कि ईसा मसीह द्वारा नियुक्त उत्तराधिकारी एक प्रेरित-मण्डल में सम्मिलित थे, जिसका प्रधान उनमें से एक, ग्रर्थात् पेत्रुख, ईसा मसीह द्वारा ही नियुक्त किया गया था। 'मैं (ईसा) तुमसे कहता हूं कि तुम पेत्रुख ग्रर्थात् चट्टान हो ग्रौर इस चट्टान पर मैं ग्रपनी कलीसिया बनाऊंगा ।[17] ऐतिहासिक श्रोतों से यह भी दिखाई पड़ता है कि बाद में ईसा मसीह से नियुक्त प्रेरितों ने ग्रपना ग्रधिकार हस्तारोपण संस्कार द्वारा ग्रपने उत्तराधिकारियों को सुपुर्द किया । उन्हें यूनानी में एपिस्कोपोस[18] ग्रक्षरश: 'ग्रध्यक्ष'—कहा जाता है। इस प्रकार प्रेरितिक वंश ग्रादि-प्रेरितों से लेकर ग्राज तक बना रहता है। फिर, जिस प्रकार वर्तमान धर्माध्यक्ष ईसा से नियुक्त प्रेरितों के उत्तराधिकारी हैं, उसी प्रकार वर्तमान संत पिता या परमाध्यक्ष[19] भी ग्रखंड वंश के माध्यम से प्रेरित मंडल के प्रधान का उत्तराधिकारी है । फलत: यह दावा कि कलीसिया का वर्तमान धर्म तन्त्र ईसा मसीह द्वारा ही स्थापित किया गया है, ऐतिहासिक दृष्टि से निराधार नहीं है।

इस भूमिका के बाद ग्रब हम कैथोलिक कलीसिया का वर्तमान धर्म तन्त्र संक्षेप में वर्णित करेंगे। ग्रादि प्रेरित मण्डल के सदृश संपूर्ण विश्व के धर्माध्यक्ष भी धर्माध्यक्षीय मण्डल में सम्मिलित हैं, जिसका प्रधान ग्रादि मुख्य प्रेरित के समान परम धर्माध्यक्ष ही है । संपूर्ण कैथोलिक कलीसिया पर ग्रधिकार उसी धर्माध्यक्ष मण्डल को प्राप्त है, लेकिन स्पष्ट रूप से परमधर्माध्यक्ष के ग्रभाव में मण्डल ग्रधिकार-रहित है। विशेष ग्रवसरों पर विश्व के सभी धर्माध्यक्ष तथाकथित 'विश्व-सभा' में एकत्र होकर संपूर्ण कलीसिया के विषय में विचार-विमर्श करते हैं।[20] कलीसिया की स्थापना से लेकर ग्राज तक 21 विश्व-सभाएं हुईं, जिनमें से प्रथम येरुसालेम में ४८–४६ ई० में हुई थी थी, ग्रन्तिम रोम के वैटिकन में १६६२ से १६६५ तक चलती रही। इन विशेष ग्रवसरों के ग्रतिरिक्त विश्व के धर्माध्यक्ष परम धर्माध्यक्ष के नेतृत्व में प्रेम के सूत्र से परस्पर संयुक्त होकर, सभा में सम्मिलित न होते हुए भी ग्रपने-ग्रपने धर्म-प्रदेशों में से संपूर्ण कलीसिया का संचालन कर सकते हैं। स्वयं ईसा मसीह का प्रत्यक्ष प्रतिनिधि होने से परमधर्माध्यक्ष को भी सम्पूर्ण कलीसिया पर ग्रधिकार प्राप्त है। ग्रन्य धर्माध्यक्षों के सदृश स्वयं धर्माध्यक्ष होते हुए भी, परमधर्माध्यक्ष उनका प्रधान भी है । उपर्युक्त संपूर्ण कलीसिया पर ग्रधिकार के ग्रतिरिक्त ग्रपने-ग्रपने तथाकथित स्थानीय कलीसियाग्रों पर ग्रधिकार भी धर्माध्यक्षों

---

16. मारकुस 314।
17. मत्ती 16. 18 "पेत्रुस" यूनानी "पेत्रा" ग्रर्थात् 'चट्टान" के सदृश शब्द है।
18. जिसकी विकृति से अंग्रेजी शब्द Bishop व्युत्पन्न हुआ।
19. अंग्रेजी शब्द Pope यूनानी "पप्पस" ग्रर्थात् "पिताजी' की विकृति है।
20. Ecumenical Council.

को प्राप्त है। स्थानीय कलीसियाएं एकमात्र कैथोलिक कलीसिया-रूपी शरीर के भिन्न-भिन्न अंग जैसे हैं। उल्लेखनीय बात है कि धर्माध्यक्ष अपने-अपने धर्मप्रदेशों में परमधर्माध्यक्ष के प्रतिनिधि मात्र नहीं हैं, बल्कि अपने अधिकार के बल पर ही एकमात्र कलीसिया से संयुक्त होकर अपनी स्थानीय कलीसिया का संचालन करते हैं। इस संक्षिप्त विवरण से स्पष्ट है कि एकता के साथ-साथ कलीसिया में विविधता भी है, परम अधिकार धर्माध्यक्ष-मण्डल और उसके प्रधान, दोनों को प्राप्त है। जैसा ऊपर कहा गया है, ऐतिहासिक प्रमाण के बल पर उपर्युक्त धर्म-तन्त्र ईसा-मसीह द्वारा स्थापित आदि-कलीसिया के अनुकूल है।

प्रस्तुत अध्याय के पहले प्रकरण में हमने ईसाई समुदाय के आध्यात्मिक पहलू पर बल दिया है। तदनुसार कलीसिया में जो धर्माधिकारी नियुक्त किये जाते हैं, उन्हें याजक संस्कार द्वारा ही अधिकार का उत्तरदायित्व सुपुर्द किया जाता है। कलीसिया को एक दिव्य संस्था माना जाता है; अतः उसमें प्रचलित धर्म तन्त्र भी पावन या पवित्र धर्म-तन्त्र है। याजक-संस्कार के फलस्वरूप धर्माध्यक्षों को स्वयं ईसा-मसीह के प्रतिनिधि का पद प्राप्त है; उनके माध्यम से ईसा मसीह ही अपनी कलीसिया का संचालन करते हैं, अपने भक्तों को शिक्षा देते हैं, उन्हें पवित्र करते हैं। धर्माध्यक्ष के अतिरिक्त, जिसे परंपरा के अनुसार महायाजक कहा जाता है, साधारण याजकों[21] को भी उसी संस्कार के फलस्वरूप याजकीय कार्य सौंपा जाता है। वे अपने धर्माध्यक्ष के नेतृत्व में याजक-मण्डल से संयुक्त होकर उनसे सहयोग करते हैं। विशेष रूप से उनकी धर्म-सेवा इसमें है कि वे ईसाईयों की भलाई के लिए भिन्न-भिन्न संस्कारों का अनुष्ठान करते हैं। पर याजक-संस्कार का एकमात्र अनुष्ठाता धर्माध्यक्ष ही है।

याजक-पद को कलीसिया पर शासन करने के लिए नहीं, बल्कि सेवार्थ ही प्राप्त किया जाता है, प्रवर्तक के इस कथन के अनुसार कि वह "अपनी सेवा कराने नहीं, बल्कि सेवा करने के लिए आया है।"[22] पवित्रीकरण और संचालन कार्य के अतिरिक्त धर्माध्यक्षों का विशेष कार्य धर्म-शिक्षा देना है। पुत्रेश्वर होने के कारण ईसा मसीह द्वारा प्रस्तुत संदेश को दिव्य प्रकाशना माना जाता है।[23] अतः केवल उन्हीं की ओर से अधिकृत धर्म शिक्षक उसकी व्याख्या कर सकते हैं। धर्माध्यक्षों को ईसाई अपने धर्म का आचार्य मानते हैं, जो ईश-संदेश के प्रामाणिक प्रतिपादक रक्षक और प्रचारक हैं। इस संदर्भ में हमें भ्रमातीतत्व की विशेषता का उल्लेख करना चाहिए। स्पष्ट रूप से कलीसिया अपने को सांसारिक, वैज्ञानिक या दार्शनिक

---

21. उन्हें ईसाई अर्थपूर्ण रीति से Father या बाबा कहते हैं।
22. मत्ती 20 · 28।
23. "प्रकाशना" धारणा का वर्णन पहले अध्याय के दूसरे प्रकरण (क) में मिलता है। "विश्वास" विषयक मनुच्छेद को भी देखें (अध्याय 2- प्रकरण 3. (ख)।

विषयों में नहीं, बल्कि ईश-संदेश के विषय में ही भ्रमातीत मानती है। उसका दावा है कि जो प्रकाशना का प्रतिपादन या व्याख्या उसके द्वारा प्रस्तुत की जाती है, वही प्रकाशना का सही अर्थ है। इस विश्वास का आधार ईसा मसीह द्वारा अपने प्रेरितों को दिया हुआ आश्वासन है : "पवित्र आत्मा, जिसे पिता मेरे नाम पर भेजेगा, तुम्हें सब कुछ समझाएगा। मैंने तुम्हें जो कुछ बताया, वह उसका स्मरण दिलाएगा।"[24] चूंकि अंतर्यामी पवित्र आत्मा सब ईसाइयों के अभ्यन्तर में रहता है, इसलिए संपूर्ण कलीसिया का अपने प्रवर्तक की शिक्षा से विचलित होना असंभव है। ईश-संदेश के विषय में जो कुछ संपूर्ण कलीसिया, अर्थात् धर्माधिकारी वर्ग से लेकर विश्वासी गण तक, एक मत होकर प्रामाणिक मानती है, इसमें कोई भ्रम नहीं हो सकता है। भ्रमातीतत्व का यह वरदान विशेष रूप से धर्माध्यक्ष-मण्डल को भी प्राप्त है। कारण, उन्हें याजक-संस्कार द्वारा ईसा मसीह के निर्णय के अनुसार कलीसिया में अधिकृत धर्म-शिक्षक नियुक्त किया गया है। परमधर्माध्यक्ष को भी उसके परमाधिकार के बल पर प्रामाणिक धर्म-शिक्षक माना जाता है। वह तो स्वयं ईसा मसीह का प्रत्यक्ष प्रतिनिधि है। निस्संदेह उपर्युक्त बातें संदेहास्पद प्रतीत होंगी, यदि कलीसिया मात्र एक मानव संस्था है। लेकिन, उसका अपना दृढ़ विश्वास है कि वह परमेश्वर ही अनुप्रमाणित है और प्रस्तुत संदर्भ में हमारा उद्देश्य केवल कलीसिया में प्रचलित धारणाओं का सही प्रतिपादन है।

किसी भी समाज का वर्णन जो अधिकारी वर्ग तक सीमित है, अधूरा रहता है। अतः अब हम तथाकथित 'अ-याजक-वर्ग' का उल्लेख करें। आखिर कलीसिया ईश-प्रजा ही है। धर्माधिकारी-वर्ग और धर्मसंधियों को छोड़कर (उत्तरोक्तों के विषय में बाद में कुछ कहा जाएगा) अयाजक-वर्ग में अन्य सभी ईसा-भक्त सम्मिलित हैं। यह न समझा जाए कि संपूर्ण धर्मसेवा एकमात्र याजक-वर्ग को सपुर्द की गयी है। उनका कार्यक्षेत्र मुख्यतः धार्मिक बातों तक सीमित है, जबकि अयाजक-वर्ग लौकिक क्षेत्र में क्रियाशील है। व्यावहारिक बातों में अपना और समाज का पवित्रीकरण उसका कार्य है। इस प्रकार संपूर्ण सांसारिक जीवन ईसाइयों के लिए एक साधना बन जाता है। अयाजक वर्ग को यद्यपि धर्माधिकारियों का आदर और आज्ञापालन करना है, तो भी वे धर्मसेवा में उनके सहयोगी है। ईसाई होने की दृष्टि से अयाजक-वर्ग की श्रेष्ठता धर्माधिकारी-वर्ग से कम नहीं है। उनका संपूर्ण जीवन याजकीय भाव से उत्प्रेरित हो सकता है, यदि वे अपना दैनिक व्यवसाय, अपना सुख-दुःख बलिदान स्वरूप, ईश-सेवा में समर्पित कर दें। अपने सदाचार द्वारा या व्यक्त रूप से भी उन्हे ईसा-संदेश को घोषित करना चाहिए। ईश-राज्य न्याय, प्रेम और शांति का राज्य है। सामाजिक, औद्योगिक, आर्थिक क्षेत्रों में वे न्याय-संगत व्यवस्था को निर्मित करने से उस राज्य

---

24. योहन : 14 . 26 ।

की स्थापना करते हैं। इससे स्पष्ट दिखाई पड़ता है कि ईसाई दृष्टि से धार्मिक आदर्श व्यावहारिक जीवन से अविच्छिन्न ही है।

अन्त में धर्म-संघी-वर्ग का संक्षेप में उल्लेख करना है। संस्थागत दृष्टि से यह उपर्युक्त दो वर्गों से भिन्न है। फिर, यद्यपि धर्मसंघी याजक भी हो सकते हैं, वे धर्मतन्त्र के अधीन हैं। धर्म-संधियों या संघनियों की विशेषता त्रिविध व्रतों का ग्रहण है, आजीवन ब्रह्मचर्य, निर्धनता और धर्म-संघ के अधिकारी का आज्ञापालन। इन व्रतों के पालन से धर्मसंघी ईसा मसीह का विशेष अनुकरण करना चाहते हैं। प्रभु ने अपने उदाहरण से ब्रह्मचर्य की सलाह उन्हीं को दी, जो परमेश्वर के अनुग्रह से उस जीवन की ओर आकर्षित हैं। निर्धनता का आदर्श ईसा मसीह ने इस प्रकार प्रस्तुत किया : "यदि तुम पूर्ण होना चाहते हो, तो जाओ, अपनी सारी सम्पत्ति बेचकर गरीबों को दे दो। तब आकर मेरा अनुकरण करो'।[25] आज्ञापालन के विषय में संत पोलुस यह लिखते हैं कि ईसा मसीह 'मरण तक, हां क्रूस पर मरण तक (अपने स्वर्गिक पिता के प्रति) आज्ञाकारी बने।'[26] इस प्रकार तीन व्रतों का पालन करने से धर्मसंघी ईसा मसीह से घनिष्ठ सम्बद्ध रखना चाहते हैं। धर्मसंघों की विविधता ईसा मसीह के मुक्ति-कार्य के विविध पहलुओं को प्रदर्शित करती है। उनके समान वे भी प्रार्थना करते हैं, धर्म शिक्षा देते हैं, गरीबों की सेवा और रोगियों की सुश्रूषा करते हैं। सांसारिक विषयों से अनासक्ति के आदर्श से वे पारलौकिक मूल्यों की श्रेष्ठता के लिए साक्ष्य देते हैं।

II कलीसिया का अन्य धर्मों से सम्बन्ध

(क) धार्मिक स्वतन्त्रता

पहले प्रकरण में हमने कलीसिया का उसके प्रामाणिक आत्मप्रतिपादन के आधार पर वर्णन किया है। प्रस्तुत प्रकरण में हम फिर दो ऐसे लेखों का उपयोग करेंगे। जिनमें कलीसिया दूसरे धर्मों से अपना सम्बन्ध निर्धारित करती है और 'धार्मिक स्वतन्त्रता' का आदर्श प्रतिपादित करती है।[27] इन बातों के विषय में हम कलीसिया का कथन सत्य मानेंगे, क्योंकि किसी की सत्यवादिता पर सन्देह करना अनुचित होता। प्रारम्भ से ही उसके दृष्टिकोण की उदारता इससे स्पष्ट दिखाई पड़ती है कि वैटिकन विश्वसभा उन बातों की अपेक्षा जो विविध धर्मों में भिन्न

---

25. मत्ती 19, 21।
26. फिलिप्पियों के नाम पत्र 2.8।
27. "Declaration on the Relation of the Church to Non-Christian Religions"; Flannery, pp. 738-42; Abbott, pp. 660-68; "Declaration on Religious Freedom"; Flannery, pp. 799-812; Abbott, pp. 675.96.

प्रतीत होती हैं, उन्हीं पर ध्यान देना चाहती है जो सभी में सामान्य हैं। धर्मप्रभेद के बावजूद मानव समाज की मूलभूत एकता बनी रहती है। उत्पत्ति की दृष्टि से सब जातियां एक ही सृष्टिकर्त्ता परमेश्वर से उद्भूत हुई; अन्तिम उद्देश्य की दृष्टि से उन सब की प्रारम्भिक एकता का पुनर्निर्माण परमेश्वर पर ही आधारित किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त बाइबिल ग्रन्थ के अनुसार मुक्ति किसी एक वर्ग तक सीमित नहीं है, बल्कि उसके विपरीत परमेश्वर 'चाहता है कि सभी मनुष्य मुक्ति प्राप्त करें और सत्य जान जाएं'।[28] अन्य धर्मों में जो कुछ सत्य है, जो कुछ पावन है, उसे ईसाई धर्म उदारतापूर्वक अपनाना चाहता है। वह उनमें प्रचलित धर्म सिद्धांतों और धर्मशास्त्रों का आदर भी करता है। कारण, यद्यपि उनमें प्रस्तुत धार्मिक दृष्टिकोण उसके अपने दर्शन से भिन्न हो सकता है, तथापि भिन्न-भिन्न धर्मों में एक ही सत्य का आविर्भाव मिलता है। फिर भी, इस उदारता के बावजूद कैथोलिक कलीसिया समन्वयवाद और सर्व-धर्मसमतावाद से दूर रहना चाहती है।

उपर्युक्त लेखों में से पहला सांस्कृतिक धर्मों के प्रसंग में भारतीय धर्मों का भी उल्लेख करता है। हिन्दू धर्म की इसलिए प्रशंसा की जाती है, क्योंकि वह दिव्य रहस्य पर गम्भीर चिंतन करते हुए पौराणिक कथाओं की विविधता या दर्शनों के गूढ़ विवेचन से उसे अभिव्यक्त करने का प्रयास करता है। इसके अतिरिक्त हिन्दू या तो कर्ममार्ग, या ज्ञान और भक्तिमार्ग द्वारा संसार से मुक्ति प्राप्त करने की अभिलाषा करते हैं। बौद्ध धर्म की भी प्रशंसात्मक रीति से चर्चा की जाती है, विशेषकर इसलिए कि वह क्षणभंगुर तत्त्वों की अपेक्षा मुक्तिदायक प्रबोधन की प्राप्ति करना चाहता है। इस्लाम के विषय में ईसाई धर्म यह स्वीकार करता है कि वे दोनों अनेक दृष्टिकोणों से मेल खाते हैं, जैसे एकेश्वरवाद की स्वीकृति और बाइबिल-परम्परा से सम्बद्ध। इस संक्षिप्त विवरण से यह स्पष्ट दिखाई पड़ता है कि कैथोलिक कलीसिया में दूसरे धर्मों के प्रति प्रामाणिक दृष्टिकोण पूर्णरूपेण भावात्मक है।[29]

कैथोलिक कलीसिया की उदारता का एक और प्रमाण यह है कि वह औपचारिक रूप से 'धार्मिक स्वतन्त्रता' का समर्थन करती है। इससे क्या तात्पर्य है? निषेधात्मक अर्थ में मानव को धार्मिक बातों के विषय में सब प्रकार की विवशता या बाध्यता से उन्मुक्त होना चाहिए। भावात्मक अर्थ में प्रत्येक को इन बातों में अपने अन्तर्विवेक के अनुकूल ही व्यवहार करना चाहिए। उक्त धार्मिक स्वतन्त्रता का आदर्श ईसाई दर्शन के मूल सिद्धांतों पर आधारित है। पहले, मानव की श्रेष्ठता इतनी अधिक है कि स्वयं व्यक्ति के अतिरिक्त कोई दूसरा उसके भाग्य के विषय में निर्णय नहीं कर सकता है। ऊपर, नीति-शास्त्र विषयक अध्याय में हमने

---

28. तिमथी के नाम पहला पत्र 2, 4।
29. देखें—Flannery, pp, 739–40; Abbott, pp. 661–63.

यह कहा है कि नैतिक, और फलतः धार्मिक मूल्यों के विषय में व्यक्ति का अपना अन्तर्विवेक ही अन्तिम मानदण्ड है। लेकिन इस सिद्धांत का निष्कर्ष सापेक्षवाद नहीं है। जिस प्रकार नीतिशास्त्र का विषयनिष्ठ पहलू 'स्वभावगत धर्म' है, उसी प्रकार धार्मिक क्षेत्र में सत्य की प्रधानता माननी पड़ती है। अतः धार्मिक स्वतन्त्रता में कर्त्तव्य और उत्तरदायित्व भी निहित हैं। सत्य वास्तव में क्या है, उसी को ढूंढ़ निकालना प्रत्येक मानव का कर्त्तव्य है। सत्य के प्रति अन्तर्विवेक का निर्णय वैकल्पिक नहीं, सत्य की स्वीकृति अनिवार्य है। सत्य ही अपनी प्रामाणिकता से मानव को विवश कर सकता है। लेकिन, व्यक्तिगत उत्तरदायित्व के अतिरिक्त सत्य की खोज में सामाजिक पहलू को भी देखना पड़ता है। संवाद के शांतिपूर्ण वातावरण में मानव को सहव्यक्तियों से शिक्षा प्राप्त करने के लिए तत्पर होना चाहिए। अन्त में व्यक्ति की श्रेष्ठता और सत्य की प्रधानता के समान स्वयं धर्म का स्वभाव भी धार्मिक स्वतन्त्रता की ओर संकेत करता है। व्यष्टि की दृष्टि से धर्म का मर्म इसमें है कि मानव अपने आपको परमेश्वर की सेवा में समर्पित करता है। उस आंतरिक अभिवृत्ति में किसी का भी हस्तक्षेप नहीं हो सकता है; वह स्वयं व्यक्ति के स्वतन्त्र निर्णय से ही उत्पन्न हो सकती है।

उपर्युक्त सैद्धांतिक विवरण के बाद अब यह विशेष प्रश्न उठता है कि धार्मिक स्वतन्त्रता में कौन-कौन अधिकार निहित हैं? परिवार की दृष्टि से माता-पिता ही अपनी संतान के लिए यह निर्धारित कर सकते हैं कि उन्हें कौन-सी धर्म-शिक्षा मिलनी चाहिए। जिस राज्य में केवल एक धर्म-शिक्षा को प्राप्त करने का अवसर मिलता है, या किसी प्रकार की धर्मशिक्षा उपलब्ध नहीं है, वहां उस अधिकार का उल्लघन किया जाता है। धार्मिक समुदाय की दृष्टि से उसके अधिकार निम्नलिखित हैं—अपने धर्माधिकारियों को नियुक्त करना; अपनी धार्मिक संस्थाओं की स्थापना और उनका संचालन करना; इस उद्देश्य से उपयुक्त धन-सम्पत्ति पर स्वामित्व रखना। प्रत्येक धर्म को धर्मप्रचार करने का अधिकार भी प्राप्त है। विशेष रूप से ईसाई धर्म में धर्म-प्रचार की क्या धारणा प्रचलित है, उसे प्रकरण में समझाया जाएगा। स्पष्ट रूप से धार्मिक स्वतन्त्रता के बल पर की हुई धर्मप्रचार करने की मांग ऊपर वर्णित व्यक्तिगत धार्मिक स्वतन्त्रता का विरोध नहीं करती है। इस प्रसंग में उक्त लेख में उद्धृत करने योग्य एक वाक्य मिलता है : 'सभी को ऐसे किसी भी कार्य से दूर रहना है, जिसमें बाध्यता का आभास तक या किसी भी प्रकार का प्रत्यायन प्रतीत होता है, विशेषकर दरिद्र या अशिक्षित लोगों के साथ व्यवहार करते हुए'।[30] स्व मानव-अधिकार होने से धार्मिक स्वतन्त्रता की रक्षा करना सरकार का कर्त्तव्य है। दूसरी ओर, ऐहिक तत्त्वों तक सीमित होकर सरकार धार्मिक विषयों में हस्तक्षेप नहीं कर सकती है। उदाहरणार्थ, जबकि उसे धर्मप्रचार में सब प्रकार की बाध्यता का विरोध करना है, वह किसी को स्वतः किसी धार्मिक समुदाय में सम्मिलित होने से नहीं रोक

सकती है। पारिभाषिक शब्द का प्रयोग न करते हुए भी वैटिकन विश्व-सभा वास्तव में धर्मनिरपेक्ष राज्य का आदर्श प्रस्तुत करता है। कैथोलिक कलीसिया अपने को अपने व्यवसाय की दृष्टि से किसी भी राष्ट्र की सरकार से स्वाधीन मानती है। साथ ही वह अपने समुदाय के सदस्यों को राष्ट्रीय बातों में राज्याधिकारियों की अधीनता स्वीकार करने का आदेश देती है। सन्त पौलुस ने तीतुस नामक धर्माध्यक्ष को इस प्रकार लिखा : 'सब को याद दिलाओ कि शासकों तथा अधिकारियों के अधीन रहना और उनकी आज्ञाओं का पालन करना उनका कर्त्तव्य है"।[31]

अब तक हमने विश्व-सभा के उक्त घोषणा-पत्र के आधार पर धार्मिक स्वतन्त्रता को दार्शनिक दृष्टि से प्रमाणित किया है; अब हम उसे ईसाई धर्म की दृष्टि से भी सिद्ध करें। अपने को पुत्रेश्वर से ही स्थापित धर्म मानकर कलीसिया यह समझती है कि वह ईश-संदेश का ही प्रचार करती है। अब ईश-सन्देश की स्वीकृति आंतरिक स्वतन्त्र निर्णय के फलस्वरूप उत्पन्न होने पर ही सच्ची और यथार्थ हो सकती है। मनपरिवर्तन के अभाव में धर्म-परिवर्तन निरर्थक है। अतः सार्थक धर्मप्रचार की आवश्यक शर्त धार्मिक स्वतन्त्रता ही है : उसी के वातावरण में मानव धर्म के विषय में अपनी व्यक्ति-श्रेष्ठता के अनुकूल स्वतन्त्र निर्णय कर सकता है। विश्व-भर में ईश-राज्य स्थापित करने में कलीसिया को अपने प्रवर्त्तक का यह कथन याद रखना है; "मेरा राज्य इस संसार का नहीं है"।[32] प्रेरितों ने भी कोई बल प्रयोग नहीं किया, वरन् ईश-शब्द के बल पर ही वे साहसपूर्वक ईसा-सन्देश को घोषित किया। "प्रेरित-चरित" के साक्ष्य के अनुसार वे 'निर्भीकता के साथ ईश्वर का वचन सुनाते रहे।'[33] औपचारिक रूप से धार्मिक स्वतन्त्रता का समर्थन करने से आधुनिक कलीसिया अखंड परम्परा से अपनी अनुरूपता अभिव्यक्त करती है। साथ ही वह इस सन्दर्भ में स्वालोचना करने से भी नहीं हिचकती। वह व्यक्त रूप से स्वीकार करती है कि 'समय-समय पर उसका व्यवहार पूर्ण रूप से ईसा-भाव के अनुकूल नहीं हुआ, या उसके प्रतिकूल भी हुआ; इस पर भी कलीसिया का यह सिद्धांत, कि किसी को धर्मपरिवर्तन के लिए बाध्य नहीं करना चाहिए, सर्वदा निर्विकार बना रहा।"[34] कलीसिया का दावा इसलिए अधिक सत्य सुनाई पड़ता है, क्योंकि वह अपना दोष भी स्वीकार करती है।

---

30. देखें—Flannery, p. 803; Abbott, p. 682,
31. तीतुस के नाम पत्र 3.1।
32. योहन 18. 36।
33. "प्रेरित-चरित" 4,31।
34. Flannery, p. 809; Abbott, p. 692-93.

(ख) धर्मप्रचार[35]

ईसाई धर्म सब धर्मों के लिए इन दो बातों को स्वीकार करता है : धार्मिक स्वतन्त्रता की आवश्यकता और धर्मप्रचार करने का अधिकार। ये दोनों परस्पर विरोधी नहीं हैं, यह इससे स्पष्ट दिखाई पड़ता है कि धार्मिक स्वतन्त्रता धार्मिक क्षेत्र में सब प्रकार की बाध्यता का निषेध करती है; दूसरी ओर, धर्मप्रचार की सही धारणा सत्य का प्रतिपादन मात्र है। लेकिन स्वतन्त्रता उत्तरदायित्व से वंचित नहीं हो सकती है। सत्य के प्रति मानव का दोहरा कर्त्तव्य है : पहला उसे स्वीकार करने का, दूसरा उसे घोषित करने का। कोई नहीं यह मान सकता है कि उसी को सम्पूर्ण सत्य प्राप्त है; अतः प्रत्येक को दूसरों से भी सत्य प्राप्त करने के लिए तैयार रहना चाहिए। साथ ही, निरपेक्ष होने से सत्य किसी की निजी सम्पत्ति—जैसा नहीं हो सकता है; अतः उसे दूसरों को भी सूचित करना है। इस दृष्टि से धर्मप्रचार न केवल एक अधिकार है, वह एक कर्त्तव्य भी जान पड़ता है। अब, धर्मदर्शन का एक उद्देश्य यह भी है कि हम किसी पराये धर्म का दृष्टिकोण समझ सकें फलतः, उपर्युक्त सामान्य व्याख्या के अतिरिक्त यह प्रश्न उठता है कि ईसाई धर्म के विशेष दृष्टिकोण के अनुसार धर्मप्रचार का सैद्धांतिक आधार क्या है ? हम इस बात पर भी ध्यान देंगे कि कहां तक ईसाई धर्म अन्य धर्मों से सत्य प्राप्त करने के लिए तैयार है।

कलीसिया में प्रचलित धर्मप्रचार की धारणा उसकी स्थापना में सम्बद्ध रखती है। अगले प्रकरण में यह समझाया गया है कि इसके अनुसार उसकी उत्पत्ति मात्र एक ऐतिहासिक तथ्य नहीं, बल्कि दिव्य निर्णय का परिणाम ही हुई। अब परमेश्वर का उद्देश्य कलीसिया तक सीमित नहीं है, 'क्योंकि वह चाहता है कि सभी मनुष्य मुक्ति प्राप्त करें और सत्य जान जायें।'[36] फिर, स्वयं इस उद्देश्य से प्रेरित होकर पिता परमेश्वर ने अपने दिव्य शब्द को **प्रेषित** किया जिससे वह मुक्ति का सन्देश घोषित करें। इसी उद्देश्य से परमेश्वर ने अन्तर्यामी पवित्र आत्मा को भी **प्रेषित** किया, जो आज तक ईसा मसीह द्वारा स्थापित कलीसिया को अनुप्राणित करती है। फलतः कलीसिया की अपने विषय में यह दृढ़ धारणा है कि वह परमेश्वर की ओर से एक मुक्तिदायक '**प्रेषण**'[37] के फलस्वरूप उत्पन्न हुई।

---

35. प्रस्तुत प्रकरण का मूल स्रोत है वैटिकन विश्व-सभा से 1965 में प्रकाशित "Decree on the Church's Missionary Activity", Flannery, pp, 813-56; Abbott, pp. 584-630.
36. तिमुथी के नाम पहला पत्र 2-4।
37. व्युत्पत्ति के अनुसार mission शब्द (लातीनी mittere अर्थात् "भेजना") "प्रेपण" का समानार्थ है।

जिस प्रकार उसके प्रवर्त्तक को परमेश्वर की ओर से प्रेषित मुक्तिदाता माना जाता है, उसी प्रकार कलीसिया अपने को भी मुक्ति-सन्देश का प्रचार करने के लिए प्रेषित मानती है। यह धारणा प्रेरितों से कहे ईसा मसीह के इन शब्दों में अभिव्यक्त है; 'जिस प्रकार पिता ने मुझे भेजा, उसी प्रकार मैं तुम्हें भेजता हूं।'[38] धर्मोत्साह की एकमात्र उपयुक्त व्याख्या दिव्य आदेश या "प्रेषण" की इस धारणा से ही मिल सकती है।

उपर्युक्त विवेचन से यह निष्कर्ष निकलता है कि ईसाई धर्म में धर्म-प्रचार और मुक्ति परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध रखते हैं। यहां मुक्ति की ईसाई धारणा विरोधाभास प्रतीत होती है। एक ओर मुक्ति सभी को प्राप्य है; दूसरी ओर वह एक ही मुक्तिदाता से प्राप्त की जा सकती है। यह बात सार्विक मुक्ति के विषय में ऊपर उद्धृत कथन से स्पष्ट जान पड़ती है। वास्तव में उसका पूरा रूप इस प्रकार है :

"वह (ईश्वर) चाहता है कि सभी मनुष्य मुक्ति प्राप्त करें और सत्य जान जायें। क्योंकि केवल एक ही ईश्वर है और ईश्वर तथा मनुष्यों के बीच **केवल एक ही मध्यस्थ** है, अर्थात् ईसा मसीह[39] किसी जाति-प्रभेद को न मानने के कारण ईसाई दृष्टिकोण की उदारता निर्विवाद है; इसके विपरीत ईसा मसीह को एकमात्र मुक्तिदाता कहने के फलस्वरूप उसकी दृष्टि की अनुदारता कम नहीं प्रतीत होती है। विरोधाभास दूर करने के लिए पहले हम सम्प्रति यह देखें कि यदि विषयनिष्ठ दृष्टि से मुक्ति की उपर्युक्त धारणा सही हो; तो उससे क्या निष्कर्ष अनिवार्य रूप से निकलते हैं? यदि वास्तव में ईसा मसीह के अतिरिक्त किसी अन्य से मुक्ति प्राप्त नहीं की जा सकती है, तो सभी को उन्हीं की शरण लेनी पड़ेगी। अब, ईसा मसीह से संयुक्त होना कलीसिया में सम्मिलित होने से अभिन्न है। कारण, आध्यात्मिक दृष्टि से कलीसिया को ईसा मसीह का शरीर ही माना जाता है, अर्थात ईसा-भक्त उनसे रहस्यात्मक सम्बन्ध रखते हैं, जिसके फलस्वरूप वे उन्हीं के दिव्य जीवन में सहभागी हैं। इस दृष्टि से यह दूसरा निष्कर्ष भी बोधगम्य प्रतीत होगा, कि जिसे स्पष्ट रूप से कलीसिया ईसा मसीह से स्थापित मुक्ति-साधन जान पड़ती है, वह मुक्ति प्राप्त नहीं कर सकता है, यदि वह कलीसिया में सम्मिलित होने से इन्कार करता है। साथ ही, इससे यह निष्कर्ष नहीं निकालना चाहिए कि कलीसिया की सदस्यता मात्र मुक्ति का पर्याप्त उपाय है। ईसा मसीह अपने अनुयायियों से एक ऐसी पवित्रता की आशा करते हैं, जो ईश-पुत्रों जैसी हो : 'तुम पूर्ण बनो, जैसे तुम्हारा स्वर्गिक पिता पूर्ण है।[40]

38. योहन 20.21।
39. तिमथी के नाम पहला पत्र 2.4-5।
40. मत्ती 5.48।

क्या उपर्युक्त सिद्धांत का निहितार्थ यह है कि ईसाईयों के अतिरिक्त और कोई नहीं मुक्ति प्राप्त कर सकता है ? ईसाई धर्म-सिद्धांत व्यक्त रूप से इस गलत निष्कर्ष का निषेध करता है । यदि वास्तव में परमेश्वर का निर्णय यह है कि 'सभी मनुष्य मुक्ति प्राप्त करें', तो निसंदेह वह उनको भी मुक्ति का साधन प्रदान कर सकता है, जो ईसाई धर्म को प्रामाणिक नहीं मानते हैं ।[41] फिर, यदि ईसाई धर्म के अभाव में भी मुक्ति सुलभ है, तो ईसाई धर्मप्रचार की आवश्यकता कहां ? यदि ईसाई वास्तव में एकमात्र अपने धर्म को ही मुक्ति का मार्ग मानते, तो इस प्रकार की अनुदारता के बावजूद हम शायद उनका धर्मोत्साह समझ सकते; लेकिन इसके विपरीत, ईसाई धर्म के अनुसार गैर-ईसाई भी मुक्ति प्राप्त कर सकते हैं । उस पर भी कलीसिया धर्मप्रचार करने के अपने कर्त्तव्य पर बल देती है । क्यों ? समस्या का समाधान मुक्ति के सामाजिक पहलू पर आश्रित है । एक ओर, परमेश्वर की दया से मुक्ति सभी मनुष्यों के लिए अभिगम्य है । दूसरी ओर, मुक्ति व्यष्टिगत मात्र नहीं हो सकती है : यदि मुक्ति संपूर्ण मानव की है, तो वह उसके सामाजिक पहलू से भी संबंध रखती है, जिसका विस्तार सम्पूर्ण मानव जाति तक है । मुक्ति-धारणा की इस दृष्टि से यह स्वाभाविक ही प्रतीत होगा कि मुक्ति प्राप्त करने के लिए सभी मानव एक ही "मुक्ति-समाज" में सम्मिलित हो जाएं । ईसाई दृष्टि से यह "मुक्ति-समाज" ईसा मसीह द्वारा स्थापित कलीसिया ही है । इससे यह दिखाई पड़ता है कि धर्मप्रचार का आदर्श मानव-समाज की उस एकता का पुनर्निर्माण ही है, जिसे स्थापित करने का स्वप्न हमारा आधुनिक युग देखता है । फिर भी, उपर्युक्त अनुदारता की आपत्ति इसलिए बनी रहती है, क्योंकि ईसाई धर्म केवल एक मुक्तिदाता को स्वीकार करता है । जैसे ऊपर उद्धृत कथन से स्पष्ट है,[42] एक ही मुक्तिदाता की स्वीकृति एकेश्वरयाद से संबंध रखती है । यदि एक ही परमेश्वर है, और यदि परमेश्वर ही मानव को मुक्ति प्रदान कर सकता है, तो एकमात्र मुक्तिदाता परमेश्वर ही है । एकेश्वरवाद को कोई अनुदार नहीं मानता है । कठिनाई तभी उत्पन्न होगी यदि हम एकमात्र ईश-मुक्तिदाता का अभिज्ञान करना चाहेंगे । ईसाइयों का दृढ़ विश्वास है कि एकमात्र परमेश्वर ने अपने को ईसा मसीह में प्रकट किया है । धर्मदर्शन किसी भी मूल्य-निर्णय से दूर रहकर उस दावे को इस अर्थ में 'सत्य' मानता है कि वह ईसाई धर्म में प्रामाणिक धारणा है ।

व्यावहारिक दृष्टि के धर्मप्रचार दो प्रकार का हो सकता है : ईश-संदेश को घोषित करना और स्थानीय कलीसिया को स्थापित करना । यदि ईसाई अपने धर्म के अनुसार पवित्र जीवन बिताएं, तो वे मौन रूप से अपने आचरण से ही यह दिखाते हैं कि वास्तव में ईसाई धर्म क्या है । ईसाई धर्म की विशेषता प्रेम है;

---

41. देखें—Flannery, p. Abbott, p. 593.
42. पादटिप्पणी 39 को देखें ।

अतः सत्कार्य, दया के कार्य, ईसाई धर्म के लिए उत्तम साक्ष्य दे सकते हैं, जैसे रोगियों की सुश्रूषा या पददलितों की उन्नति करना। शिक्षा भी सेवा करने का उपयुक्त क्षेत्र हो सकती है; वह तो राष्ट्र-निर्माण का एक महत्त्वपूर्ण उपाय ही है। आर्थिक और सामाजिक क्षेत्रों में न्यायसंगत व्यवस्था का संस्थापन भी ईश-सन्देश की घोषणा कर सकता है। लेकिन उन सत्कार्यों को "निष्काम कर्म" के रूप में करना चाहिए। उनसे प्राप्त फल अपना लाभ नहीं, अपने धर्म का विकास भी नहीं, वरन् सहव्यक्तियों और समाज की भलाई ही है। साथ ही दृष्टिकोण भौतिक प्रगति मात्र तक सीमित नहीं हो सकता है: व्यक्ति की श्रेष्ठता और समाज की एकता बढ़ाना उन कार्यों का मुख्य लक्ष्य है। कारण, ईसाई धर्म मानवतावाद के बिलकुल अनुकूल है, जब तक वह अनीश्वरवादी न हो। ईसाई अपने धर्म को व्यक्त रूप से भी प्रतिपादित कर सकते हैं, शांतिपूर्ण संवाद के वातावरण में। उल्लेखनीय बात है कि धर्मप्रचारक अपने को शिक्षक मात्र नहीं मानता है: उसे अन्य धार्मिक परम्पराओं से शिक्षा प्राप्त करने के लिए भी तत्पर रहना चाहिए। अन्य धर्मों में जो कुछ सत्य है, प्रशंसनीय या आदरणीय है, उसे ईसाई धर्म अंगीकार कर सकता है। भाषा, साहित्य और कला में अन्य धर्मों की अभिव्यक्ति को अपनाना आवश्यक है। अन्य जातियों के रिवाज या सामाजिक प्रथाएं बदलने के विपरीत उनका पालन करना पड़ता है। ईसाई विद्वान् गैर-ईसाई विचारधाराओं का अध्ययन भी करते हैं, क्योंकि वे उन्हें एकमात्र परमेश्वर से अनुप्राणित और प्रदीप्त मानते हैं। ये सब बातें उक्त वैटिकन विश्व-सभा द्वारा कलीसिया की परम्परा के अनुसार प्रामाणिक रूप से प्रस्तुत की गई हैं।[43]

धर्मप्रचार का दूसरा कार्य, अर्थात् स्थानीय कलीसियाओं का संस्थापन, रोपण के दृष्टांत से समझाया जा सकता है। स्वस्थ पौधे के समान स्थानीय कलीसियाओं को अपने-अपने देश की भूमि में जड़ें जमाना चाहिए। उन्हें परदेशी संस्था नहीं, वरन् स्वदेशी ही होना चाहिए। फिर, जिस प्रकार पौधा अपने को भौतिक वातावरण के अनुकूल बनाता है, उसी प्रकार स्थानीय कलीसिया को भी देश के सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन में समाविष्ट होना है। तभी वह भिन्न-भिन्न देशों में स्वस्थ पौधे के समान उग सकेगी। ईसाई दूसरों की अपेक्षा कम सच्चा नागरिक नहीं है; वह दूसरों के समान देश के सांस्कृतिक जीवन को अपना वरदान दे सकता है; वेश, भाषा या भोजन की दृष्टि से उसे सहदेशियों से भिन्न नहीं होना चाहिए। प्रायः प्रचलित स्थिति उस आदर्श से दूर है, इस तथ्य का निषेध नहीं किया जा सकता है। लेकिन प्रबुद्ध ईसाईयों की ओर से इस बात की आलोचना यह भी सिद्ध करती है कि व्यावहारिक ईसाई धर्म के स्वभाव का विरोध करती है। दृष्टांत का एक और पहलू यह है कि जिस प्रकार पौधा स्वतः ही विकसित हो

43. देखें : Flannery, p. 825; Abbott, p. 597--8.

जाता है, उसी प्रकार स्थानीय कलीसियाओं को आत्मनिर्भर होना है। इस सिद्धांत का एक निहितार्थ यह है कि स्थानीय कलीसियाओं के धर्माधिकारियों को विदेशी नहीं, देशज ही होना चाहिए।[44] अन्त में जिस प्रकार पौधा बीज उत्पन्न कर दूसरे पौधों को पैदा करता है, उसी प्रकार नयी स्थानीय कलीसियाएं भी धर्मप्रचार का भार अपने ऊपर लेना प्रारम्भ करती हैं। धर्मप्रचार पश्चिमी कलीसियाओं का विशेषाधिकार नहीं है, वह विश्व भर की सब कलीसियाओं का कर्त्तव्य है।

III. साधना और सिद्धि

प्रस्तुत अध्याय के पहले प्रकरण में कलीसिया के स्वभाव का वर्णन किया गया है। ध्यान देने योग्य बात है कि कलीसिया-संस्था के सामाजिक या प्रत्यक्ष पहलू के अतिरिक्त हमने उसके आध्यात्मिक पहलू पर भी बल दिया है। 'रहस्यात्मक शरीर' का दृष्टांत इस बात को स्पष्ट करने की कोशिश करता है कि कलीसिया ईसा मसीह से घनिष्ठ सम्बन्ध रखती है, उनसे दिव्य जीवन प्राप्त करती है अन्तर्यामी ईश-आत्मा से अनुप्राणित है। फलतः यदि इस अंतिम प्रकरण में साधना की चर्चा होगी, तो वह पूर्ण रूप से एक नयी बात नहीं, वरन् उपर्युक्त आध्यात्मिक पहलू का विस्तार ही है। अब तक ईसाई धर्म का वर्णन बाह्य संगठन मात्र की दृष्टि से हुआ : ऐसा मानना बिलकुल गलत होता। वास्तव में ईसाई धर्म की साधना कलीसिया में प्रचलित धर्म विधि से अभिन्न है। इतना ही नहीं, ईसाई साधना में ऊपर वर्णित सात संस्कारों को प्रधानता दी जाती है। जैसे हम पहले कह चुके हैं, वे संस्कार ईसा मसीह के निर्णय के अनुसार स्थापित दिव्य जीवन को ग्रहण करने के साधन माने जाते हैं। उनका केन्द्र, क्रूस-बलिदान की स्मृति में अनुष्ठित "यूखारिस्त"[45] का यज्ञ है। उस विधि-सम्बन्धी साधना के अभाव में ईसाई की निजी साधना निस्सार होती।

ईसाई का निजी "आध्यात्मिक जीवन" प्रस्तुत प्रकरण का विषय है। उसका लक्ष्य भी संस्कार-साधनों के साथ परमेश्वर से संयुक्त हो जाना है, क्योंकि आंतरिक साधना का मर्म प्रार्थना ही है, उसी की अवस्थाओं का अनुक्रम अगले प्रतिपादन की रूपरेखा निर्धारित करता है।[46] प्रार्थना का निम्नतम स्तर मौखिक प्रार्थना है, अर्थात् सूत्रबद्ध विनती सुनाना। वह नगण्य नहीं है, और प्रगतिशील साधक भी उसका अभ्यास करते हैं :। मानसिक प्रार्थना मौखिक प्रार्थना से श्रेष्ठ

---

44. भारत में एक सौ से अधिक काथलिक धर्माध्यक्षों में से एक-दो छोड़कर सभी भारतीय हैं।
45. "Eucharist" यूनानी शब्द का शब्दार्थ है "धन्यवाद" का बलिदान।
46. इस विवरण का मूल स्रोत है : J. Marechal, **Studies in the Psychology of the Mystics.** Section V : "Some Distinctive Features of Christian Mysticism".

है. सदाचार, तपस्या और सद्गुणों की साधना उसकी नींव डालते हैं। समाधि या सही अर्थ में रहस्यवाद आंतरिक साधना का शिखर है। हम यहां उस स्थिति का अपने मानव-दर्शन के आधार पर वर्णन करेंगे और उसकी व्याख्या धर्म-दर्शन की दृष्टि से प्रस्तुत करेंगे। अन्त में सिद्धि का उल्लेख किया जाएगा। तथाकथित "आनन्दमय दर्शन" पारलौकिक स्थिति होने पर भी परिकल्पना मात्र नहीं है। वास्तव में सिद्धि का समाधि से अनुमान किया जा सकता है। कारण, समाधि अलौकिक होते हुए भी अनुभव का विषय ही है। यही संक्षेप में इस अंतिम प्रकरण की रूपरेखा है।

(क) आध्यात्मिक जीवन

धर्मविधि के अतिरिक्त ईसाई भक्त मौखिक प्रार्थना का निजी रूप से भी प्रयोग करते हैं। पहली का एक उदाहरण बाइबिल की स्त्रोत-संहिता से एक पाठ है; दूसरी का स्तुति और जपमाला। मौखिक प्रार्थना के दो पहलू हैं: शब्दों या मंत्रों का उच्चारण और आत्मा के भाव। स्पष्ट रूप से प्रधानता उत्तरोक्तों को देनी है। आराधना, पश्चाताप, धन्यवाद या अनुनय-विनय के मनोभाव भिन्न-भिन्न रूप से आत्मा का परमेश्वर से सम्बन्ध स्थापित करते हैं। लेकिन उन आंतरिक भावनाओं की बाह्य अभिव्यक्ति भी महत्व से वंचित नहीं है। मानव आत्मा और शरीर, दोनों से संश्लिष्ट है; अतः प्रार्थना के लिए भी दोनों को काम में लाना चाहिए। शारीरिक मुद्राएं, जैसे साष्टांग प्रणाम या सुस्थिरता, न केवल आंतरिक भावों की अभिव्यक्ति करती हैं, उन्हें बढ़ा भी सकती हैं। शरीर जितना अधिक आत्मा के अनुकूल है, उतना अधिक मानव प्रार्थना में विलीन हो जाता है। मौखिक प्रार्थना में स्वयं शब्द-प्रयोग आत्मिक भावनाओं की उत्तम सहायता करता है। कारण, शब्द चित्रों या मूर्त्तियों की अपेक्षा अप्रत्यक्ष तत्त्वों के सूक्ष्म प्रतीक हैं। वास्तव में मौखिक प्रार्थना स्वतः आत्मा को उच्चतर प्रार्थना की ओर ले जा सकती है।

मानसिक प्रार्थना मौखिक प्रार्थना से बढ़कर सम्पूर्ण मानव पर अपना प्रभाव डाल सकती है; कारण उसमें मानसिक शक्तियां अधिक क्रियाशील रहती है। देर तक मनन करने के फलस्वरूप क्रमशः एकाग्रता प्राप्त की जाती है। अब, ईसाई दृष्टिकोण के अनुसार साधना का अन्तिम लक्ष्य आत्मसिद्धि मात्र नहीं, मानवातीत परम तत्त्व से संयोग है। अतः मानसिक प्रार्थना में ईसाई साधक उसी में अपनी मानसिक शक्तियों को केन्द्रित करता है। ईसाई साधना-परम्परा में मनन करने की अनेक प्रणालियां प्रचलित हैं। यहां उदाहरणार्थ तथाकथित "तीन शक्तियों की प्रणाली" संक्षेप में वर्णित की जाएगी।[47] पहले, साधक स्मृति-शक्ति की सहायता से किसी विषय पर ध्यान देने लगता है, जैसे परमेश्वर का ऐश्वर्य या

47. संत इग्नासियुस लोयोला (1495–1556) द्वारा रचित "आध्यात्मिक साधना" के अनुसार।

पाप की दुष्टता। फिर, बुद्धि के सहयोग से वह सोच-विचार कर प्रस्तुत मनन-विषय में से निहितार्थ और निष्कर्ष निकालता है, जैसे पाप का कारण व फल क्या है, या सृष्टि सृष्टिकर्त्ता का वैभव किस प्रकार घोषित करती है। अन्त में संकल्प-शक्ति के बल पर साधक उपयुक्त भावनाएं सचेत करने का प्रयत्न करता है, जैसे अपने पापों का पश्चाताप, परमेश्वर की आराधना, इत्यादि। इससे दिखाई पड़ता है कि मानव की सम्पूर्ण शक्तियां, भावनाएं और क्रियाएं भी एक ही लक्ष्य परमेश्वर की सेवा की ओर एकाग्र हो जाती हैं।

इस प्रकार की प्रार्थना साधक के व्यावहारिक जीवन से अलग नहीं रह सकतीहै; इसके विपरीत चाल-चलन और मनन अन्योन्याश्रित हैं। एक ओर मनन सद्गुणों की साधना को प्रोत्साहन देता है, दूसरी ओर सदाचार मानसिक प्रार्थना का अनिवार्य आधार है। दोनों की संगति होनी चाहिए : जिस उच्च स्तर पर साधक मनन करते समय पहुंचता है, उसी पर उसे अपना दैनिक जीवन बिताना पड़ता है। तभी वास्तव में सम्पूर्ण मानव मनन की साधना से प्रभावित प्रतीत होगा। तपस्या भी मनन का सहयोग कर सकती है। भौतिक प्रवृत्तियों को नियन्त्रित करने के फलस्वरूप उन्हें आध्यात्मिक शक्तियों के अधीन बनाया जाता है। तपस्या का भावात्मक पक्ष भी है : उसका लक्ष्य संवेदन या इन्द्रियों को दबाने से बढ़कर उन्हें आध्यात्मिक जीवन के अनुकूल करना ही है। यदि साधना का एक उद्देश्य मानव की सम्पूर्णता है, तो सम्पूर्ण मानव को उसमें सम्मिलित होना चाहिए, न कि केवल उसकी आत्मा को।

परन्तु तपस्या की अपेक्षा ईसाई-साधना परम्परा में आत्मत्याग को अधिक आवश्यक माना जाता है। अवश्य ही यह विरोधाभास की बात है कि आत्मसिद्धि की अनिवार्य शर्त आत्मा का परित्याग है। भौतिकता पर विजय प्राप्त करने के परिणामस्वरूप आत्मा के लिए स्वाभिमान का यह प्रलोभन उत्पन्न हो सकता है : भौतिक तत्त्वों के परे होकर वह अपने को ही परम तत्त्व मानने लगती है। अहंकार का सर्वसूक्ष्म रूप इसमें है कि आत्मा सभी तत्त्वों से अनासक्त होने पर भी अपने से आसक्त बनी रहती है। इस प्रकार साधना का चरम बिन्दु साधना की विकृति जान पड़ती है। जो वास्तव में अपरम है, वह स्वयं परम तत्त्व होने की माया से मोहित हो जाता है। यह भ्रम इस मूलभूत तथ्य का विरोध करता है कि आत्मा सृष्ट तत्त्व होकर सृष्टिकर्त्ता पर निर्भर है, स्वयंभू नहीं है उसके फलस्वरूप साधक साधना की पूर्ति में बाधा डालता है : अपनी आध्यात्मिक प्रवृत्ति के बल पर मानव परम तत्त्व को ही प्राप्त करना चाहता है, न कि परम तत्त्व का आभास मात्र। अतः आत्मत्याग के लिए साधक की ओर से दीनता आवश्यक है : उसे अपनी अपर्याप्तता को स्वीकार करना पड़ता है। फिर भी, दीनता से बढ़कर आत्मत्याग प्रेम की अभिव्यक्ति ही है। यदि आत्मा अपने को परम तत्त्व मानती है, तो उसके

अतिरिक्त और कोई परम तत्त्व नहीं हो सकता इस प्रकार की एकाग्रता का परिणाम शाब्दिक अर्थ में 'केवलयम्' ही है। इसके विपरीत यदि परम तत्त्व आत्मा के परे है, तो आत्मा का अन्तिम लक्ष्य उस परम तत्त्व से संयुक्त हो जाना है : एक शब्द में प्रेम की एकता में विलीन हो जाना। आत्मसिद्धि की इस दृष्टि से आत्म-समर्पण मात्र निषेधात्मक नहीं, सुखद ही प्रतीत होता है।

बौद्धिक मनन के परे उच्चतर श्रेणी की प्रार्थना ध्यानप्रार्थना है। इसकी साधना साधारण आध्यात्मिक जीवन में की जा सकती है; साथ ही वह साधक को पूर्ण समाधि तक भी ले जा सकती है। अतः इसकी विशेषता एक ऐसी एकाग्रता है, जो परम तत्त्व का साक्षात्कार ग्रहण करने में समर्थ हो सकती है। ध्यान की प्रारम्भिक अवस्था कल्पना-सहित प्रार्थना है, जिसके उदाहरण सम्पूर्ण ईसाई परम्परा में उपलब्ध हैं। उसका विषय ईसा मसीह की जीवनी, उनके दुःखभोग और पुनरुत्थान की वे भिन्न-भिन्न घटनाएं है, जिनका उल्लेख चार सुसमाचारों में पाया जाता है। साधक इन घटनाओं को विषयनिष्ठ तथ्य मात्र के रूप में न देखकर सहानुभूतिपूर्वक मानो स्वयं उनमें भाग लेता है। इस प्रकार ईश-मानव की मानवता पर ध्यान देने के फलस्वरूप साधक क्रमशः उनके ईश्वरत्व का भी अनुभव करता है और परमेश्वर के अनुरूप हो जाता है। कल्पना-सहित ध्यान की तुलना में बौद्धिक ध्यानप्रार्थना कहीं उच्चतर श्रेणी की है। कारण, उसमें बुद्धि और संकल्प-शक्ति का प्रयोग करने से मानव की वह आध्यात्मिक प्रवृत्ति सक्रिय होती है, जो स्वयं परम तत्त्व की ओर अभिमुख है। फिर, आध्यात्मिक जीवन की पूर्ववर्ती साधना के फलस्वरूप आत्मा की सम्पूर्ण शक्तियां और भावनाएं उसी परम लक्ष्य पर समकेन्द्रित होकर सम्पूर्णतः ध्यानप्रार्थना में सम्मिलित हो जाती हैं। फलतः, ध्यान के प्रत्यक्ष विषय, अर्थात् परम तत्त्व के अतिरिक्त उसका अप्रत्यक्ष विषय साधक की एकाग्र आत्मा भी है। एक शब्द में बौद्धिक ध्यानप्रार्थना का विषय आत्मा में स्थित अन्तर्यामी-स्वरूप परमेश्वर ही है।

(ख) समाधि और सिद्धि

प्रार्थना की उपर्युक्त अवस्थाओं का अनुक्रम अब तक इस समाधि तक नहीं पहुंचा है, जिसे सही अर्थ में रहस्यात्मक प्रार्थना कहा जाता है। अब हम ईसाई साधना परम्परा के अनुसार उसका विश्लेषण और निर्धारण करने का प्रयत्न करें। ऐसा प्रतीत होता है कि समाधि के निषेधात्मक लक्षण दूसरों की अपेक्षा अधिक प्रत्यक्ष और स्पष्ट हैं। कारण, समाधि में एकाग्रता का परम बिन्दु प्राप्त किया जाता है; पूर्ववर्ती एकीकरण के फलस्वरूप एक ऐसी 'मानसिक' स्थिति उत्पन्न होती है जिसमें सभी प्रकार की विविधताओं का अभाव है। इन्द्रियों से प्राप्त प्रतिमा और देश-काल से सम्बन्धित कल्पना बनी नहीं रहती हैं। तर्कमूलक विचार भी समाप्त हो जाता है; यहां तक कि साधारण विषय-विषयी का द्वैत भी लुप्त हो

जाता है। मध्यकालीन जर्मन और फ्लेमिश रहस्यवाद के प्रतिनिधि, जैसे एकार्त (1327), लौलर (1361), सूसो (1366) और रायसब्रुक (1293–1381) समाधि के इस अभावात्मक पहलू पर दूसरों से अधिक बल देते हैं : परम तत्त्व की तुलना शून्य से ही करते हैं; अपनी रहस्यात्मक अनुभूति को 'अनजान' या 'अन्धकार' भी कहते हैं। अतः समाधि के विषय में यह प्रश्न उठता है : क्या वह वास्तव में अचेतन स्थिति से अभिन्न नहीं है ? क्या उपर्युक्त साधारण चेतना के लक्षणों के अभाव में स्वयं चेतना बनी रह सकती है ? सभी प्रकार की विविधताओं के लुप्त हो जाने पर कौन-सी एकता उत्पन्न होती है ?

अब यह एक निर्विवाद तथ्य है कि निषेधात्मक पहलू के अतिरिक्त सभी ईसाई रहस्यवादी समाधि के भावात्मक पहलू का भी उल्लेख करते हैं। ध्यान देने योग्य बात है कि उनके इस दावे का आधार कलीसिया में स्वीकृत धर्मसिद्धान्त नहीं है, बल्कि उनकी अनुभूति ही है। उदाहरणार्थ, अविला की संत तेरेसा (1565–1582) का साक्ष्य प्रस्तुत किया जा सकता है। उनके कथनानुसार परमेश्वर जब समाधि में साधक की बौद्धिक क्रियाशीलता बन्द करता है, तो वह उसे एक ऐसी अन्तः प्रज्ञा प्रदान करता है जिसे बुद्धि आजीवन प्रयत्न करने पर भी प्राप्त नहीं कर सकती, फिर संत तेरेसा के समान अन्य रहस्यवादी समाधि की तुलना अन्धकार या अनजान से नहीं, इसके विपरीत, अद्‌भुत प्रकाश या प्रत्यक्ष दर्शन से करते हैं। साक्षात्कार का 'विषय' परमेश्वर का स्वभाव और उसका सृष्टि या मुक्ति-कार्य भी हैं। विशेष करके समाधि में साधक को त्रियेक परमेश्वर के भिन्न-भिन्न व्यक्तियों का प्रत्यक्ष ज्ञान प्रदान किया जाता है। इसके अतिरिक्त समाधि के भावात्मक स्वरूप का एक और प्रमाण यह है कि बाद में साधक बुद्धि के माध्यम से, अतः कम स्पष्ट रूप से, स्मरण करता है कि उसे समाधि के समय दिव्य रहस्यों के विषय में क्या प्रबोधन मिला है। इन लक्षणों के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि ईसाई रहस्यवादियों से वर्णित समाधि वास्तव में अनजान की या अचेतन स्थिति नहीं है। त्रियेक परमेश्वर की एकता ईश-व्यक्तियों की विविधता के कारण शून्य से भिन्न है : उसमें सत्ता की सम्पूर्णता प्रत्यक्ष दिखाई देती है।

रहस्यात्मक प्रार्थना के उपर्युक्त अभावात्मक और भावात्मक लक्षणों का समन्वय इस प्रकार किया जा सकता है। समाधि में साधक अपनी इन्द्रियों, और प्रत्ययों का भी, प्रयोग नहीं करता है स्वाभाविक बौद्धिक क्रिया के अभाव में उसकी मानसिक स्थिति साधारण चेतना से भिन्न होती है। फिर, अचेतन न होकर भी उसे एक अतिमानसिक स्थिति कहना पड़ेगा। समाधि सही अर्थ में साक्षात् दर्शन है : इसमें इन्द्रियों और प्रत्ययों के माध्यम के बिना साधक को परम तत्त्व का साक्षात्कार मिलता है। यहां इस प्रकार निर्धारित समाधि की अति-मानसिक अवस्था विरोधाभासी प्रतीत होती है। एक ओर ईसाई रहस्यवादियों के साक्ष्य के बल पर हमें

उसे एक तथ्य मानना है; दूसरी ओर, वह दशा मानव स्वभाव के परे, अतः असंभव प्रतीत होती है। कारण, मानव के मनःशारीरिक स्वभाव के अनुसार, बुद्धि को अनिवार्य रूप से इन्द्रियों और प्रत्ययों का सहयोग लेना पड़ता। उनके बिना वह किसी विषय का ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकती है। फिर भी, साक्षात्कार मानव स्वभाव के विरुद्ध नहीं, उसके अनुकूल ही है। ऊपर प्रस्तुत मानव-दर्शन के अनुसार मानव का मूलभूत पहलू उसकी 'आध्यात्मिक प्रवृत्ति' है : आध्यात्मिक होकर उक्त प्रवृत्ति अपने विषय, अर्थात् परम तत्त्व को प्रत्यक्ष रूप से ही प्राप्त करना चाहती है। लेकिन शरीरत्व से संयुक्त होने के कारण मानव अपनी आध्यात्मिक प्रवृत्ति का लक्ष्य प्राप्त करने में अपने आपसे असमर्थ है। साथ ही, रहस्यात्मक अनुभूति के साक्ष्य से परम तत्त्व का साक्षात्कार अनेक उदाहरणों में एक तथ्य दिखाई पड़ता है। तथ्य यथार्थ होकर सम्भव भी प्रतीत होता है। अतः प्रश्न उठता है कि उस तथ्य की बोधगम्य व्याख्या क्या दी जा सकती है? इस बात के विषय में सभी ईसाई रहस्यवादी एकमत ही हैं : समाधि उन्हें उनकी अपनी शक्ति के बल पर नहीं मिली, उसे उन्हें परमेश्वर की ओर से कृपादान के रूप में प्रदान किया गया है। इस बात को कुछ विस्तार से समझाना अनुचित नहीं होगा।

ईश-दर्शन के मूलभूत सिद्धांत के अनुसार परमेश्वर मानवतीत है; फलतः, वह ज्ञानातीत भी है। इसके अतिरिक्त उपर्युक्त बातों से यह प्रतीत होता है कि परम तत्त्व का साक्षात्कार करना मानव स्वभाव के अनुकूल होते हुए भी उसकी अपनी शक्ति के परे ही है। अतः विषय और विषयी, दोनों की दृष्टि से समाधि की प्राप्ति असम्भव जान पड़ती है। लेकिन रहस्यवादियों के साक्ष्य के आधार पर समाधि की यथार्थता सिद्ध की गयी है। इस विरोधाभासी स्थिति से एकमात्र निष्कर्ष यह निकलता है, कि साधक को परमेश्वर के 'अनुग्रह' के परिणामस्वरूप 'स्वभावोपरि' स्तर पर उठा लिया जाता है। ऊपर हम यह समझा चुके हैं कि ईसाई धर्मशास्त्र में 'अनुग्रह' और 'स्वभावोपरि (स्थिति), जैसे पारिभाषिक शब्दों का सही अर्थ क्या है।[48] यहां प्रस्तुत तर्क के आधार पर उन तत्त्वों की वास्तविकता भी सिद्ध मानी जा सकती है। फलतः ईसाई रहस्यवाद की एक मूलभूत विशेषता यह है कि यथार्थ समाधि को परमेश्वर की ओर से कृपादान या 'अनुग्रह' के अभाव में मानव अपनी शक्ति के बल पर ही प्राप्त नहीं कर सकता है। इससे यह दूसरी विशेषता भी निष्कर्ष स्वरूप निकलती है, कि साधना समाधि की अनिवार्य शर्त होने पर भी उसकी प्राप्ति का पर्याप्त कारण कदापि नहीं हो सकती।

समाधि के विवरण के बाद हमें सिद्धि के विषय में कुछ कहना है।

---

48. देखें क्रमशः अध्याय 2, प्रकरण 3, (ख--अनुग्रह), और अध्याय 3, प्रकरण 3 (अधिस्वाभाविक या स्वाभावोपरि)।

उल्लेखनीय बात है कि सिद्धि परिकल्पना मात्र नहीं है । उसका अनुमान समाधि से किया जा सकता है फिर, समाधि असाधारण स्थिति होने पर भी प्रत्यक्ष अनुभव का विषय ही है । अब ईसाई धर्म की दृष्टि से जिस समाधि को इहलोक में विशिष्ट व्यष्टियों को प्रदान किया जाता है, वह परलोक में सभी को प्राप्त होने वाली सिद्धि का पूर्वाभास ही है । अतः समाधि और सिद्धि की मूलभूत विशेषता एक ही होगी : उसे मानव को परमेश्वर की ओर से कृपादान के फलस्वरूप प्रदान किया जाता है । अवश्य ही मानव को सद्गुणों की अथक साधना से सिद्धि को प्राप्त करने के लिए आजीवन परिश्रम करना पड़ता है । फिर, यह भी सच है कि सिद्धि मानव की आध्यात्मिक प्रवृत्ति की पूर्ति है । लेकिन अपने आपसे ही उस अन्तिम लक्ष्य को प्राप्त करने में मानव असमर्थ जान पड़ता है : ऊपर यह दिखाया गया है कि परम तत्त्व का साक्षात् दर्शन मानव बुद्धि की क्षमता के परे है । अतः समाधि के सदृश सिद्धि की स्वभावोपरि स्थिति प्राप्त करने के लिए भी मानव को परमेश्वर की ओर से अनुग्रह के वरदान की आवश्यकता है । इस बात को ईसा मसीह ने इस प्रकार अभिव्यक्त किया है ; पिता (परमेश्वर) को कोई भी नहीं जानता, केवल पुत्र (पुत्रेश्वर) जानता है; और वही जिस पर पुत्र उसे प्रकट करने की कृपा करे ।'[49]

अब, इससे निकलने वाला सबसे महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष यह है : सिद्धि यदि परमेश्वर से प्राप्त वरदान है, तो उसके परिणामस्वरूप आत्मा स्वयं ही परम तत्त्व नहीं बन सकती है । आत्मा को निरपेक्ष परम तत्त्व का साक्षात्कार भले ही मिल सकता है; वह अपने को परम तत्त्व नहीं मान सकती है । साक्षात् दर्शन से तात्पर्य यह है कि 'विषय' का ज्ञान किसी भी माध्यम के अभाव में विषयी को मिलता है । अतः ज्ञान की दृष्टि से ज्ञाता ज्ञेय से अभिन्न जान पड़ता है । इसके विपरीत तत्त्व की दृष्टि से उन दोनों का द्वैत बना रहता है : जिसे दान मिलता है, उसका दाता से भिन्न होना अनिवार्य है । अतः सन्त यौहन कहते हैं, कि 'हम उसके सदृश बन जाएंगे, क्योंकि सादृश्य हमें वैसा ही दिखाई देगा जैसा कि वह वास्तव में है ।"[50] लेकिन सादृश्य के बावजूद साक्षात् दर्शन से तादात्मय नहीं उत्पन्न होता है । समाधि से अनुमान के आधार पर सिद्धि को भी परम तत्त्व का साक्षात्कार माना जाता है : 'अभी तो हमें आईने में धुंधला-सा दिखाई देता है, परन्तु तब हम आमने-सामने देखेंगे'[51] किन्तु सिद्धि ज्ञान-स्वरूप दर्शन मात्र नहीं है, वरन् प्रेम की एकता में ही सम्पूर्ण हो जाती है । संत पौलुस की शब्दावली में 'ज्ञान' शब्द प्रेम से सम्बद्ध रहता है; अतः ज्ञान में प्रेम की पारस्परिकता भी निहित है : 'तब मैं उसी तरह

49. मत्ती 11.27 ।
50. सन्त यौहन का पहला पत्र 2 3 ।
51. कुरिन्थियों के नाम पहला पत्र 13.12 ।

पूर्ण रूप से जान जाऊंगा, जिस तरह ईश्वर मुझे जान गया है,[52] सिद्धि के इन दो पहलुओं को अभिव्यक्त करने के लिए उसे परम्परागत ईसाई शब्दावली में 'आनन्दमय दर्शन' कहा जाता है। सिद्धि सम्पूर्ण मानव की है; अतः पुनरुत्थान के फलस्वरूप[53] उसे शरीरत्व-सहित अमरता प्राप्त हो जाती है। स्पष्टतया अमर शरीर मरणशील शरीर से भिन्न होगा। बीज के दृष्टांत से संत पौलुस पुनर्जीवित मानव का इस प्रकार वर्णन करते हैं: 'जो बोया जाता है, वह नश्वर है, जो जी उठता है, वह अनश्वर है। जो बोया जाता है, वह दीन-हीन है, जो जी उठता है, वह महिमान्वित है। जो बोया जाता है, वह दुर्बल है, जो जी उठता है वह शक्तिशाली है। एक प्राकृत शरीर बोया जाता है और एक आध्यात्मिक शरीर जी उठता है।[54] परिकल्पना मात्र न होते हुए भी सिद्धि सम्प्रति हमारे लिए अनुभवातीत बात है। फिर भी धर्म के आधार पर ईसाई को सिद्धि का सार अज्ञात नहीं है; उसका आश्वासन है कि परमेश्वर की दया से वह ईश-व्यक्तियों की प्रेममय एकता में सम्मिलित हो जाएगा।

उपसंहार

शीर्षक के अनुसार प्रस्तुत अध्याय का विषय ईसाई धर्म-दर्शन होना चाहिए था। वास्तव में हमने उसमें कलीसिया मात्र का वर्णन किया है। यह दिखाया गया है कि उसके प्रत्यक्ष संस्थागत पहलुओं के अतिरिक्त कलीसिया को किस अर्थ में एक 'दिव्य' धार्मिक समाज माना जाता है। यह भी समझाया गया है कि धर्मप्रचार का सैद्धांतिक आधार मुक्ति की सामाजिक धारणा है। अन्त में, व्यष्टिगत दृष्टि से ईसाई आध्यात्मिक जीवन या साधना का उल्लेख भी किया गया है। अब यह प्रश्न उठता है: क्या कलीसिया का प्रतिपादन ईसाई धर्म का सम्पूर्ण प्रतिपादन है? अध्याय की भूमिका में ही हमने यह कहा था कि कलीसिया ईसाई धर्म के अन्य मूलभूत प्रत्ययों, अर्थात् उसके प्रवर्तक और बाइबिल ग्रंथ से घनिष्ठ सम्बद्ध रखती है। ईसा मसीह न तो केवल कलीसिया के ऐतिहासिक प्रवर्तक हैं, बल्कि आज तक उसे रहस्यात्मक रूप से अनुप्राणित करते रहते हैं। दूसरी ओर, बाइबिल-ग्रंथ में प्रस्तुत दिव्य प्रकाशना कलीसिया की जीवंत परम्परा द्वारा सुरक्षित और घोषित की जाती है। फलतः कलीसिया के निरूपण के प्रसंग में ईसाई धर्म के उन दो अन्य पहलुओं का भी उल्लेख किया गया है। परन्तु धर्म एक सर्वव्यापक तत्त्व प्रतीत होता है, जो अपना प्रभाव इतिहास और समाज, संस्कृति और

---

52. वहीं।
53. देखें—अध्याय, 2, प्रकरण 2, ग—पुनरुत्थान, और अध्याय 6, प्रकरण 3, ग—मानव की अमरता।
54. कुरिंथियों के नाम पहला पत्र 15.42–44।

साहित्य, नीति और दर्शन, सभी क्षेत्रों पर डालता है। ईसाई धर्म का हमारा यह विवरण सैद्धांतिक पक्ष तक सीमित है, यद्यपि ईसाई धर्म सिद्धांत का शायद ऐसा कोई विषय नहीं है जिसे पुस्तक के भिन्न-भिन्न अध्यायों में प्रस्तुत नहीं किया गया है। साथ ही, हमें यह स्वीकार करना है कि हमारे प्रतिपादन में धर्मसिद्धान्तों के ऐतिहासिक विकास की कोई चर्चा नहीं हुई। ईसाई विचारधारा में उत्पन्न दर्शन और धर्मशास्त्र के प्रभेद के फलस्वरूप[55] हमने चौथे अध्याय से लेकर ईसाई दर्शन-शास्त्र के इतिहास के वर्णन में धर्म-शास्त्र का कोई उल्लेख नहीं किया है। फिर भी, हमें विश्वास है कि विषय की दृष्टि से ईसाई धर्म का निरूपण पर्याप्त ही है, यदि प्रस्तुत अध्याय के अतिरिक्त पूर्ववर्ती अध्यायों को भी लिया जाए।

दूसरा प्रश्न यह है : क्या धर्म-दर्शन विषयक अध्याय में प्रयुक्त प्रणाली वास्तव में दार्शनिक है ? हमने ईसाई धर्म का एक ऐसा प्रतिपादन करने का प्रयत्न किया है जिसे प्रामाणिक माना जा सकता है अर्थात् जिस अर्थ में कैथोलिक कलीसिया में प्रचलित धर्म-सिद्धान्तों को माना जाता है, उसी अर्थ में उनका निरूपण किया गया है। हमने अनेक अवसरों पर यह समझाया है कि इस सन्दर्भ में 'सत्य' से तात्पर्य धर्म विशेष के अनुयायियों द्वारा स्वीकृत धर्म-सिद्धांतों का सही अर्थ ही है। इसके अतिरिक्त, प्रस्तुत धर्म-दर्शन दार्शनिक भी है, क्योंकि ईसाई धर्म में प्रचलित मूलभूत प्रत्ययों का बौद्धिक अर्थ पूर्ववर्ती अध्यायों की पृष्ठभूमि में स्पष्ट रूप से निर्धारित दिखाई पड़ता है। इस दृष्टि से ईसाई धर्म बुद्धि-विरोधी नहीं, बुद्धि के अनुकूल ही जान पड़ता है। शब्द-प्रमाण का प्रयोग भी नहीं किया गया है; कारण, धर्म-विशेष की स्वीकृति के अभाव में उसे दूसरों के लिए प्रामाणिक नहीं माना जा सकता है। फिर भी, इस विषय में कुछ सन्देह हो सकता है कि ईसाई या किसी भी धर्म पर चिंतन पूर्णरूपेण दार्शनिक हो सकता है; कारण, धर्म पर दार्शनिक विवेचन की सम्भावना में धर्म की अपेक्षा दर्शन की प्रधानता निहित है। लेकिन वास्तव में धर्म का मर्म दार्शनिक, अर्थात् मात्र बौद्धिक अनुसंधान का विषय हो सकता है ? धर्म और दर्शन-शास्त्र का उक्त प्रभेद प्रश्न के निषेधात्मक उत्तर पर आधारित है। परमेश्वर, मुक्ति, अमरता जैसी धार्मिक बातों या रहस्यों पर चिंतन करने के फलस्वरूप दार्शनिक बुद्धि को शायद अपनी ससीमता स्वीकार करनी पड़ेगी। फलतः, दर्शन को अपने प्रश्नों का अन्तिम उत्तर धर्म से ही पूछना होगा। अपनी स्वतन्त्रता को न त्यागने पर भी दर्शन धर्म को प्रधानता देना ही विवेक का प्रमाण मानेगा।

---

55. देखें : अध्याय 3, प्रकरण 3, 'धर्मशास्त्र और दर्शनशास्त्र का प्रभेद।'

ग्रन्थ - सूची

आरम्भिक टिप्पणियां :

1– प्रस्तुत ग्रन्थ-सूची में अनेक हिन्दी रचनाओं के अतिरिक्त केवल अंग्रेजी पुस्तकें सम्मिलित हैं। जिन फ्रांसीसी रचनाओं का प्रयोग किया गया है, उनका उल्लेख उपयुक्त स्थान पर पाद-टिप्पणियों में किया गया है।

2– सन्त औगुस्तीन और संत थोमस को छोड़कर, ऐतिहासिक दृष्टि से महत्वपूर्ण मूल-लेखों को ग्रन्थ-सूची में सम्मिलित नहीं किया गया है।

3– ग्रन्थ-सूची के अनुच्छेद पुस्तक के भिन्न-भिन्न अध्यायों के अनुसार व्यवस्थित किये गये हैं। दर्शनशास्त्र का इतिहास सम्बन्धी अनुच्छेद के पश्चात् एक विशेष अनुच्छेद जोड़ा गया है जिसमें ईसाई दर्शन का सामान्य प्रतिपादन करने वाली रचनाएं सम्मिलित हैं।

4– बाइबिल और ईसाई धर्मसिद्धांतों के विषय में केवल सामान्य या प्रारम्भिक पुस्तकें प्रस्तुत की जाती हैं। त्रियेक परमेश्वर और ईश-मानव के धर्म-सिद्धान्तों के लिए 9वें अध्याय सम्बन्धी अनुच्छेद को देखें (3रे अध्याय संबंधी अनुच्छेद को नहीं)।

1ला-2रा अध्याय : बाइबिल की मूलभूत धारणाएं।

पुस्तक में प्रयुक्त बाइबिल का अनुवाद :

बुल्के, कामिल, (अनुवादक) : न्यू "टेस्टामेंट" (नया विधान), धार्मिक साहित्य समिति, रांची, 1977।

वाल्द, एस० एन०, और साह, आर० पी०, (अनुवादक) : "धर्म-ग्रन्थ", संत पौलुस प्रकाशन, इलाहाबाद, 1965।

बाइबिल विषयक रचनाएं :

एक्रोयड, पीटर आर० : "इस्राएली लोगों का इतिहास", मसीही आध्यात्मिक शिक्षा माला, देहरादून, 1971।

धुलिया, योहन एच० : "नया नियम की पृष्ठभूमि", मसीही आध्यात्मिक साहित्य समिति, लखनऊ, 1967।

नील, स्टीफन, (संपादक) : "बाइबिल ज्ञान-कोश", मसीही आध्यात्मिक शिक्षा माला, बरेली, 1971।

फ्रोबर्ग, पी० ई० : "धर्मशास्त्र-प्रवेशिका", नार्थ इंडिया क्रिश्चियन लिट्रेचर सोसाइटी, इलाहाबाद, 1962।

वुड, क्लेरेंस एल० : "नया-नियम की भूमिका", मसीही आध्यात्मिक शिक्षा माला, इलाहाबाद 1969 ।

सादिक, इम्मानुएल, और त्रिहर्न, अलेन : "बाइबिल अध्ययन की सहायक पुस्तिका", हिंद एस.पी.सी.के., दिल्ली, 1962 ।

स्टेन्ली, थोबर्न, सी० : "पुराना-नियम की भूमिका, मसीही आध्यात्मिक साहित्य समिति, इलाहाबाद, 1968 ।

ह्वाइट, एल० फ्रेंक्लिन : "पुराना नियम का धर्मविज्ञान", मसीही आध्यात्मिक शिक्षा माला, बरेली, 1978 ।

ALLMEN, J.-J. von, **Vocabulary of the Bible**, Lutterworth Press, London, 1958.

BAUER, J. B., **Encyclopedia of Biblical Theology**, 3 vols., Sheed & Ward, London, 1970.

BROWN, R. E., FITZMYER, J. A., & MURPHY, R. E., (editors), **The Jerome Biblical Commentary**, 2 vols., Geoffrey Chapman, London, 1968; Theological Publications in India, Bangalore, 1972.

CONZELMANN, Hans, **An Outline of the Theology of the New Testament**, SCM Press, London, 1969.

DODD, C. H., **The Founder of Christianity**, MacMillan Publishing Co., New York, 1976.

HEINISLCH, Paul, **Theology of the Old Testament**, The Liturgical Press, Collegeville, Minnesota, 1950.

JACOB, Edmond, **Theology of the Old Testament**, Harper & Row, New York, 1958.

LEON-DUFOUR, Xavier, (editor), **Dictionary of Biblical Theology**, Geoffrey Chapman, London, 1973; Theological Publications in India, Bangalore, 1973.

McKENZIE, John L., **The Power and the Wisdom. An Interpretation of the New Testament**, Geoffrey Chapman, London, 1965.

RAD, Gerhard von, **Old Testament Theology**, 2 vols., Oliver and Boyd, Edinburgh, 1962-1965.

RICHARDSON, Alan, **A Theological Word Book of the Bible**, SCM Press, 1969.

RICHARDSON, Alan, **An Introduction to the Theology of the New Testament**, SCM Press, London, 1961.

ROWLEY, H. H., **Dictionary of Bible Themes,** Nelson, London, 1968.

STAUFFER, Ethelbert, **New Testament Theology,** SCM Press, London, 1963.

VRIEZEN, Th. C., **An Outline of Old Testament Theology,** Ba-il Blackwell, Oxford, 1966..

3रा अध्याय : पूर्वाचार्यों का युग

ALTANER, Berthold, **Patrology**, Nelson, London, 1960.

AUGUSTINE, **The City of God**, The Modern Library; New York, 1950.

AUGUSTINE, **The Confession of St. Augustine**, (trl. by John K. Ryan), Doubleday, New York, 1962.

BARR, Robert, **Main Currents in Early Christian Thought,** Paulist Press, Glen Rock, N. J., 1966.

CAMPENHAUSEN, Hans von, **Men Who Shaped the Western Church**, Harper & Row, New York, 1964

DANIELOU, Jean, & MARROU, Henri, **The First Six Hundred Years,** Vol. I of "The Christian Centuries", Darton, Longman and Todd,London, 1964.

DANIELOU, Jean, **Origen**, Sheed & Ward, New York, 1955.

DANIEL-ROPS, H., **The Church of Apostles and Martyrs,** J. M. Dent & Sons, London, 1960.

DANIEL-ROPS, H., **The Church in the Dark Ages,** J. M. Dent & Sons, London, 1963.

DAVIES, J. G., **The Early Christian Church,** Holt, Rinehart and Winston, New York, 1965.

DIRKSEN Aloys, **Elementary Patrology**, B. Herder Book Co., St. Louis, 1959.

FREMANTLE Anne, (editor), **A Treasury of Early Christianity,** The New American Library, New York, 1960.

HAMELL, Patrick J., **Introduction to Patrology**, The Mercier Press, Cork, 1968.

JURGENS W. A., (editor), **The Faith of the Early Fathers, A Source Book**, The Liturgical Press, Collegeville, Minnesota, 1970.

QUASTEN Johannes, **Patrology**, 3 Vols., The Newman Press, Westminster, Maryland, 1951, 1953, 1960.

STANIFORTH Maxwell, (trl.) **Early Chri tian Writings. The Apostolic Fathers**, Penguin Books, Harmondswor h Middlesex, 1968.

WOLFSON, Harry Austryn, **The Philosophy of the Church Fathers**, Vol. I, Faith, Trinity, Incarnation, Harvard University Press, Cambridge, M. A., 1970.

4था-5वां अध्याय : ईसाई दर्शन का इतिहास

AQUINAS, Thomas, **Summa Theologica**, (E. trl.), 3 Vols., Benziger Brothers, New York, 1947–1948.

BERAUD de SAINT–MAURICE, **John Duns Scoturs. A Teacher for our Times**, Franciscan Institute, St. Bonaventure, N. Y., 1955.

BETTONI, Efrem, **Duns Scoturs. The Basic Principles of his Philosophy**, The Catholic University of America Press, Washington, 1961.

BOCHENSKI I. M.. **Contemporary European Philosophy**, University, California Press, Berkeley, 1956.

COPLESTON, Frederick, **A History of Philosophy**, 9 Vols., Burns Oates & Washbourne; Search Press, London, 1946-1975.

D'ARCY, M. C., **Thomas Aquinas**, Ernest Benn. London, 1930.

DELHAYE, Philippe, **Christian Philosophy in the Middle Ages**, Burns & Oates, London, 1960.

DIVARKAR, Paramananda R., **The Act of Being. A Centenary Tribute to Thomas Aquinas**, The Newman Institute, St Xavier's College, Bombay, 1973.

GARDEIL, H. D., **Introduction to the Philosophy of St. Thomas Aquinas**, 4 vols., B. Herder Book Co., St. Louis, 1958, 1959, 1967.

GILSON, Etienne, **Being and Some Philosophers**, Pontifical Institute of Mediaeval Studies, Toronto, 1952.

GILSON, Etienne, **History of Christian Philosophy in the Middle Ages**, Random House, New York, 1955.

GILSON, Etienne, **The Spirit of Mediaeval Philosophy**, (Gifford Lectures 1931–1932), Sheed & Ward, London, 1950.

GILSON, Etienne, **The Christian Philosophy of St. Thomas Aquinas**, Victor Gollancz, London, 1961.

GILSON, Etienne, **The Philosophy of St. Bonaventure**, Sheed & Ward, London, 1940.

JOHN, Helen James, **The Thomist Spectrum**, Fordham University Press, New York, 1966.

KNOWLES, David, **The Evolution of Medieval Thought**, Longmans, Green & Co., London, 1962,

MARNEFFE, J. de, **Contemporary Christian Philosophy**, Sri L. D. Swamikannu Pillai Endowment Lectures (1970-1971). Reprint from 'Journal of the Madras University'.

PEGIS, Anton C., **Introduction to St. Thomas Aquinas**, The Modern Library, New York, 1948.

PEGIS, Anton C., **Basic Writings of St. Thomas, Aquinas**, 2 Vols., Random House, New York, 1945.

THONNARD, F.-J., **A Short History of Philosophy**, Desclee, Paris, 1955.

WILDIERS, N. M., **An Introduction to Teilhard de Chardin**, Fontana Books, Collins, London, 1968

WULF, M. de, **Scholasticism Old and New. An Introduction to Scholastic Philosophy Medieval and Modern**, Dover Publications, New York, 1956.

ईसाई दर्शनशास्त्र का सामान्य प्रतिपादन :—

BRUGGER, Walter, & BAKER, Kenneth, **Philosophical Dictionary**, Gonzaga University Press, Spokane, Washington, 1972.

CORETH, Emerich, **Metaphysics**, Herder & Herder, New York, 1968.

GARRIGOU-LAGRANGE, R., **Reality. A Synthesis of Thomistic Thought**. B. Herder Book Co., St. Louis, 1950.

GRENET, Paul, **Thomism. An Introduction**, Harper & Row, New York, 1967.

KLUBERTANZ, George P., **Introduction to the Philosophy of Being**, Appleton-Century-Crofts, New York, 1955.

LYNCH, Lawrence E., **A Christian Philosophy**, Charles Scribner's Sons, New York, 1968.

MARECHAL, Joseph, **A Marechal Reader,** (ep. J. DONCEEL), Herder & Herder, New York, 1970.

MARITAIN, Jacques, **An Introduction to Philosophy,** Sheed & ward, London, 1942.

MARITAIN, Jacques, **A Preface to Metaphysics,** Sheed & ward, New York, 1948.

McINERNY, Ralph M., (editor), **New Themes in Christian Philosophy,** University of Notre Dame Press, Notre Dame, 1968.

McLEAN, George F., (editor), **Christian Philosophy and Religious Renewal,** The Catholic University of America Press, Washington, 1966.

NEDONCELLE, **Is there a Christian Philosophy?** Faith & Fact Books, Burns & Oates, London, 1960.

RAEYMAEKER, Louis De, **Introduction to Philosophy,** Joseph F. Wagner, New York, 1948.

RAEYMAEKER, Louis De, **The Philosophy of Being. A Synthesis of Metaphysics,** B. Herder Book Co., St. Louis, 1961.

STEENBERGHEN, Fernand Van, **Ontology,** Joseph F. Wagner, New York, 1952.

TRESMONTANT, Claude, **The Origins of Christian Philosophy,** Faith & Fact Books, Burns & Oates, London, 1962.

TRESMONTANT, Claude, **Christian Metaphysics,** Sheed & ward, New York, 1965.

TRETHOWAN, Illtyd, **An Essay in Christian Philosophy,** Longmans, Green & Co., London, 1954.

WVELLNER, Bernard, **Dictionary of Scholastic Philosophy,** The Bruce Publishing Company, Milwaukee, 1956.

६ठा अध्याय : मानव-दर्शन

BITTLE, Celestine N., **The Whole Man. Psychology,** The Bruce Pub-ishing Company, Milwaukee, 1945.

BRENNAN, R. E., **The Image of his Maker,** The Bruce Publishing Company, Milwaukee, 1948.

DONCEEL, J. F., **Philosophical Psychology,** Sheed & Ward, New York, 1961.

HICK, John, **Death and Eternal Life**, Collins, London, 1976.

KLUBERTANZ, G , **The Philosophy of Human Nature**, Appleton Century-Crofts, New York, 1953.

LONERGAN, Bernard J. F., **Insight. A Study of Human Understanding**, Longmans, Green and Co., London, 1957.

MARITAIN, Jacques, **Distinguish to Unite, or the Degrees of Knowledge**, Charles Scribner's Sons, New York, 1959.

MOUNIER, Emmanuel, **The Character of Man**, Rockliff, London, 1956.

MOUROUX, Jean, **The Meaning of Man**, Sheed & Ward, London, 1948.

NEDONCELLE, M., **Love and the Person**, Sheed & ward, New York, 1966.

RAHNER, Karl, **Spirit in the World**, Herder & Herder, New York, 1968.

REITH, Herman, **An Introduction to Philosophical Psychology**, Prentice-Hall, Englewood Cliffs, 1956.

RIET, Georges Van, **Thomistic Epistemology. Studies concerning the Problem of Cognition in the Contemporary Thomistic School**, 2 vols., B. Herder Book Co., St. Louis, 1963-1965.

SMET, Richard V. De, A **Short History of the Person**, Abstract from 'Indian Philosophical Quarterly', 1975, 1976, 1977.

STEENBERGHEN, Fernand Van, **Epistemology**, Joseph F. Wagner, New York, 1970.

TROCQUER, Rene Le, **What is Man ?**, Burns & Oates, London, 1961.

TROISFONTAINES, Roger, **I Do Not Die**, Desclee Company, New York, 1963.

9 वां अध्याय : ईश दर्शन

BENIGNUS, **Nature, Knowledge and God**, The Bruce Publishing Company, Milwaukee, 1955.

BOUILLARD, Henri, **The Knowledge of God**, Burns & Oates, London, 1969.

COBB, John B.,**A Christian Natural Theology. Based on the Thought of Alfred North Whitehead,** Lutterworth Press, London, 1966.

COULSON, C. A., **Science and Christian Belief,** Collins, London, 1958.

DANIELOU, **Jean, God and US,** A.R. Mowbray, London, 1957.

D.ARCY, Martin C., **No Absent God. The Relations between God and the Self,** Routledge & Kegan Paul, London, 1962.

DONCEEL, J. F., **Natural Theology,** Sheed & Ward, New York, 1962.

GARRIGOU-LAGRANGE, R., **God. His Existence and His Nature,** 2 vols., B. Herder Book Co., St. Louis, 1955.

HICK, John, **Philosophy of Religion,** Prentice Hall, Englewood Cliffs, 1963.

HOLLOWAY, Maurice R., **An Introduction to Natural Theology,** Appleton–Century–Crofts, New Y rk, 1959.

JOLIVET, Regis, **The God of Reason,** Faith & Fact Books. Burns & Oates, London, 1958.

KREYCHE, Robert J., **God and Contemporary Man. Reflecttions of a** Christian Philospher, The Bruce Publishing Company, Milwaukee, 1965.

LUBAC, Henri de, **The Discovery of God,** P.J. Kenedy, New York, 1960.

MARITAIN, Jacques, **Approaches to God,** George Allen & Unwin, London, 1955.

MASCALL, E. L., **He Who Is. A Study in Traditional Theism,** Longmans, Green & Co., London, 1943.

MASCALL, E. L., **Words and Images. A Study in Theological Discourse,** Darton, Longman & Todd, London, 1957.

MASCALL, E. L , **Existence and Analogy,** Darton, Longman & Todd, London, 1966.

MASCALL, E. L., **The Openness of Being,** Gifford Lectures 1970–71, Darton, Longman & Todd, London, 1971.

MATTHEWS, W. R., **God in Christian Thought and Experience,** Nisbet, London, 1944.

MURRAY, John Courtney, **The Problem of God Yesterday and Today**, Yale University Press, New Haven, 1964.

PEREIRA, Lancelot, (editor), **Origins. A Symposium on the Birth of the Universe, the Dawn of Life and the Appearance of Diverse Living Things.** Pontifical Athenaeum, Poona, 1964.

PETIT, Francois, **The Problem of Evil**, Burns & Oates, London, 1959.

RABUT, Olivier, **God in an Evolving Universe**, Herder & Herder, New York, 1966.

SHEEN, Fulton J., **God and Intelligence in Modern Philosophy**, Longmans, Green & Co., London, 1935.

ROBINSON, John A. T., **Honest to God**, SCM Press, London, 1963.

STEENBERGHEN, Fernand Van, **Hidden God. How do we know that God exists ?** B. Herder Book Co., St. Louis, 1966.

WEIGEL, G., & MADDEN, A. G., **Religion and the Knowledge of God**, Prentice-Hall, Englewood Cliffs, 1961.

8वां अध्याय : नीति-शास्त्र

BITTLE, Celestine N , **Man and Morals. Ethics.** The Bruce Publishing Company, Milwaukee, 1950.

BOURKE, Vernon J., **Ethics. A Textbook in Moral Philosophy**, The Macmillan Company, New York, 1953.

D'ARCY, Eric, **Conscience and its Right to Freedom**, Sheed & Ward, London, 1961.

FAGOTHEY, Austin, **Right and Reason, Ethics in Theory and Practice**, The C. V. Mosby Company, Saint Louis, 1976.

GILLEMAN, G., **The Primacy of Charity in Moral Theology**, The New man Press, Westminster, Maryland, 1959.

GILSON, E., **Moral Values and the Moral Life**, Herder, St. Louis, 1941.

GUITTON, J., **Human Love**, Franciscan Herald Press, Chicago, 1960.

HAERING, Berrard, **The Law of Christ**, 3 vols., Theological Publications in India, 1973.

HAWKINS, D. J. B., **Christian Morality**, Burns & Oates, London, 1963.

HAWKINS, D. J. B., **Man and Morals**, Sheed & Ward, London, 1960.

HIGGINS, Thomas J., **Man as Man. The Science and Art of Ethics**, The Bruce Publishing Company, Milwaukee, 1958.

HILDEBRAND, D. von, **Fundamental Moral Attitudes**, Longmans, New York, 1950.

HILDEBRAND, D. von, **Christian Ethics**, David McKay Company, New York, 1953.

LEHMANN, Paul L., **Ethics in a Christian Context**, SCM Press, London, 1963.

MACQUARRIE, J., (editor), **A Dictionary of Christian Ethics**, London, 1967.

MARITAIN, Jacques, **Moral Philosophy. An Historical and Critical Survey of the Great Systems**, Charles Scribner's Sons, New York, 1964.

MARITAIN, Jacques, **True Humanism**, Geoffrey Bles, London, 1938.

MARITAIN, Jacques, **The Rights of Man**, Geoffrey Bles, London, 1944.

MARITAIN, Jacques, **The Person and the Common Good**, University of Notre Dame Press, Notre Dame, 1966.

MARITAIN, Jacques, **Man and the State**, Hollis & Carter, London, 1954.

MARITAIN, Jacques, **Scholasticism and Politics**, Geoffrey Bles, London, 1954.

NABERT, Jean, **Elements for an Ethic**, Northwestern University Press, Evanston, 1969.

OUTKA, G. H., & RAMSEY, Paul, (editors), **Norm and Context in Christian Ethics**, ISCM Press, London, 1969.

RAMSEY, Ian T., (editor), **Christian Ethics and Contemporary Philosophy**, SCM Press, London, 1966.

REGAMEY, P., **Non-violence and the Christian Conscience,** Darton, Longman & Todd, London, 1966.

SIMON, Y. R., **Freedom of Choice**, Fordham University Press, 1969.

VICTOR, **A Textbook of Christian Sociology,** The Mercier Press, Cork, 1952.

WARD, Leo, **Christian Ethics An Introduction for College Students**, B. Herder Book Co., St. Louis, 1952.

WU, John C H., **Fountain of Justice. A Study in the Natural Law**, Sheed & Ward, London, 1955.

WUELLNER, Bernard, **A Christian Philosophy of Life**, The Bruce Publishing Company, Milwaukee, 1957.

9 वां अध्याय : धर्म-दर्शन

सिंह, जी० आर०, और डेविड, सी० डब्ल्यू, "विश्व के प्रमुख धर्म", मसीही आध्यात्मिक शिक्षा माला, बरेली, 1977.

ABBOTT, Walter M., (editor), **The Documents of Vatican II,** Geoffrey Chapman, London, 1966.

ALGERMISSEN, Konrad, **The Christian Sects**, Faith & Fact Books, London, 1962.

BAELZ, Peter R., **Christian Theology and Metaphysics,** Epworth Press, London, 1968.

BOUYER, Louis, **Dictionary of Theology**, Desclee Co., New York, 1965.

BROGLIE, Guy de, **Revelation and Reason**, Faith & Fact Books, Burns & Oates, London, 1965.

CAYRE, F., **The First Spiritual Writers**, Faith & Fact Books, Burns & Oates, London, 1959.

COGNET, Louis, **Post-Reformation Spirituality**, Faith & Fact Books, Burns & Oates, London, 1959.

DAUJAT, Jean, **prayer**, Faith & Fact Books, Burns & Oates, London, 1964.

FERRIER, Francis, **What is the Incarnation ?** Faith & Fact Books, Burns & Oates, London, 1962.

FLANNERY, Austin, (editor), **Vatican Council II. The Conciliar and Post-Conciliar Documents**, Dominican Publications, Dublin, 1975.

GARRIGOU-LAGRANGE, R., **The Three Ages of the Interior Life**, 2 vols., B. Herder Book Co., St. Louis, 1947-1948.

HARDON, John A., **The Catholic Catechism**, Doubleday, New York, 1975.

HOLLOWAY, Edward, **Catholicism : A New Synthesis**, Kaith Keyway Publications, Wallington, Surrey, 1976.

JOURNET, Charles, **What is Dogma ?** Faith & Fact Books, Burns & Oates, London, 1964.

MARECHAL, Joseph, **Studies in the Psychology of the Mystics**, Burns, Oates & Washbourne, London, 1927; Magi Books, New York, 1964.

MATHEW, P. John, a. o., **Christianity**, Punjabi University, Patiala, 1969.

PIAULT, Bernard, **What is the Trinity ?**, Faith & Fact Books, Burns & Oates, London, 1959.

POULAIN, A., **The Graces of Interior Prayer. A Treatise on Mystical Theology**, B. Herder Book Co , St. Louis, 1950.

RAHNER, Karl, (editor), **Sacramentum Mundi. An Encyclopedia of Theology**, 6 vols., Theological Publications in India, 1975.

SITWELL, Gerard, **Medieval Spiritual Writers**, Faith & Fact Books, Burns & Oatcs, London, 1961.

TANQUEREY, A., **The Spiritual Life. A Treatise on Ascetical and Mystical Theology**, Desclee, Paris, 1939.

ZAEHNER, R. C., **The Catholic Church and World Religions.** Faith & Fact Books, Burns & Oates, London, 1964.

A New Catechism, Catholic Faith for Adults, Herder and Herder, New York, 1967.

□ □ □

अनुक्रमणिका

●●●